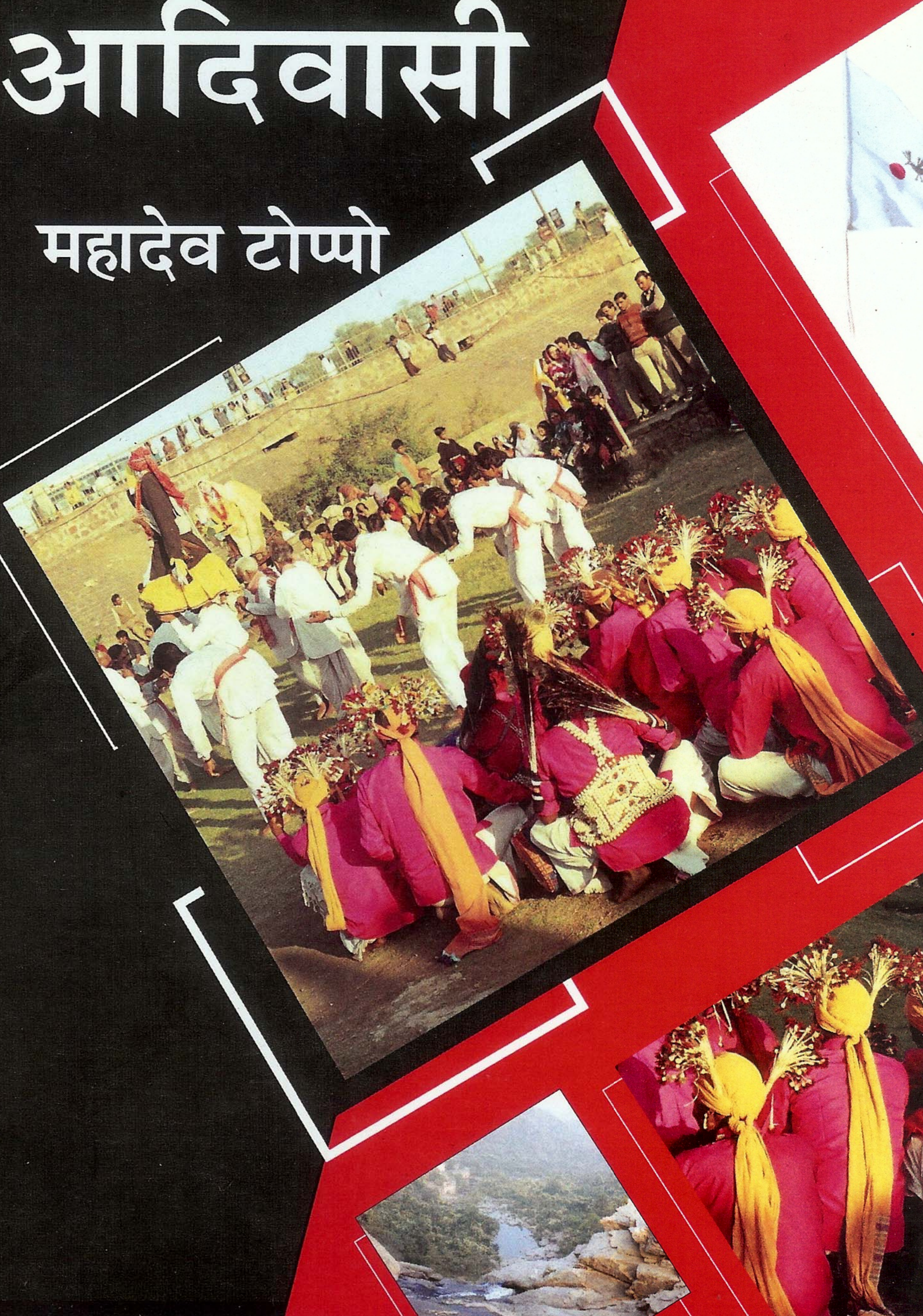
सभ्यों के बीच आदिवासी

महादेव टोप्पो



3

सभ्यों के बीच आदिवासी

महादेव टोप्पो

अनुज्ञा

अनुज्ञा

प्रथम संस्करण : 2018

ISBN 978-93-86810-31-1

प्रकाशक
अनुज्ञा बुक्स
1/10206, लेन नं 1, वेस्ट गोरख पार्क
शाहदरा, दिल्ली–110 032
फोन : 011–22825424, 09350809192
www.anuugyabooks.com
email: anuugyabooks@gmail.com

आवरण चित्र : आदिवासी मेला

फोटोग्राफर : बीजू टोप्पो

मूल्य : 250.00 रुपये

मुद्रक
अर्पित प्रिंटोग्राफर्स, दिल्ली–32

SABHYON KE BEECH AADIVASI
Collection of articles *authored by* Mahadev Toppo

5

पहली प्रति - लाली को

समर्पण

जल, जंगल, जमीन, जबान और जमीर बचाने
के लिए शहीद
दुनिया के सभी पुरखों को

आभार

उन सभी गुरूजनों, संपादकों, पत्रकारों, विद्वानों, आलोचकों, मित्रों,
सहकर्मियों, सम्बन्धियों, पाठकों, छात्रों, शोधार्थियों का आभार–
जिनके पत्र, फोन, ईमेल
और व्यक्तिगत मुलाकातों में– बातचीत से,
लिखते रहने का संबल, प्रोत्साहन और साहस मिला।

अनुक्रम

जन-सरोकार, सामाजिक, आर्थिक और इतिहास के मुद्दे

भाषा, साहित्य, संस्कृति

गीत संगीत

सिनेमा, कला

खेल

पत्रकारिता

आधुनिक तकनीक और समाज

कुछ संस्मरण

परिचर्चा

जन-सरोकार, सामाजिक, आर्थिक और इतिहास के मुद्दे

आम जीवन में रचा-बसा बाँस

ऐसा कहा जाता है कि नॉर्थ ईस्ट का हर आदमी कलाकार होता है और इसके लिए उसके हाथों में सिर्फ बाँस होना चाहिए। आप उसे बाँस दें और कुछ ही मिनटों में बाँस की कोई-न-कोई सुन्दर कलाकृति बना देगा। बाँस को लेकर नॉर्थ ईस्ट में कई लोकगीत गाये भी जाते हैं। बाँस के महत्त्व और उसके सौन्दर्य के बारे लोकगीतों में वर्णन भी है। नायिका की तुलना कई बार बाँस के लचीलेपन और उसकी टहनी के अन्तिम सिरे की कोमलता से की गयी है। बिहू नृत्य करते समय महिलाएँ 'गोगोना' नामक वाद्य यन्त्र गीत के सुर-ताल के आवश्यकतानुसार प्रयोग करती हैं। इसके प्रयोग के बिना बिहू नृत्य की सम्पूर्णताएँ पूरी नहीं होतीं। इसके अलावा भी बाँस के अनेक प्रयोग हैं। आसाम में जति बा (बाँस)– सूप, टोकरी आदि घरेलू सामान बनाने के लिए, भलूका बा (बाँस)– घर, पुल बनाने के काम, सब्जी-अचार बनाने के काम में आता है। कई बार बाँस के कोमल पौधे के गूदों को सुखाकर, काटकर रखा भी जाता है ताकि ऑफ सीजन के लिए इसका उपयोग किया जा सके। नॉर्थ ईस्ट के कई लघु उद्योग बाँस पर ही आधारित हैं। चाहे वह अचार बनाने के घरेलू उद्योग हों, खिलौने या फिर शो-पीस। गुवाहाटी, जोरहाट, शिलांग जैसे अनेक बड़े शहरों में फर्नीचर की दूकान हैं जहाँ मात्र बाँस से बने फर्नीचर ही उपलब्ध हैं। बाँस के सोफा सेट, कुर्सी, टेबल, डाइनिंग टेबल-कुर्सी, आराम कुर्सी, मूढ़े आदि कई डिजाइनों एवं आकारों में उपलब्ध हैं।

बाँस के जड़ों से बनायी गयी मानव चेहरे की कलाकृतियाँ आज पूरे भारत में लोकप्रिय हैं। लेकिन झारखंड, उड़ीसा के ग्रामीण इलाकों में हॉकी की लोकप्रियता में बाँस के योगदान को भूला नहीं जा सकता, जहाँ कई पुराने अन्तरराष्ट्रीय हॉकी खिलाड़ी बाँस के हॉकी-स्टिक एवं गेंद से खेलकर अपने खेल कौशल विकसित किया था।

ग्रेमी अवार्ड के लिए नामित नगालैंड के रॉक ग्रुप 'एबियोजेनेसिस' (Abiogenesis) ने बाँस के एक वाद्ययन्त्र 'बामहुम' का उपयोग किया जिसे अन्तरराष्ट्रीय ख्याति मिली। वहीं आसाम के नामपाड़ा रामदिया गाँव हाजो कामरूप के 'हिरण्य दास' ने 2006 में बाँस से निर्मित वाद्ययन्त्रों का उपयोग करने वाली 'आसाम बम्बू बैंड' का गठन किया। अब उनका समूह, नॉर्थ ईस्ट में अनेक शो करने के अलावा कई प्रतियोगिताओं में भाग ले चुका है, जहाँ उसके प्रयासों के लिए विशेष सराहना मिली है। वहीं त्रिचूर, केरल के उन्नीकृष्णन का ग्रुप 200 से अधिक प्रकार के वाद्य उपकरण बना चुका है। 64 लोगों का उनका यह समूह बाँस से बने वाद्य यन्त्रों का अपने शो में उपयोग करता है और भारत में डेढ़ घंटे के कार्यक्रम के लिए 50000 रु. से 1 लाख तक लेता है। लेकिन विदेशों में 5 लाख तक चार्ज करते हैं। अथिरापल्ली में उन्नीकृष्णन जी मानव संसाधन विकास कार्यक्रम के

अन्तर्गत बेरोजगारों को वाद्य उपकरण आदि बनाने की छह माह की ट्रेनिंग 40 लोगों के बैच को देते हैं, इसके अलावा वे 15 लोगों को वाद्य यन्त्र बजाने का प्रशिक्षण भी देते हैं।

आसाम जब बाढ़ से घिर जाता है तो हवा में लटकते बाँस निर्मित इकहरे लम्बे पुल ही काम में आते हैं। जहाँ सावधानी से चलकर कुछ किलोमीटर तक भी लोगों को जाते देखा गया है। अरुणाचल प्रदेश के सियांग घाटी में आदी आदिवासियों द्वारा बाँस एवं बेंत के सहारे हजार फुट का लम्बा पुल नदी पार करने के लिए बना लेते हैं। इस पुल बनाने की देशज–निर्माण–कला एवं तकनीक से 'संजय काक' इतने प्रभावित हुए कि इस पर उन्होंने एक फिल्म 'इन द फॉरेस्ट हैंग्स ए ब्रिज' ही बना डाली, जिसे राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त है। बाँस के पुल बनाने के तकनीक एवं ज्ञान की उपयोगिता को भविष्य के लिए सँजोकर रखने का यह बेहतर प्रयास है।

बाँस के नये कोमल पौधों के गूदे, नॉर्थ ईस्ट में और मध्य भारत के इलाकों में बड़े चाव से खाये जाते हैं। ऑफ–सीजन में उपयोग के लिए इसे सुखाकर भी रखा जाता है। झारखंड में करील, सँधना, हंडुआ इसके अन्य रूप हैं। उसके अलावा इसके अचार भी बड़े चाव से खाये जाते हैं और तो और अब इसके 'सूप' पाँच सितारा होटलों के अलावा अन्य बड़े होटलों में भी लोकप्रिय होने लगे हैं।

विश्व के सबसे बड़े नदी द्वीप माजुली, आसाम में, जहाँ एक लाख से अधिक लोग रहते हैं बाँस का कॉटेज है, जिसे एक विश्व प्रसिद्ध फ्रांसीसी बाँस–विशेषज्ञ ने बनाया और नाम दिया– 'मे पे ओकुम (शान्ति गृह)'। मिसिंग आदिवासी समुदाय अपने बाँस निर्मित घरों को जमीन से ऊपर बनाते हैं। वहीं कई समुदाय घर की दीवारों के लिए बाँस के लम्बी खपच्चियों से बनाये चटाईनुमा दीवारों का प्रयोग करती हैं। इसके अलावा घेरों के लिए भी इनका उपयोग किया जाता है।

महाराष्ट्र के गोल्ड मेडलिस्ट आर्कीटेक्ट वीनू काले आजीवन बाँस से गृह निर्माण पर कार्य करते रहे और उन्होंने इसके अनेक नमूने बनाये। आज धीरे–धीरे फैशन या नयी सोच के कारण बाँस द्वारा निर्मित कलापूर्ण घर के नमूनों को पर्यटन केन्द्रों एवं निजी निवासों में भी उपयोग किया जा रहा है जिससे बाँस निर्मित घरों की उपयोगिता बढ़ी है।

वैसे आज देश–भर में लगभग 3000 करोड़ रुपये से अधिक की अर्थव्यवस्था बाँस पर टिकी है। 'नेशनल मिशन ऑन बम्बू अप्लीकेशन' बाँस के उपयोग और इसकी विविध उपयोगिता को बढ़ाने में लगा है। नॉर्थ ईस्ट के अलावा अन्य स्थानों में बाँस के घर एवं फर्नीचर बनाने प्रशिक्षण केन्द्र, नागपुर, कोवंक, सिन्धु दुर्ग में हैं, वहीं बाँस से निर्मित विविध सामानों, कलाकृतियों आदि की बिक्री के लिए दिल्ली, अहमदाबाद, मुम्बई में विक्रय केन्द्र खोले गये हैं। भारत के लगभग समस्त राज्यों के ग्रामीण इलाकों से शहरी क्षेत्रों तक बाँस की उपयोगिता और उससे जुड़े उद्योग को बढ़ावा देने की अपार सम्भावना है। इसे काठ के विकल्प के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। छोटे उद्यमियों के अलावा, स्थानीय कारीगरों, कलाकारों, ग्रामीणों, युवाओं को प्रशिक्षण देकर पारम्परिक एवं

आधुनिक दोनों तरह के फर्नीचर, कलाकृतियाँ, वाद्य यन्त्र, घरेलू सामान आदि बाँस से तैयार किये जा सकते हैं। साथ ही रोजगार के नये अवसर तलाशे जा सकते हैं।

2012

आपका खाना-पीना सर्वोत्तम... बाकी का...?

मित्र से पूछा– कैसे हैं? तो दु:खी मन से उन्होंने कहा– 'का करें कुछो खाने को ठीक-ठाक मिल नहीं रहा है, बड़ा मुश्किल है।' उन्हें गुवाहाटी में गेहूँ, आटे की रोटी नहीं मिल रही थी इसलिए वे परेशान थे। क्योंकि नॉर्थ ईस्ट के अधिकांश शहरों में मैदे की रोटी ही मिलती है। इसी तरह एक बार कोलकाता में दक्षिण भारतीय मित्र से पूछा तो वे भी उचित भोजन नहीं मिलने से परेशान थे। वे सरसों तेल की गन्ध बर्दाश्त नहीं कर पा रहे थे। दूसरी तरफ यूपी के मित्र कोलकाता में, इलीस माछ के स्वाद का आनन्द नहीं ले सके, क्योंकि इलीस माछ के महीन काँटो से वे त्रस्त रहे। राउरकेला एवं भुवनेश्वर में राँची के कई छात्र, हॉस्टेल में रहते, दलमा के स्वाद को जान नहीं सके। जब तमिलनाडु, केरल गया तो वहाँ नारियल तेल से बने भोजन बच्चे खा सके और न मैं।

यानी हर समुदाय, भोजन एवं स्वाद के अलग परिवेश में रहती है। फलत: कई बार एक-दूसरे के भोजन व स्वाद से अपरिचित रहती हैं। वहीं पूरे देश में मसालों के उपयोग में भी विविधता है। विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय के उपन्यास 'पाथेर पांचाली' में खाने के बारे में तरह-तरह के रोचक वर्णन कई बार हैं। लेकिन इसके विपरीत कुछ दलित उपन्यासों में भोजन सम्बन्धी वर्णन ऐसे हैं कि रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ऐसा लगता है आदमी, 20-21 की उम्र तक जिस तरह के भोजन खास तरीके से खाता है, वही उसका स्वाद-संसार बन जाता है। इसके बाद दूसरे प्रकार के भोजन को मजबूरी में या कभी स्वाद बदलने के ख्याल से ही खाता है। दुनिया में भोजन के स्वाद एवं रुचि को लेकर अनेक विविधताएँ हैं। वैसे खाने के लिए लोग कोबरा से लेकर हाथी का मांस तक खा लेते हैं। लेकिन खाने के मामले में मनुष्य के संस्कार, रुचि, धर्म, स्वाद, रंग, गन्ध आड़े आते हैं। कई बार खाने, परोसने के तरीके की पसन्दगी या नापसन्दगी से भी भोजन का आनन्द ले पाने में अन्तर आता है।

समृद्ध-समुदाय अपने खाने-पीने के तरीके को महिमामंडित करता रहता है। फलत: कई बार कमजोर समाज, अपने भोजनादि को हीन-भावना से देखने लगता है और अपनी समृद्ध भोजन-परम्परा के तौर-तरीके भूल जाता है। शायद इसी को ध्यान में रखकर नॉर्थ-ईस्ट के विभिन्न शहरों में जब भी कोई मेला लगता है वहाँ मुख्य-धारा के लोकप्रिय व्यंजनों के स्टॉल के अलावा एक कोना एथनिक फूड (देशज व्यंजनों) के लिए सुरक्षित रहता है। कभी वहाँ असमिया पीठा, तो कभी बोडो, नगा, मिसिंग आदि समुदायों के व्यंजन या पेय मिलते हैं।

वैसे 'जायका' सीरियल के माध्यम से विनोद दुआ ने हफ्तों हमें भारत के कोने-कोने के विभिन्न व्यंजनों और उनके स्वाद को देश बताने एवं दिखाने का सराहनीय प्रयास किया था। वहीं पिछले वर्ष कांके, राँची में प्रभाकर तिर्की ने ट्राइबल फूड फेयर आयोजित कर देशज-भोजन एवं व्यंजनों के बारे नयी पीढ़ी के बीच जागरूकता लाने की कोशिश की थी, क्योंकि शहरी एवं नयी पीढ़ी पारम्परिक व्यंजनों को खाने-बनाने के तरीके भूल रही है।

देखा गया है कि दूसरे समुदाय के खान-पान कें बारे लोग ज्यादा जानकारी नहीं रखते और कई बार अनजाने में ऐसी टिप्पणी कर जाते हैं जिससे लोगों की भावनाएँ आहत होती हैं। जैसे कुछ वर्ष पहले तक ग्रामीण, आदिवासी बोतल में पानी भी ले जाता तो कहा जाता-- देखो, यह शराब ले जा रहा है। लेकिन ये इसके विपरीत दूसरा अनुभव। भुवनेश्वर-ओडिसा के आदिवासी मैदान में हर साल जनवरी में आयोजित आदिवासी मेले में आदिवासियों द्वारा बनायी कई वस्तुओं, खाद्य-पदार्थों के अलावा मड़ुवे का आटा खरीदकर ले जाते देखना अचम्भित करने वाला दृश्य है, क्योंकि इसे राँची के आस-पास आदिवासी या गरीब का मोटा भोजन माना जाता है। फलतः उड़ीसा के सम्भ्रांत लोगों को आदिवासियों द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार के वस्तुओं के साथ, मड़ुवे के आटे को उत्साह और सम्मान के साथ खरीदकर ले जाते देखना सुखदायक अनुभव था।

यह हमारा सौभाग्य है कि हम इस विविधता भरे देश में इतने व्यंजनों को देख और चख सकते हैं। हम जो कुछ खा रहे हैं वही अच्छा है बाकी बेकार, इस मानसिकता से उबरकर देखें तो भारत में विभिन्न प्रकार के भोजन का हम आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि दुनिया के किसी एक देश में भोजन की इतनी विविधता, इतने प्रकार के स्वाद नहीं हैं जितना भारत में। कोई भोजन आपको पसन्द न हो, भले उसे न खायें। लेकिन बिना जाने, देखे किसी समुदाय के खान-पान पर टीका-टिप्पणी से बचें, क्योंकि जाने अनजाने विपरीत टिप्पणियों से क्षेत्र या समुदाय विशेष के लोगों की भावनाएँ आहत होती हैं। हमने कई विदेशी खान-पान अपनाये हैं। लेकिन भारत के ही अलग समुदायों के विविधतापूर्ण भोजन को हेय एवं निम्नस्तरीय मानकर अपनी संकुचित प्रवृत्ति का भी परिचय देने का गुनाह करते रहते हैं। क्या हम इस आत्मकेन्द्रित मानसिकता से उबर स्वाद के अनजाने भारत को पहचान पायेंगे?

प्रभात खबर दिनांक 03.08.2012 में प्रकाशित

पीठ पर बच्चा बाँधने की कला

कभी राँची के लिए कहा जाता था– 'पीठ पर छौवा, माथ पर खाँची, जब देखो तो समझो राँची' लेकिन पिछले कई वर्षों से राँची से यह दृश्य गायब है। पीठ पर छौवा (बच्चा) कभी-कभी दिख भी जाते हैं लेकिन माथ पर खाँची अब ग्रामीण परिवेश के

लिए ही बचे रह गये हैं। पूर्वोत्तर में जो देख रहा हूँ उससे प्रफुल्लित हूँ लेकिन समस्या यह है कि जो बताना चाह रहा हूँ उसे बताने के लिए हिन्दी में सटीक शब्द नहीं पा रहा हूँ। विश्व-भर के आदिवासी समाज में बच्चों को पीठ पर बाँधकर अपने रोजमर्रा के कार्य निपटाने की समृद्ध परम्परा रही है, झारखंड में भी है। लेकिन आधुनिकता के प्रभाव से विशेषत: शहरों में यह परम्परा घटती-सी जा रही है।

लेकिन यहाँ हमेशा बच्चे को पीठ पर ही नहीं बाँधा जाता है। कार्य करने की सुविधानुसार सामने की ओर या कभी बगल में भी बाँधा जाता है या हाथ से पकड़ा जाता है। क्योंकि चादर से बच्चे को पीठ पर बाँधकर कार्य करने की समृद्ध एवं सुदृढ़ परम्परा कई आदिवासी समुदायों में रही है। यह परम्परा न केवल झारखंड और पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी समाज बल्कि अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा अमरीकी आदिवासियों के बीच भी प्रचलित है। कई समाज में आज भी छोटे बच्चियों की पीठ पर गुड़िया या पुतले आदि को गमछे या चादर से बाँधकर माँ की भूमिका निभाते या खेलते देखा जा सकता है।

नागपुरी आदि कुछ झारखंडी भाषाओं में इसके लिए 'बेतरा' एवं मुंडा में 'हतर' तथा 'कुद्' शब्द प्रचलित है। 'हतर' का अर्थ हुआ कपड़े या चादर से बच्चे को पीठ पर या सामने बाँधना जबकि 'कुद्' का अर्थ हुआ बच्चे को बिना कपड़े के पीठ पर लेना (बेतराना)। उराँव भाषा में छोटे बच्चे को गोद में लेने के लिए 'पाकना', 'हथलाअना' शब्द प्रचलित है तो 'हेअना' यानी पीठ पर बाँधना। बोड़ो भाषा में 'बनाई' मुंडा भाषा के 'हतर' का अर्थ लिये हुए है और 'बनाई', 'बेतराना' या 'हेअना' का। असमिया में इसे 'बुकुसा लुवा' कहते हैं। हो भाषा भाषियों में हालाँकि बच्चे को पीठ पर बाँधने की परम्परा कम है, लेकिन चाईबासा के आस-पास कभी-कभी यह दृश्य दिख जाता है और हो भाषा में बच्चे को पीठ पर बाँधने का क्रिया को 'कुंडरूंग' कहते हैं। पूर्वोत्तर की कुछ भाषाओं में प्रचलित शब्द इस प्रकार हैं– खासी भाषा में 'रह ख्यल्लुंग' एवं 'बह ख्यल्लुंग' मनिपुरी में 'गनंग पोम्बा' एवं 'पोबा' शब्द प्रचलित हैं तो नागालैंड में 'इसुमा' एवं 'ब्ववा'।

ऐसा लगता है पहली बार मनुष्य को बच्चे को पीठ पर ढोकर चलने की प्रेरणा उसे बन्दर प्रजाति के जानवरों को देखकर मिली होगी और फिर कपड़े आदि के आविष्कार के बाद वह बच्चे को पीठ पर या सीने की ओर बाँधने लगा। ऐसा बताया जाता है कि 'झाँसी की रानी' ने पीठ पर बच्चे को बाँध, घोड़े पर सवार होकर युद्ध भी किया था। प्रसिद्ध हिन्दी कथाकार 'संजीव' की कहानी 'आप यहाँ हैं' में वर्मा जी के बच्चे, घर में पीठ पर बच्चा बाँधकर काम पर करने आती दाई के बच्चे को देख 'कंगारू' कहते हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार विद्याभूषण एवं चर्चित युवा कथाकार रणेन्द्र ने आदिवासी परिवेश की कुछ कहानियों में 'बेतराना' शब्द का प्रयोग किया है।

राँची जैसे शहर में पढ़े-लिखे या नवधनाढ्य, मध्यवर्ग के आदिवासी समाज के बीच पीठ पर बच्चे बाँधने की कला लुप्त हो रही है। लेकिन नॉर्थ ईस्ट का उभरता

नवधनाढ्य वर्ग अपनी इस परम्परा को निभाने में अब भी गर्व अनुभव करता है। यही कारण है कि आप इटानगर, तुरा, कोकराझाड़, आईजॉल, कोहिमा, चेरापूँजी तथा अन्य पूर्वोत्तर के शहरों में कार से उतरती, चढ़ती ऐसी महिलाओं को देख सकते हैं जो पीठ पर या सामने गोद में बच्चे को चादर जैसे वस्त्रों से बाँधे हुई हैं। हाँ, शिलांग, गुवाहाटी, दिल्ली, मुम्बई, पुणे, बैंगलौर जैसे आधुनिकतापरस्त शहरों में यह दृश्य 'बेबी बैग' के माध्यम से देखा जा सकता है। और तो और अब कभी-कभी विदेशी सैलानी भी दिल्ली, मुम्बई, बैंगलोर, बनारस, आदि शहरों में अपने बच्चे को 'बेबी बैग' में बाँधे घूमते देखे गये हैं। पूर्वोत्तर का आदिवासी समाज अपनी कई परम्पराओं पर गर्व करता है इस समाज के मध्य वर्ग या नवधनाढ्य वर्ग को अपनी परम्पराओं को निभाने में संकोच, शर्म या हीनता नहीं है। जबकि वृहत्तर झारखंड के क्षेत्र में उभरे आदिवासी मध्य वर्ग या नवधनाढ्य वर्ग को अपनी कई अच्छी एवं समृद्ध परम्पराओं को निभाने में संकोच करते देखा गया है और बच्चे को पीठ पर बाँधने की कला भी उनमें में से एक है।

2012

सरवदा, खूंटी क्यों जाना है?

खूंटी और उसके आस पास का इलाके का सम्बन्ध तीन ऐसे महान लोगों से है जो न केवल झारखंड बल्कि देश, विदेश में भी जाने पहचाने एवं चर्चित नाम हैं। प्रसिद्ध समाज सेवी एवं भाषा विज्ञानी, नृविज्ञानी फादर बैपटिस्ट हॉफमैन, आदिवासी समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक गुरू एवं स्वतन्त्रता सेनानी बिरसा मुण्डा एवं प्रसिद्ध प्रशासनिक, इतिहासकार, मानव विज्ञानी डॉ. कुमार सुरेश सिंह। इन तीनों का कार्य क्षेत्र अलग रहा लेकिन तीनों के लक्ष्य एक थे– आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, भाषिक एवं आध्यात्मिक चेतना और व्यवस्था बचाना और उनके बारे सभ्य समाज को बताना।

आज से लगभग सवा सौ वर्ष पहले जब यूरोप से फादर बैपटिस्ट हॉफमेन सरवदा, खूंटी के इलाके में गये होंगे तो निश्चय ही वहाँ घने जंगल रहे होंगे। बैपटिस्ट हॉफमेन ने वहाँ के हालात देखे एवं मुण्डाओं द्वारा जमीन के हक के लिए सरदार-आन्दोलन, बिरसा आन्दोलन करते देखा और बिचौलियों द्वारा उन्हें जमीन से बेदखल होते, महाजनों, जमीन्दारों से शोषित होते देखा। यूरोप की औपनेवेशिक उत्पीड़न से जिस तरह अफ्रीका, अमेरीका के आदिवासियों, मूलनिवासियों का सफाया हो रहा था, उन्हें लगा कि मुण्डा जाति भी उनके दमन, अत्याचार के सामने टिक नहीं पायेगी। अत: उनकी भाषा, संस्कृति और उनकी परम्पराओं को बचाये रखने के लिए हॉफमैन ने अनुसंधान किया और उनके जीवन से जुड़े हर पहलू को लिपिबद्ध किया। उन्हें आर्थिक

शोषण से बचाने के लिए सहयोग समिति का भी गठन किया और जमीन पर आदिवासियों के हक के लिए 'छोटानानगपुर टेनेन्सी ऐक्ट' को बनाने में अहम भूमिका निभायी। मुण्डा समाज से सम्बन्धित हर प्रकार के तथ्य को एकत्रित किया। यह विशाल कोश आज 'मुण्डारिका इन्साइक्लोपेडिया' के नाम से विश्व प्रसिद्ध है और कई खंडों में भाषा विज्ञान, लोक जीवन, लोक कथा, इतिहास, परम्परा, रहन-सहन, सामाजिक व्यवस्था, पर्व त्यौहार, आदिवासी आध्यात्मिकता, कृषि, पेड़-पौधों, पशु पक्षी आदि के बारे भरपूर जानकारी देती है। 'डॉ. रामविलास शर्मा' ने भी 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' में 'बैपटिस्ट हॉफमैन' की विस्तार से चर्चा की है।

इसके समकालीन बिरसा मुण्डा की चर्चा के वगैर आज झारखंड की बात आगे नहीं बढ़ती। बिरसा ने अँग्रेजों एवं स्थानीय शोषकों दोनों का विरोध किया और मुण्डा अधिकारों के लिए संघर्ष की अगुवाई की। बिरसा मुण्डा के क्रान्तिगीत इतने प्रभावकारी थे कि एक रात खूंटी के तत्कालीन अनुमंडल पदाधिकारी, कुमार सुरेश सिंह, बीरबांकी में 30 दिसंबर 1960 को गीत सुनकर बिरसा मुण्डा पर शोध कार्य करने के लिए प्रेरित हुए। उन्होंने बिरसा मुण्डा पर गहन शोध कार्य किया। उनकी पुस्तक कोलकाता के प्रकाशक द्वारा 1966 में प्रकाशित हुई और बुद्धिजीवियों के बीच चर्चा का विषय बन गई। आदिवासी, गैर-आदिवासी 'बिरसा मुण्डा' के संघर्ष गाथा से प्रभावित हुए बिना न रहे सके। बंगला की प्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी ने तो इसे आधार बनाकर 'अरण्येर आधिकार' के नाम से उपन्यास ही लिख डाला। जिसे 1979 में साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला और तब बिरसा मुण्डा भारत के समस्त आदिवासी समुदायों के बीच गौरव के प्रतीक बन गए। डॉ. कुमार सुरेश सिंह ने बाद में नृविज्ञान, इतिहास पर बहुत सारी किताबें लिखी और कई किताबें सम्पादित की। भारतीय समुदायों पर उनके निर्देशन में किया गया कार्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है।

उक्त तीनों के बारे में जाने वगैर झारखंड या आदिवासी समाज को समझा नहीं जा सकता है। आज जब झारखंड राज्य का गठन हो चुका है उक्त तीनों के कार्यों, उपलब्धियों के पुनर्व्याख्या की आवश्यकता अनुभव की जाती है। झारखंड को समझने के लिए उत्सुक किसी भी व्यक्ति के लिए सबसे पहले इन तीनों के कार्यों को जानना महत्वपूर्ण है। जहाँ यह इलाका बिरसा मुण्डा का पवित्र क्रान्तिस्थल है तो दूसरी ओर बैपटिस्ट हॉफमैन की गहन अध्ययनशीलता का ज्ञान-केन्द्र है साथ ही तीसरी ओर एक ऐसे आई.ए.एस. का प्रेरक कार्यक्षेत्र है जो प्रशासनिक दक्षता का उपयोग गरीब, शोषित, उपेक्षित, वंचित जनों के हित रक्षा के लिए समर्पित कर, लोगों का प्रेरणा स्रोत बन जाता है और आई.ए.एस. अधिकारियों के उस शपथ को पूरा करता दिखता है, जो वे नौकरी करने के आरंभ में लेते है।

जब 2005 के अप्रैल महीने में रांची में आयोजित साहित्य अकादमी के कार्यक्रम में भाग लेने 'हरिराम मीणा' जो आईपीएस हैं और मराठी लेखक 'लक्ष्मण गायकवाड़'

जो किसी भी भारतीय भाषा में साहित्य आकादमी का पुरस्कार पानेवाले सबसे कमउम्र लेखक हैं, साथ थे। 'रविभूषण जी' उन्हें कहीं घूमाना चाह रहे थे। हमने कहा– 'सरवदा चलें'। मीणा जी ने पूछा– सरवदा क्यों जाना है? मुझे उक्त सारी बातें बतानी पड़ी और जब वे पंचघाघ के बाद सरवदा गये तो आस पास के इलाके को देखते रहे। लक्ष्मण गायकवाड़ सरवदा स्थित चर्च से काफी दूर जाकर पहाड़ियों को निहारते रहे। शायद उनका लेखक मन वहाँ कुछ लिखने का प्लॉट ढूँढ़ रहा था। 'सरवदा'– बिरसा की क्रान्ति भूमि, हॉफमैन की ज्ञान भूमि और कुमार सुरेश जैसे आई.ए.एस. विद्वान की प्रेरक कर्मभूमि जो ठहरी।

सन् 2012

आदिवासियों को चाहिए, अपने लेखकों की भी किताबें

कहा जाता है कि किताबें ज्ञान की खान होतीं हैं। यह भी कहा जाता है कि जिस समुदाय के लोग जितनी किताबें पढ़ते हैं लिखते हैं वे उतने ही सामाजिक, राजनातिक, सांस्कृतिक, मानसिक रूप से जागरुक एवं मजबूत होने के साथ साथ आत्मविश्वास से लबरेज होते हैं। भारत में तमिलों, बंगालियों, मराठियों, गुजरातियों का उदाहरण देखा जा सकता है। इसके मुकाबले मध्य भारत के लोग और विशेषतः आदिवासी, अक्षर–ज्ञान के मामले में काफी पिछड़े हैं। फलतः आधुनिक कहे जानेवाले दुनिया में वे शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय, राजनीति, तकनीकी ज्ञान आदि के मामले में पिछड़ते हुए दिखते हैं। जबकि पूर्वोत्तर राज्यों के आदिवासी–राजनीति, साहित्य, संस्कृति, कला, खेल, शिक्षा, प्रशासन, तकनीकी ज्ञान के मामले में तुलनात्मक रूप से मध्य भारत के आदिवासियों से ज्यादा सचेत, जागरूक, जुझारू और ज्ञानार्जन के मामले में आगे बढ़े हुए नजर आते हैं। इसलिए कि कई किताबों ने इन लोगों को कहीं–न–नहीं किसी न किसी रूप में मानसिक रूप से ज्यादा दृढ़ और सक्षम बनाया है।

इसका एक कारण स्पष्ट है कि पूर्वोत्तर राज्यों में पाँच से दस–बीस लाख तक की आबादी वाली भाषाओं के अखबार और किताबें लगातार प्रकाशित की जाती हैं। देखकर आश्चर्य होता है कि डीफू, कार्बी भाषी एक छोटे शहर से तीन चार अखबार कार्बी भाषा में प्रकाशित होते हैं। कोहिमा से कई नगा भाषाओं में छोटे–छोटे अखबार प्रकाशित होते हैं। शिलांग जैसे पहाड़ी शहर से खासी भाषा में चार दैनिक प्रकाशित होते हैं जिसमें से एक अखबार के नियमित प्रकाशन के पचास वर्ष पूरे हो चुके हैं। निश्चय ही इनके मुकाबले शेष भारत के आदिवासी कहीं नहीं ठहरते। रांची, जमशेदपुर, धनबाद, राउरकेला, रायगढ़, अंबिकापुर, जगदलपुर जैसे शहरों के आस पास जहाँ कुछ ज्यादा साक्षर आदिवासी हैं वहाँ किसी आदिवासी भाषा में दैनिक की बात छोड़ दीजिए साप्ताहिक तक प्रकाशित नहीं होते। हाँ, संथाली में कुछ साप्ताहिक पत्रिकाएँ जरूर

प्रकाशित हो रहीं हैं जैसे 'होड़ संवाद' और 'देबोन टिंगुन' आदि। संताली में कुछ रंगीन पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं। रांची से एक बहुभाषी दैनिक प्रकाशित होने की सूचना है। इसके अलावा 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' द्वारा एक बहुभाषी पाक्षिक 'जोहार दिशुम खबर' प्रकाशित किया जा रहा है। हो, कुर्माली, कुड़ुख, खड़िया एवं मुंडारी, पंचपरगनिया, कुर्माली, खोरठा आदि भाषाओं में कुछ मासिक एवं त्रैमासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रहीं हैं। इन भाषाओं में कुछ परीक्षोपयोगी और प्रतियोगिता सम्बन्धी कुछ किताबें भी प्रकाशित हो रहीं हैं। लेकिन, रचनात्मक स्तर पर संताली के सिवा अन्य भाषाओं में वांछित रूप से प्रकाशित पुस्तकों की संख्या कम है, जोकि साक्षर व शिक्षित आदिवासी समाज के समक्ष एक बड़ा प्रश्नचिह्न है। अतः, आदिवासी समाज का सांस्कृतिक अस्तित्व कई बार कमजोर नजर आने लगता है, जो उन्हें कई बार ज्यादा ही दिग्भ्रमित, कुंठित एवं आत्मघाती बना देता है।

अपनी भाषाई क्षेत्र की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, भाषिक, भौगोलिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, जीवन-दर्शन के साथ आत्मसम्मान को जगाये एवं बनाये रखने का काम मातृभाषा में प्रकाशित पुस्तकों से बेहतर और कोई नहीं कर सकता। लेकिन अँग्रेजी एवं अन्य भारतीय भाषाओं की गिरफ्त में आ जाने के कारण उनका सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संकट के अलावा राजनीतिक संकट कुछ हद तक बढ़े हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि आदिवासी समाज के निरन्तर पतन की राह पर अग्रसर होने का एक बड़ा कारण उनकी भाषाओं में किसी प्रकार के आत्मचिन्तन, आत्मविश्लेषणपरक पुस्तकों का अभाव है। हालाँकि हिन्दी एवं अँग्रेजी में आदिवासियों के इतिहास, राजनीति, भाषा, साहित्य, रीति-रिवाजों से सम्बन्धित कई कई किताबें वाणी, राजकमल, पेंग्विन, ऑक्सफोर्ड, सेज, ज्ञानपीठ, विकल्प के साथ-साथ रांची के झारखंड झरोखा, झारखंडी भाषा संस्कृति अखड़ा के अलावा अनेक छोटे बड़े प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित की गयीं है। अब इनकी संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है, यह अच्छा संकेत है।

जब तक पारम्परिक आदिवासी सामाजिक व्यवस्था कायम थी, सामाजिक सांस्कतिक बिखराव के संकट कम थे। क्योंकि तब लोग धुमकुड़िया, अखड़ा में मिल बैठकर विविध मुद्दों पर चर्चा करते और आपसी सहयोग से उनके निदान का प्रयास भी करते थे। आजादी के बाद यह पारम्परिक व्यवस्थाएँ लगातार टूटती रही, जिसका सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव शहरी आदिवासी युवाओं पर पड़ा है। क्योंकि शहर में वह अपनी भाषाई एवं सामाजिक परम्परा से कटने के साथ अपनी भाषिक, सांस्कृतिक जड़ों से भी दूर होता जा रहा है। ऐसी दुरुह स्थिति में उन्हें राह दिखाने का काम, एक सांस्कृतिक नेतृत्व कर सकता था, वह प्रभावी ढंग से हो नहीं पा रहा है। हालाँकि इस दिशा में कुछ प्रयास सरकार के सहयोग से किये भी जा रहे हैं। ऐसे में आदिवासी बुद्धिजीवियों, शिक्षकों, सामाजिक-कार्यकर्ताओं, संस्कृतिकर्मियों, लेखकों एवं विद्वानों के लिए यह एक बड़ी चुनौती है कि वे कैसे प्रभावी काम कर दिखाएँ। यह बात पहले भी कई बार दुहरायी जा

चुकी है कि अधिकांश सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं ने सबसे पहले आदिवासियों की भाषाई चेतना को मारा है और उनके आत्मविश्वास एवं आत्मसम्मान को सुनियोजित ढंग से आघात पहुँचाया है। क्योंकि जब कोई समुदाय अपनी भाषा की जड़ों से कटते हैं तो उनकी सामाजिक, आध्यात्मिक, आर्थिक गतिविधियों की सोच एवं मूल्य लगातार टूटते जाते हैं। झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा व बंगाल में यह काम बहुत ही सुनियोजित ढंग से किया गया है और आदिवासियों को अपने मूल भाषाई, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक चेतना को पिछड़ा तथा आधुनिक युग के लिए अप्रासंगिक बताकर उनकी चेतना को मारने के लिए हर प्रकार के बौद्धिक कुप्रयास के अलावा साजिशें भी रची जा रहीं हैं। विभिन्न कुप्रयासों के कारण उनका आत्मविश्वास भी लगातार घटता जाता है और अन्ततः वे स्वयं को एक असहाय स्थिति में पा रहे हैं। जो उनके हर अवनति एवं पतन का कारण बनते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में आदिवासी इलाकों में वर्चस्ववादियों, विस्तारवादियों एवं धरती की सम्पदा के लुटेरों को यह स्थिति अपने स्वार्थसिद्धि के लिए मुफीद हो जाती हैं और वे आसानी से आदिवासियों की हर सम्पदा के मालिक बनते चले गए हैं। आदिवासी तब इन अति महत्वाकांक्षी सेवा संस्थानों एवं प्रसिद्धि के लिए भूखे समाजसेवियों के लिए उपयुक्त चारागाह एवं उनके कैरियर के लिए, सीढ़ी भी बन जाते हैं। निश्चय ही यहाँ पर आदिवासी समाज, एकजुट प्रतिरोध कर पाने में स्वयं को कमजोर पाता है क्योंकि वे अपनी हित रक्षा के लिए वैचारिक सामंजस्य स्थापित कर नहीं पाते हैं।

ऐसी स्थिति में साक्षरता एवं किताबें आदिवासियों के अस्तित्व रक्षा के लिए एक कारगर उपकरण हो सकते हैं। संकटग्रस्त एवं दुविधाग्रस्त आदिवासी समाज को उपयुक्त किताबें सही मार्गदर्शन दे सकतीं है बशर्ते ये किताबें आत्ममंथन करने के लिए लोगों को प्रेरित कर सके। वे मुद्दों, समस्याओं पर चर्चा कर सकते हैं। किताबें उनकी स्थिति से परिचित कराकर उनके भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं। क्योंकि कहा जाता है साहित्य समाज का दर्पण है। अतः साहित्य में समाज की अच्छी, बुरी छवि को देखकर वे खुद को, समाज को बेहतर बनाने के लिए सार्थक सोच के साथ, सही कदम उठा सकते हैं। ऐसा सम्भव इसलिए है कि जब वे विभिन्न पुस्तकों के माध्यम से अपनी सामाजिक राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, मानसिक शक्तियों एवं कमजोरियों को जानेंगे तो निश्चय ही वे कहीं-न-कहीं स्वयं को सुधारेंगे और मजबूत करेंगे।

वर्तमान में विभिन्न वर्चस्ववादी, सामंतवादी, साम्राज्यवादी, तानाशाही, पूँजीवादी, मुनाफाखोर तथा उपभोक्तावादी-आत्मकेन्द्रित संस्कृति ने आदिवासी समाज को इतनी बुरी तरह ग्रस लिया है कि वे लगातार बिखरते और कमजोर होते जा रहे हैं। साथ ही अन्य समाज की बुराइयों को अपना रहे हैं। फलस्वरूप उनकी एकता की मजबूत कड़ी लगातार कमजोर होती जा रही है। उनसे बचने के कई रास्तों में से एक रास्ता यह भी है कि वे तमाम भेदभावों, मतभेदों को भुलाकर मातृभाषा में अधिक-से-अधिक किताबें लिखें और इस दिशा में गम्भीरतापूर्वक कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करें। तभी

आदिवासी अपनी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, मानसिक, भाषिक उपस्थिति को देश और समाज के बीच दर्ज कर सकते हैं। प्रतिरोध की बात करते, उन्हें चेतना सम्पन्न बनाने के प्रयास में हमारे कई विद्वान, लेखक या साहित्यकार इस बिन्दु की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं कर पा रहे हैं। अच्छी किताबें तथाकथित आधुनिकता, परम्पराओं के प्रति द्वन्द्व, आतंकवाद और नक्सलवाद के गिरफ्त में फँसे या अन्य दिग्भ्रमित आदिवासी युवाओं को राह दिखाने में भी सक्षम हो सकती हैं। अतः युवाओं के लिए ऐसी किताबों की सामाजिक जरूरत से इनकार नहीं किया जा सकता। आदिवासी बुद्धिजीवियों द्वारा किया गया प्रयास अभी कम दिखता है। लेकिन, हजारों वर्षों से विपरीत परिस्थितियों को झेलकर, नई समस्याओं को समझकर, अपने अस्तित्व के लिए निरन्तर संघर्ष करता आदिवासी समाज यहाँ भी नया कुछ कर दिखायेगा, इसका विश्वास है। ऐसा आत्मविश्वास इसलिए दिखता है क्योंकि युवा आदिवासी पीढ़ी इंटरनेट, सोशल मीडिया, सिनेमा जैसे आधुनिक तकनीकों को अपनाकर किताबों की कमी की क्षतिपूर्ति कर रही है। आदिवासी जैसे ही पुस्तकों की या इनके विकल्पों के सामाजिक महत्व को समझेगा वह हर विषय पर बेहतर किताबें इसलिए लिख सकेगा क्योंकि जल, जंगल, जमीन एवं जमीर से जुड़ी उनकी सजगता, जिजीविषा और पुरखों की संघर्षशीलता, उन्हें बहुत कुछ नया लिखने के लिए उसे प्रेरित करती रहती है, जोकि दुनिया को बचाने के लिए आज ज्यादा प्रासंगिक हो गई है।

सबलोग के अप्रैल 2016 अंक में प्रकाशित

कुचले जाते आत्मसम्मान के विरुद्ध

कोई सभ्य, विकसित या प्रभु (डोमिनेंट) जाति अपने से कमज़ोर जाति का किस तरह नाश करती है, इसका उदाहरण न केवल पश्चिमी देशों में बल्कि भारत में भी मिलता है। विकसित प्रभुजाति ऐसा वातावरण तैयार करती है कि बदलती परिस्थितियों में उस कमज़ोर जाति के लोग ऐसी हीन-ग्रन्थि से ग्रसित हो जाते हैं कि वे अपनी भाषा, संस्कृति, परम्परा, रीति-रिवाज, जीने के ढंग, अपने इतिहास आदि को हीनभाव से देखने लगते हैं। फलतः उनका आत्मविश्वास, आत्मगौरव या स्वाभिमान टूटता जाता है और तब वे एक ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं, जहाँ वे यह मान लेते हैं कि वे वाकई पिछड़े, कमज़ोर और बुद्धिहीन हैं। तब वे प्रभु-वर्ग के लोगों से मिलकर अपने ही भाई-बन्धुओं के पतन की दलाली आरम्भ कर देते हैं। आज हमारा आदिवासी समाज पतन की इसी स्थिति में है क्योंकि हमारे स्वाभिमान को कानून, इतिहास, धर्म, साहित्य, कला, राजनीति आदि के विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक प्रभावों द्वारा इतनी बार कुचला और रौंदा गया है कि हम अपनी उपस्थिति या अस्तित्व के मूल स्रोत को ही भूल बैठे हैं। हमें कैसे कुचला जा रहा है, इसके दुष्परिणाम क्या हो सकते हैं या हो रहे हैं इस पर

विस्तृत चर्चा आवश्यक है। हमने जो अनुभव किया एवं देखा है वह मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। अगर अब तक आप इन पंक्तियों को पढ़ रहे हैं तो निश्चय ही आप में एक आग ज़रूर है,जो अपने समाज को बचाने के लिए जल रही है। लेकिन आगे कुछ कहने से पूर्व स्पष्ट कर दें कि मैं कोई विद्वान या किसी विषय का विशेषज्ञ नहीं हूँ। हाँ, इतना ज़रूर है कि जब कभी कुछ मुद्दों ने परेशान किया तो कलम का सहारा ज़रूर लिया और कुछ कहने की कोशिश की। आज भी कुछ कहना चाहता हूँ। वह इसलिए कि आज हममें से अनेक लोगों को इसका हल्का-सा एहसास तक नहीं कि हमें किस तरह नष्ट किया जा रहा है। यहाँ आदिवासियों की भौतिक उपस्थिति को नष्ट किये जाने वाले विकास कार्यक्रमों की चर्चा नहीं करूँगा बल्कि उन मुद्दों को उठाने का प्रयास करूँगा जिनके कारण हम स्वयं को अपमानित, प्रताड़ित, उपेक्षित और बेसहारा समझने को विवश किये गये हैं।

सर्वप्रथम भाषा के प्रश्न को लेते हैं। भाषा को भावनाओं और विचारों का वाहक माना जाता है। हम भावनाओं और विचारों को दो तरह से प्रकट करते हैं--बोलकर और लिखकर। बोलना और लिखना दो ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनसे हम भाषा का विकास करते हैं। नयी जगहों के मुताबिक नये शब्द ग्रहण करते हैं और शब्दों की आवश्यकता न होने से उन्हें भूल जाते हैं। किसी भी भाषा की सर्वोत्कृष्ट कृति साहित्य को माना जाता है यानी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि, क्योंकि ये साहित्य की ऐसी विधाएँ हैं जिनमें संसार के हर विषय समा जाते हैं। जो मनुष्य की उपस्थिति, उसके दु:ख-दर्द, उसके संघर्ष, जय-पराजय को रेखांकित करते हैं। इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, क्योंकि उसमें हमारे जीवन का स्पन्दन मौजूद रहता है। आदिवासी-साहित्य का अमूल्य भंडार इन भाषाओं के लोकगीतों में है, जिनमें हमारी संघर्ष-गाथा, इतिहास, विचार, भावना आदि सुरक्षित हैं। हर समाज अपने साहित्य का विकास अपने ढंग से करता है। चूँकि हमारी कोई लिपि नहीं रही इसलिए हमारा साहित्य लोकगीतों और लोक-कथाओं में सीमित रहा। मिशनरियों के आगमन से इसमें विकास हुआ। हमारी भाषाओं की पढ़ाई होती है। हमारे क्षेत्र में जब भी कोई योजना लागू होती है तो कहा जाता है कि इस क्षेत्र का इससे विकास होगा। रेडियो या दूरदर्शन के केन्द्र जब-जब खुले, कहा यही गया कि इससे हमारी भाषा-संस्कृति के उत्थान में मदद मिलेगी। लेकिन पाँच मिनट की सरकारी वार्ता एवं कुछ लोकगीतों के प्रसारण से हमारी भाषा का कितना भला हुआ, यह अलग शोध का विषय है। इन संस्थाओं में हमारे भाषायी विकास के कार्यक्रम मुख्यत: सरकारी प्रशस्ति से जुड़े रहे। इससे हमारे साहित्य के विकास में बहुत ज्यादा योगदान नहीं मिला। इसके विपरीत स्वयं हममें इतनी आर्थिक क्षमता नहीं थी कि हम अपनी किताबें छापते। फलत: भाषा और साहित्य का विकास अवरुद्ध रहा, जो अब भी है। दूसरे शब्दों में, हम अपनी भावनाओं और विचारों को धारदार और चमकदार बनाने के काम में बिल्कुल पिछड़े रहे। फलत: हमारी चेतना भी तेजी से विकसित नहीं हो पायी। इसके लिए हमने जिस भाषा का प्रयोग किया, वह

रही–हिन्दी–अँग्रेज़ी या इसी तरह की कोई अन्य विकसित भारतीय भाषा। लेकिन दु:ख तो इसका है कि हम इन भाषाओं में भी साहित्य–सृजन नहीं कर सके और न ही कर पा रहे हैं। फलत: हमारे समाज की सोच, हमारी भावना, हमारे अन्तर्द्वन्द्व, हमारे संघर्ष शब्दबद्ध नहीं हो रहे हैं। इस कारण लोग यही मान रहे हैं कि हममें इतनी क्षमता नहीं कि हम अपने विचारों या भावनाओं को प्रकट कर सकें। हम एकेडेमिक किस्म का लेखन तो कर रहे हैं लेकिन अपनी ज़मीन से जुड़कर वैचारिक लेखन नहीं, भावनाओं और विचारों से ओतप्रोत ऐसा लेखन, जिसे पढ़कर हमारे मन और हृदय के तार झनझना उठें। जहाँ हम अपने जीवन की झाँकी देख सकें, जीवन का उतार–चढ़ाव अनुभव कर सकें, अपनी तस्वीर देख सकें। ऐसी रचनाएँ हैं लेकिन वे लोकगीतों में ही हैं। किन्तु हमें लोकगीतों की सीमा से हटकर साहित्य की अन्य विधाओं को भी अपनाना इसलिए ज़रूरी है ताकि हम अपनी भाषा, संस्कृति, इतिास, परम्परा, संघर्ष–गाथा आदि को जीवित रख सकें। कहा जाता है कि कोई भी जाति भाषा के बगैर गूँगी और साहित्य के बगैर मस्तिष्कहीन होती है। हमारी भाषा और साहित्य के विकास में रोज बाधाएँ खड़ी होती हैं तो क्या हम इन कुचक्रों में फँसकर गूँगे और मस्तिष्कहीन हो जायें?

दरअसल आप कुछ कहने की स्थिति में हैं नहीं।

क्यों? क्योंकि पूरे भारतवर्ष में 24 ऐसी भाषाएँ हैं, जिनको बोलने वाले दस लाख से अधिक लोग हैं। अस्सी ऐसी भाषाएँ हैं, जिनके बोलने वाले दस हजार से अधिक हैं। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार कश्मीरी और सिन्धी बोलने वालों की संख्या क्रमश: बत्तीस लाख और बीस लाख है। इन दोनों भाषाओं को राष्ट्रीय भाषा का दर्ज़ा प्राप्त है लेकिन भीली एवं सन्ताली भाषा जिनके बोलने वाले क्रमश: पैंतालीस लाख और बयालीस लाख हैं, को वह राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त नहीं, क्योंकि इसका साहित्य विकसित नहीं हैं। (अब सन्ताली भाषा को 8वीं अनुसूची में ले लिया गया है।) इस तरह की नीतियों के कुछ उदाहरण और हैं, जैसे कोंकणी भाषा सोलह लाख लोगों द्वारा बोली जाती है। मणिपुरी नौ लाख लोगों द्वारा और डोगरी पाँच लाख लोगों द्वारा बोली जाती है। इन भाषाओं का सम्बद्ध राज्यों में सरकारी कामकाज हेतु मान्यता प्राप्त है, जबकि उनसे अधिक आबादी और बोलने वाली भाषा– सन्ताली (बयालीस लाख), उराँव (तेरह लाख), तुलु (चौदह लाख) को राज्य–स्तर पर भी मान्यता नहीं है। यह सब क्यों? सिर्फ़ इसलिए कि हम–आप जैसे पढ़े–लिखे लोगों ने इस पर कभी सोचा ही नहीं। हमने कुछ लिखा नहीं और लिखा तो आस–पास की और दूसरी भाषाओं से कुछ सीखने की कोशिश ही नहीं की। परिणामस्वरूप, विकसित भाषाओं के थोपे जाने से हम किस तरह पतन की राह पर अग्रसर हो रहे हैं, इस पर विचार करें।

बिहार बंगाल और मध्यप्रदेश का उदाहरण लें। इन तीनों राज्यों में हमारे लाखों आदिवासी भाई हैं, जो सन्ताली, मुंडा, उराँव, खड़िया आदि भाषाएँ बोलते हैं। इन भाषाओं की उच्चारण पद्धति राज्यों में प्रचलित शिक्षा माध्यम की भाषा–हिन्दी, बंगला या अँग्रेजी से बिल्कुल भिन्न है। देहातों में हमारे बच्चों की हिन्दी या बँगला माध्यम से

पढ़ाया जा रहा है। भाषायी भिन्नता के कारण पहले तो हमारे बच्चों को इन भाषाओं के उच्चारण तथा व्याकरण को ही समझने में कई वर्ष लग जाते हैं। वर्षों बाद जब वह खुद अपनी मातृभाषा और हिन्दी या बँगला में कुछ सामंजस्य स्थापित कर पाते हैं, तभी वे कुछ समझने लायक होते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया से तालमेल बिठाने और सन्तुलन कायम करने में उनके कई वर्ष खप जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें अधिक मानसिक श्रम करना पड़ता है और कक्षाओं में सही न बोलने, सही न लिखने के कारण अपमानित होना पड़ता है, वह अलग।

हिन्दी, बँगला या अँग्रेज़ी पढ़ाकर उन्हें एक भिन्न परिवेश की दुनिया से परिचित कराया जाता है। फलतः इस परिवेश को, जिसे बच्चों ने न देखा है, न अनुभव किया है, समझने में भारी कठिनाई होती है। यही कारण है कि उनका मानसिक विकास धीमी गति से होता है और इस प्रक्रिया को सभ्य समाज के विद्वान–आदिवासियों को मन्दबुद्धि कहकर–मजाक उड़ाते हैं। अगर एक आदिवासी को कम–से–कम आठवीं कक्षा तक हिन्दी या बँगला के साथ–साथ उसकी मातृभाषा में भी शिक्षा दी जाये तो उनके बच्चे हीनता की ग्रन्थि से तो उबरेंगे ही, साथ ही वे तथ्यों को सरलता एवं तेजी से ग्रहण करेंगे, क्योंकि तब तक वे अपनी भाषाओं के माध्यम से तथ्यों को शीघ्रता से ग्रहण करने की क्षमता और योग्यता प्राप्त कर चुके होंगे। वे मुख्यधारा की भाषा से जुड़ाव का भी अनुभव करेंगे। अब तक तो यही होता है कि अगर हमारा आदिवासी बच्चा देहात के स्कूलों में अपनी मातृभाषा के उच्चारण की आदत के कारण हिन्दी या बँगला शब्दों का उच्चारण नहीं कर पाता है, तो वह शिक्षक के कोपभाजन का शिकार बनता है। आप जानते ही हैं कि हमारी कुछ भाषाओं में 'क' और 'ख' का ठीक प्रकार से उच्चारण नहीं किया जाता जैसा कि हिन्दी या बँगला में किया जाता है। इसी प्रकार हमारी भाषाओं में 'अ' और 'आ' को और एक–दो प्रकार से उच्चरित किया जाता है। शब्दों का उच्चारण नहीं कर पाने पर बच्चों को शिक्षक से झिड़की सुननी पड़ती है कि "जब एक अक्षर का सही उच्चारण नहीं कर पाओगे तो आगे क्या पढ़ोगे?" या "तुम गधे लोग, कोल के कोल ही रहोगे।" शायद इसी कारण एक लोकोक्ति भी सभ्य कहे जाने वालों ने हमारे बारे में विकसित कर ली है– "ओल सीझे, न कोल बूझे।" निश्चय ही ऐसी विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हमारे बच्चों का आत्मसम्मान चूर–चूर होता रहता है। इस प्रकार वे पढ़ाई में उपेक्षा का अनुभव करते हैं और अपने आदिवासी होने को कोसते रहते हैं। वे सोचते हैं– "मैं क्यों नहीं सभ्य समाज में पैदा हुआ?" या "मेरे माँ–बाप क्यों नहीं सभ्य समाज के लोग हुए?"

अतीत में यही भाषा–विभेद हमारे विनाश की वह कड़ी थी, जिससे आदिवासी अपने खून–पसीने की कमाई हुई ज़मीन से बेदखल किया। सन् 1831–32 के कोल विद्रोह की पृष्ठभूमि क्या थी? यी कि जब मुद्रा के रूप में कर वसूलने का फैसला अँग्रेज़ों द्वारा किया गया तो हमारे पूर्वज साहूकारों, जमींदारों के पास गये क्योंकि तब तक आदिवासी क्षेत्र में वस्तु–विनिमय प्रणाली प्रचलित थी। अतः उन्होंने मुद्रा की

आवश्यकता का अनुभव भी नहीं किया था। इन लोगों ने अँगूठे का निशान सादे कागज पर लगवाकर पैसे दे दिये, लेकिन पीढ़ियों तक उनके कर्ज़ों से मुक्त न होने की स्थिति में, जब वे कलकत्ता के न्यायालयों में गये, तो मुकदमा हार गये। कारण था–भाषा समस्या। वे सीधे अपनी बातों को अँग्रेजों तक नहीं पहुँचा सकते थे। बिचौलिए तथ्यों को साहूकारों, जमींदारों के पक्ष में रख देते थे और प्रमाण के रूप में अँगूठे लगा कागज बढ़ा देते थे। वर्षों तक अन्न आदि देकर या साहूकारों, जमीदारों के यहाँ मजदूरी करके भी जब वे ज़मीन वापस न पा सके, तो उन्होंने उनके विरुद्ध मुकदमा किया। वे मुकदमा हार गये। उसका आक्रोश व्यक्त हुआ कोल–विद्रोह में। वे जानते थे, सच क्या है, अत: यह स्पष्ट है कि भाषा के माध्यम से संवादहीनता आदिवासियों के लिए कितनी मारक रही है। भाषा की राजनीति में उलझाये जाने पर ही आदिवासी अपने घर, खेत, खलिहान खोने को विवश हुए और वर्तमान परिस्थिति में भी बहुत कुछ खोने को विवश हैं। यदि न्याय की भाषा अपनी मातृभाषा होती या वह भाषा जिसे आदिवासी जानते हैं, तो क्या आज हम ज़मीन से इतना अधिक बेदखल होते? शायद नहीं।

विकसित भारतीय भाषाओं को सीखने के क्रम में एक आदिवासी बच्चा दो तरह से मानसिक ग्रन्थियों का शिकार होता है। पहला तो यह कि वह अपनी भाषा से कटता है और अपनी मातृभाषा को हीनभावना से देखता है। इस तरह वह अपनी भाषा, संस्कृति, परिवेश आदि की उन जड़ों से कटता जाता है, जहाँ से उसे जीवनदायिनी शक्ति प्राप्त होती है। दूसरी ओर विकसित भाषा को सीखने के क्रम में अपनी मातृभाषा से पृथक् उच्चारण, व्याकरण एवं वाक्य–रचना की पद्धति के कारण आत्मसात करने में देरी करता है। एक उदाहरण काफी होगा, जैसे उराँव भाषा में पुरुष को छोड़ बाकी सभी संज्ञा पुल्लिंग रहते हुए भी स्त्रीलिंग हैं, जबकि हिन्दी में लिंग–निर्णय की प्रक्रिया दूसरी भाषाओं के मुकाबले जटिल है। फिर शब्दों के अर्थ एवं उच्चारण में इतना अन्तर है कि बिहार, मध्य प्रदेश तथा बंगाल में निवास कर रहे आदिवासियों के लिए हिन्दी या बँगला में उनकी अपनी भाषा का कोई समानार्थी या समान उच्चारण वाला शब्द बिरले ही मिले। यदि कतिपय शब्द हैं भी तो, वे काफी कम हैं। फलत: आदिवासी बच्चों को शब्दों के अर्थ ग्रहण करने में अतिरिक्त मानसिक श्रम करना पड़ता है। इससे त्रासद स्थिति यह है कि उन्हें इसके लिए अपमान और उलाहनों के कड़वे शब्द सुनने पड़ते हैं। एक लम्बे समय के बाद जब बालक खुद अपनी मातृभाषा और हिन्दी या बँगला में कुछ सामंजस्य स्थापित करता है, तभी वह विषयों एवं तथ्यों को कुछ समझने लायक होता है। इस तरह एक गलत और बिल्कुल अवैज्ञानिक बुनियाद वाली शिक्षा–पद्धति में आदिवासी बच्चे पलते–बढ़ते हैं और बड़े होने पर उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे उन सभ्य लोगों का मुकाबला करें, जिन्हें कि कमोवेश अपनी भाषा में शिक्षा मिली होती है–चाहे वे भोजपुरी, मगही भाषी हो, मैथिली भाषी हो या बँगला भाषी। उन्हें एक आदिवासी की तुलना में प्राय: अपनी भाषा से निकट समान ध्वनि और अर्थवाले शब्दों और भाषा से शिक्षा ग्रहण करने की सुविधा होती है। लेकिन इसके विपरीत एक

आदिवासी को भाषा के स्तर पर यह सुविधा प्राप्त नहीं है। फलतः वह तथ्यों को समझने में देर करता है, जिसे सभ्य समाज के अहंकारी और नस्ली लोग जातीय ऊँच-नीच को अन्तर बताते नहीं अघाते। उनके बच्चों को आदिवासी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाये तो क्या वे भी इतने कुशाग्र होंगे, जैसा कि अब तक वे अपने बारे में प्रचारित करते रहे हैं?

आज अफ्रीका के अश्वेत नोबल पुरस्कार पाने लायक साहित्य का सृजन कर रहे हैं। हममें ऐसी क्या कमी है कि हम ऐसा नहीं कर सकते? दरअसल, हमें भी अपने सौन्दर्य-शास्त्र का मापदंड स्थापित करना होगा। हमारे मिथक भिन्न हैं। उसकी जाँच-पड़ताल और विश्लेषण आवश्यक है। इसके लिए हमें अपनी संवेदनशीलता को और अधिक संवेदनशील बनाना होगा। आदिवासी गीतों में हिन्दू प्रभाव जैसे विषयों पर लिखने के बदले, उनमें आदिवासी प्रभाव की खोज करनी चाहिए। उड़िया के अन्तरराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त कवि सीताकान्त महापात्र की कविताओं में आदिवासी परिवेश से बिम्ब लिये गये हैं। अतः ऐसा नहीं है कि हम अपने आस-पास के परिवेश में जन्मी और उपजी भावनाओं, विचारों को अपनी भाषाओं में व्यक्त नहीं कर सकते। ऐसा करना सम्भव है और हमें ऐसा करने का जोरदार प्रयास करना चाहिए। हमें इसका भी मन्थन करना चाहिए कि अश्वेत लोगों ने अश्वेत-सम्मान का नारा देकर अपने आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए अपने साहित्य, कला आदि का विकास कैसे किया? क्या हम आदिवासी हित का नारा देकर ऐसा करने का प्रयास नहीं कर सकते? विद्वान, चिन्तक, बुद्धिजीवी अपनी रचनाओं में, चाहे वे गीत, कविता, उपन्यास या नाटक हों, अपने आदर्श, इतिहास, परम्परा, संस्कृति, जीने की इच्छा, दुःख-दर्द एवं अपने सपनों और अन्तर्विरोधों को गहराई तक जाकर सार्थक रूप में शब्दबद्ध नहीं करेंगे, तब तक हम अपना सर्वांग और बहुमुखी विकास भी नहीं कर पायेंगे और न ही अपनी पहचान स्थापित कर पायेंगे।

सरकार, मिशन, संघ और विभिन्न राजनीतिक दलों के सहारे हम अपना कितना विकास कर सकते हैं? यह भी आज सोचने का विषय है। इन सभी के अपने पूर्वाग्रह तथा विचारों के साँचे तैयार हैं, जिनमें हमें ढालकर ही वे हमारा विकास करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वे अपना हित साधना चाहते हैं। उनके लिए हम एक साधन हैं, उनकी सफलताओं के लिए। इसलिए आदिवासियों को स्वयं अपनी अस्मिता, भाषा, संस्कृति आदि की रक्षा हेतु आगे आना होगा। बैसाखी के सहारे चलने की आदत और हर बात के लिए किसी की ओर मुँह देखने की प्रवृत्ति से हमें छुटकारा पाना होगा या छुटकारा पाने की कोशिश तो करनी ही होगी। अगर निष्ठावान, समर्पित और कुछ ईमानदार लोग आज भी कुछ करना चाहें, तो वे बहुत कुछ कर सकते हैं। अगर हम प्रत्येक समर्थ परिवार से एक रुपया भी वार्षिक सहायता लें तो हम स्वयं अपनी भलाई के बारे में सोच-समझ सकते हैं और कुछ कर सकते हैं। अपने भाई-बहनों के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। हम खुद पढ़े-लिखे नौकरी-पेशावाले लोग अपने समाज के

लिए कुछ करना चाहते हैं। मगर संस्थाओं के अभाव में वे किसी की सहायता नहीं कर पाते। इसीलिए अगर कुछ संगठनों आदि के माध्यम से ईमानदार प्रयास किये जायें तो हमें सफलता मिल सकती है। माना कि रातोंरात हम अपने लोगों की स्थिति बदल नहीं देंगे। लेकिन आज हममें कई तो कुछ करने की स्थिति में हैं, वे कुछ रचनात्मक कार्यों में अपना योगदान दे सकेंगे। हम छोटे स्तर पर ही सही, रोजगार सूचना केन्द्र, प्रतियोगिता-परीक्षा, पुस्तक-केन्द्र, भूमि बचाओ समिति, मुफ्त कानूनी सहायता समिति, आदिवासी भाषा विकास संस्थान, आदिवासी कला केन्द्र, साक्षरता अभियान दल, चिकित्सा या स्वास्थ्य केन्द्र, व्यापार केन्द्र आदि का गठन करके, जो जहाँ है और जिस क्षेत्र में कार्य करने लायक है, वही करें। मैंने सुना है कि करम टोली, राँची का एक युवा संगठन इससे प्रेरणा ले रहा है। सामान्य-ज्ञान में हमारे लोग कमज़ोर माने जाते हैं। इसी बहाने वे अपना स्तर तो सुधारेंगे। यदि इस प्रतियोगिता में 100 में से 20 प्रश्न आदिवासी इतिहास, भाषा, संस्कृति आदि से जोड़ दिये जायें तो युवा-वर्ग अपने विस्तृत इतिहास, भाषा, संस्कृति के बारे में जान सकेगा और सामान्य ज्ञान के साथ-साथ इन सारे विषयों के प्रति उसकी रुचि भी जागृत होगी। इसी तरह ये संगठन साल में एक बार आदिवासियों में लेखन एवं शोध की रुचि पैदा करने हेतु प्रतियोगिता आयोजित करें, जिसमें आदिवासियों से सम्बन्धित शोधपूर्ण लेख मँगाये जायें और उन्हें पुरस्कृत व सम्मानित किया जाना चाहिए। यही सब कार्य हम लोगों में आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना भरेगा और हम अपने कुचले जाते आत्मसम्मान के विरुद्ध और भी सीधे होकर सीना तानकर खड़े हो सकेंगे।

मेरे एक मित्र हैं--वासुदेव बेसरा। उन्होंने सन्ताली भाषा के विकास हेतु काफी कार्य किया है। आदिवासी समाज से सम्बन्धित कुछ कानूनी किताबों का उन्होंने सन्ताली में अनुवाद किया है। वे सन्ताली में शिशु-गीत भी लिख रहे हैं। उनका कहना है कि हर समाज को राह दिखाने, उसमें आत्मगौरव की भावना भरने, उनकी मिटती पहचान को बनाने के लिए कुछ पागलों की ज़रूरत होती है, जो अपनी सामाजिक, प्रतिबद्धता, निष्ठा, लगन, मेहनत और ईमानदारी से अपनी कला, साहित्य-सेवा, शोध-कार्यों तथा आविष्कारों द्वारा या इसी प्रकार के अन्य सामाजिक विकास के कार्यों से समाज को आगे बढ़ाते हैं। आदिवासी समाज को आज ऐसे लोगों की ज़रूरत है जो अपने कार्य, कृति, आविष्कारों आदि से हमारे समाज को आगे बढ़ा सकें। दरअसल, आज गरीबी में सोये और दारू के नशे में डूबी हमारी चेतना और आत्मविश्वास को जगाने के लिए हर प्रकार के कलाकार, विद्वान, लेखक, पत्रकार, खिलाड़ी, कोच, तकनीशियन, शिक्षाविद्, विधिवेत्ता, अर्थशास्त्री, मनोविज्ञानी, चिकित्सक, सामाजिक-कार्यकर्ता आदि सभी चाहिए। हमें चाहिए हमारे विस्मृत लोकगीत, उन्हें गाने और नृत्य रूप देने के लिए चाहिए गायक, नर्तक (जो कि हम सभी हैं)। उन्हें जन-जन तक पहुँचाने के लिए चाहिए इन गीतों का पुस्तक रूप में छपना, सम्भव हो तो इन गीतों का कैसेट उपलब्ध कराना। हमें चाहिए खिलाड़ी भी, कोच भी, जो हमारे छोटे भाई-बहनों

को राष्ट्रीय–अन्तरराष्ट्रीय ऊँचाई तक पहुँचाने की प्रेरणा दे सकें। हमें चाहिए इतिहास, भूगोल, राजनीति, मनोविज्ञान, भू–विज्ञान, संगीत, नृत्य, कृषि, चिकित्सा आदि के विशेषज्ञ, जो अपने विषयों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर हमें बता सकें कि हमारे नृत्य–संगीत, हमारी परम्पराओं, हमारा इतिहास, हमारी चिकित्सा–पद्धति, हमारी सामाजिक सोच में ऐसा बहुत कुछ है, जो सभ्य कहे जाने वाले समाज में नहीं है।

मिशनरियों द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का लाभ मिशनरी ही भरपूर उठा रहे हैं, अगर ऐसा होता तो 'सत्य भारती' स्थित पुस्तकालय में मात्र बीस प्रतिशत के लगभग ही आदिवासी सदस्य नहीं होते। तब इनकी संख्या अधिक होनी चाहिए थी। ऐसा इसलिए कि हम साक्षर ज़रूर हुए, चाहे मिशनरियों की सहायता से या सरकार की दया से, लेकिन हम इतने शिक्षित नहीं हुए हैं कि दिन–पर–दिन किताबों की ज़रूरत अनुभव कर सकें, इसलिए लाइब्रेरी या वाचनालयों में हमारे लोगों की संख्या कम है क्योंकि हम उतना ही जानना, समझना और सोचना चाहते हैं, जितना कि हमारे दिमाग में डाला गया है। इससे अधिक जानने की इच्छाशक्ति हम लोगों में कम है। फलस्वरूप हमारा मानसिक विकास, निरन्तर आगे बढ़ते जाना चाहिए एक सीमा के साथ रुक जाता है। यही कारण है कि हम मौलिक चिन्तन नहीं कर पाते। हमारी दृष्टि और हमारे विचार साफ और स्पष्ट नहीं हो पाते। हम विभिन्न आलोचनाओं का जवाब नहीं दे पाते। यही वह कारण है कि हममें से अधिकांश लोग किसी बहस में शामिल होने या विचार प्रकट करने से कतराते हैं। हमें अपनी इस कमज़ोरी को जल्द–से–जल्द छोड़ने का प्रयास करना चाहिए।

हमारा आत्मसम्मान कैसे प्रभावित होता है, इसके कुछ उदाहरण और देना चाहूँगा। हिन्दी लेखकों की प्राय: उन सभी कहानियों में जिनमें आदिवासी परिवेश या जीवन की कहानी कही गयी है, आदिवासी स्त्री का हमेशा बलात्कार होते दिखाया जाता है। क्या सभ्य समाज के लेखकों के इस दृष्टिकोण का विरोध नहीं होना चाहिए? सरकार हमारी मान्यताओं के विरुद्ध कानून बनाकर जबरदस्ती हमारे सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों पर प्रहार करती है। यदि एक आदिवासी लड़का किसी उच्च जाति की लड़की से ब्याह करे तो उसकी सन्तान उच्च जाति की कहलायेगी और यदि कोई आदिवासी लड़की उच्च जाति के लड़के से ब्याह करेगी तो उसकी सन्तान आदिवासी कहलायेगी। यह कानून आदिवासी अधिकारों पर सीधा प्रहार है। वास्तविकता यह है कि कानून ज़मीन आदि को हथियाने का पिछला दरवाज़ा है। हम इसके विरुद्ध क्यों नहीं संघर्ष के लिए एकजुट होते?

आदिवासियों ने इस धरती को खेती और नगर बसने लायक बनाया। वे प्राचीन काल से ही सभ्यता के विकास के लिए अपना बलिदान देते रहे हैं। जब ये जंगल साफ कर उसे खेती लायक बनाते हैं, उसके बाद ही सभ्य लोगों का हम पर हमला होता है या उनका प्रवेश होता और नाना प्रकार के छल–बल से हमारी ज़मीन छीन ली जाती है। हमारे कितने पुरखे जंगल को खेती लायक बनाते हुए जंगली जानवरों के शिकार

हुए होंगे। हमारे पूर्वजों की कितनी पीढ़ियाँ एक खेत बनाने में, एक गाँव बसाने में शहीद हुई होंगी। इस क्रम में कितनी माताएँ अपने बेटों, कितनी बहनें अपने भाइयों और कितनी पत्नियाँ अपने पतियों से बिछुड़ गयी होंगी। तभी तो बनी खेती लायक ज़मीन! लेकिन आज हमारी पहचान के लिए हमसे पहचान-पत्र माँगा जा रहा है और इसे जारी करने वाले कौन हैं? ज़मीन के वे ही लुटेरे, जिन्होंने आज हमें घर से बेघर कर दिया है। उन्हीं से हमें अपनी जाति की पहचान के लिए जाति प्रमाण-पत्र लेना पड़ रहा है कि हम यहाँ के निवासी हैं। इससे बड़ा अपमान और क्या हो सकता है एक आदिवासी का? लेकिन यह अपमान हम, आप, यह, वह सभी झेल रहे हैं। आखिर क्यों? क्या हम अपमानित होने के आदी हो गये हैं, इसलिए या आत्मसम्मान की हमारीचेतना ही एकदम मर गयी है? जवाब हममें से हर कोई सोचे! ऐसा क्यों? ऐसा सिलसिला कब तक?

एक सेमिनार में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के भूतपूर्व कमिश्नर डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा ने बहस के क्रम में सवाल उठाया– ''आखिर क्यों अर्थशास्त्री एवं विद्वान एक खेतिहर मजदूर को अकुशल मानते हैं? जब मजदूरों की सूची बनायी जाती है तो उसमें उसे सबसे नीचे क्यों रखा जाता है? क्या खेतिहर मजदूर की कोई कुशलता नहीं होती? खेतों में हल चलाने के लिए क्या किसी तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती? अगर ऐसा है तो कोई विद्वान चार कदम ही सही, ढंग से हल चलाकर दिखा दे।'' कहने का आशय यह है कि सभ्य समाज द्वारा बनाया मापदंड तथा स्थापित आदर्श यही है कि जो साक्षर नहीं है या जो शारीरिक श्रम करने वाला मनुष्य है वह अकुशल, बुद्धू, गँवार, जंगली एवं जाहिल है, इसीलिए उन्हें एक आदिवासी का नाचना, गाना, उसके जीने, सोचने का ढंग, उसकी भाषा, बोली, उसकी परम्परा, उसकी आस्था, विश्वास, उसके देवी-देवता, उसका इतिहास, उनके अतीत, वर्तमान और भविष्य– सब कुछ अन्धकारपूर्ण, पिछड़ा, असम्माननीय और हेय नज़र आता है। अत: एक सभ्य और एक आदिवासी जीवन के मूल्य, आदर्श और स्थापनाओं में फर्क दिखना चाहिए ताकि वे अपनी मानसिक हार से स्वयं को बचा सकें। लेकिन इसके लिए और अधिक व्याख्या और बहस की ज़रूरत है, जिसे समझदार एवं विद्वान लोग आगे बढ़ायेंगे ऐसी आशा है।

आदिवासियों पर कितनी तरह के जुल्म किये जा रहे हैं। भाषा, संस्कृति, ज़मीन, बहू-बेटी तक हमसे छीन जाने की साजिश रची जा रही है, फिर भी खामोश हैं, चुप हैं। अगर खामोश नहीं भी हैं तो सशक्त ढंग से अपनी आवाज़ तथा संघर्ष को तेज नहीं कर पा रहे हैं। ऐसा क्यों? क्या हम अत्यधिक दारू पी चुके हैं या सभ्य समाज द्वारा बनाये गये जाल में फँस गए हैं अथवा हम वाकई कुछ सोचने लायक लोग नहीं हैं? क्या हम सचमुच कोल्हू के बैल की तरह हैं–जंगली,आदिवासी या जुल्म की मार झेलते-झेलते इतने कुन्द हो गये हैं कि हममें विरोध करने की क्षमता ही नहीं रह गयी? क्या सचमुच अन्धे कानून,सभ्य समाज के षड्यन्त्रों और दारू की मार से पिटकर हम इतने बेहाल हो

गये हैं कि कुछ कहने की, विरोध करने की, हिम्मत, साहस, आत्मविश्वास तक खो चुके हैं? क्या सचमुच ऐसा है? शायद नहीं। अब भी कुछ लोग तो बचे हैं, जो साहस के साथ संघर्ष कर सकते हैं। ज़रूरी है ऐसे लोग गोलबन्द हों। एक जगह एकत्र हों! आपसी संवाद शुरू करें! बहस करें! पढ़ें, सोचें और अपने भाइयों और बहनों को अपने उत्थान के लिए सोचने-समझने हेतु प्रेरित करें, तभी हम अपनी कमज़ोरियों एवं सभ्य समाज द्वारा बनाये गये बन्धनों से मुक्त हो सकते हैं वरना हमारे बीच भी कोई कवि पैदा होगा जो नीग्रो कवि 'सिफो सेपाम्ला' की तरह कहेगा–

"अश्वेत लोग पैदायशी गायक होते हैं
अश्वेत लोग पैदायशी धावक होते हैं
अश्वेत लोग चाहते हैं–अमन-चैन
ये सारे मिथक हमें बनाये रखते हैं भोला-भाला
हमें पिया गया है शैम्पेन के बुलबुलों के साथ
हमें मालूम है दमघोंटू दर्द के बारे में
हम छटपटाते हैं अपने अपमान की पीड़ा में
गायक
धावक
शान्ति-प्रेमी
कोई देखता नहीं/हमारे भीतर घुमड़ते तूफान को
कोई नहीं चाहता जानना कि हम अपने ही रसातल तक पहुँच गये हैं।"

प्रकाशन वर्ष – 1990

आदिवासी इतिहास को समझने के उपकरण

यह अजीब एवं हैरान कर देने वाली स्थिति है कि आदिवासियों के बारे में जितना पश्चिमी विद्वानों ने लिखा है उतना भारतीय विद्वानों ने नहीं। यह स्थिति ही स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीयों को आदिवासियों में कोई रुचि नहीं दिखाई या आदिवासियों के प्रति उनका नजरिया क्या था! इसे समझने के लिए विनयपत्रिका की पंक्ति 'कोल, खस, भील, जवनादि खल राम कहि नीच है ऊँच पद को न पायो।' का सहारा लिया जा सकता है। जो हिन्दी प्रदेशों में आज भी पढ़े लिखे तबके के लोगों द्वारा एक लोकोक्ति के रूप में प्रयुक्त की जाती है। स्वाभाविक है एक खास वर्ग के लिए बना दी गई यह छवि अब तक समाज में बरकरार है। कुछ उसी तरह जैसा कि तुलसीदास की ये पंक्तियां 'ढोल, गंवार, सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी'। ऐसे में इसकी आशा करना या रखना अर्थहीन है कि इस मानसिकता से प्रभावित एवं ग्रसित समाज का अधिकांश वर्ग आदिवासी या दलित समाज के लिए सहानुभूति के कोई शब्द बोलता या

लिखता। वैसे यूरोपीयनों ने भी आदिवासियों को आदमी ही समझा, ऐसी बात नहीं है, सिवा कुछ संवेदनशील अधिकारीनुमा विद्वानों एवं मिशनरी पादरियों के।

लेकिन बदलती सामाजिक, राजनीतिक हालातों ने सभ्य माने जानेवाले कुछ प्रतिशत लोग ही अब तक उच्चता बोध के इस प्रभामंडल से मुक्त हो पाए हैं। परिणामतः, उनकी मानसिकता एवं व्यवहार में कुछ परिवर्तन अवश्य आता दिखता है। लेकिन, वे अभी अल्पसंख्यक की ही श्रेणी में कतारबद्ध हैं। वैसे इसे पश्चिमी विद्वानों की सनक कहें या उनकी समृद्ध शोधवृत्ति के परिणाम या प्रजातन्त्र में विश्वास रखनेवाले भारतीय बुद्धिजीवियों, विद्वानों की जिद्द कि आज आदिवासियों, दलितों के पक्ष में कोई कुछ तो बोल लेता है या कोई दो-चार पन्ने लिख लेता है या कोई किताब लिख डालता है। वरना वह तो आदमी था ही नहीं।

वैसे यह परिवर्त्तन तो आना ही है। लेकिन इसमें अब भी काफी देर है। कारण साक्षरता की कमी। साथ में असली शिक्षा का भारत में अब तक अभाव है। शिक्षा का अर्थ यहाँ मात्र डिग्री से नहीं लिया गया है। बल्कि अर्थ यह लिया गया है कि जब तक हम भाषा, संस्कृति, धर्म, जाति, रंग, लिंग, लिबास आदि के आधार पर एक दूसरे से घृणा करेंगे शिक्षित नागरिक कहलाने के हकदार कदापि नहीं हैं। इसलिए ऐसे लोगों के बारे में जो समाज में वंचित, शोषित, तिरस्कृत, उपेक्षित एवं प्रताड़ित हैं इनके बारे मात्र हमदर्दी न दिखाते हुए सम्मान से जीने के लिए ईमानदार प्रयास नहीं किए जाते, सम्पूर्ण भारतीय समाज शिक्षित, विकसित एवं परिपक्व नहीं कहा जा सकता। और यह स्थिति जब तक नहीं आती तब तक इतिहास में मनुष्य की खोज बीन, मानवीय सोच का खंडन मंडन चलता रहेगा। बार बार समाज में बदलते मूल्यों के हिसाब से इतिहास को पलटते रहने, धोने, मांजने एवं खंगालने का कार्य चलता रहेगा। जहाँ यथास्थितिवादी-पुरातनपंथी तानाशाही एवं समतामूलक प्रगतिकामी-परिवर्त्तनकारी शक्तियाँ बराबर टकराती रहेंगी। आज भी देश में, दुनिया में यही हो रहा है।

भारत के सबसे वंचित माने जानेवाले आदिवासी समाज की इच्छा है कि वह अपने इतिहास को जानें। लेकिन, उनके इतिहास को विस्मृत एवं लोप कर दिए जाने के कुप्रयास होते रहते है। शायद इसीलिए डॉ. कुमार सुरेश सिंह की किताब बिरसा मुण्डा एवं उनका आन्दोलन की भूमिका में क्रिस्टोफर फोन फ्यूरेर हैंमेसडोर्फ को लिखना पड़ा कि 'सरकारी रिपोर्टों में जनजातीय विद्रोहों पर सतही तौर पर प्रकाश डाला गया है पर इन आन्दोलनों के कारणों और सामाजिक अभिप्रायों पर ब्योरेवार विवरण कम मिलते हैं जो किसी स्थापित शासन के विरुद्ध जनजातियों के विद्रोह शासकों और शासितों के बीच अत्यधिक कष्ट और त्रासदी से पूर्ण गाथा प्रस्तुत करते हैं।'

वैसे तिलका मांझी के सर्वप्रथम विद्रोह के बाद भारतवर्ष में आदिवासियों, दलितों के विद्रोह बढ़ते गये। लेकिन, इतिहास मे होने का श्रेय उन्हें हाल फिलहाल मिल रहै हैं और कई मामलों में तो अब तक नहीं मिले हैं। इसलिए इतिहास में आदिवासियों के होने का संघर्ष अब तक चला आ रहा है। सम्भवतः इस कमी को पूरा करने के उद्देश्य

से सन् 1986 के आस पास में प्रगतिशील इतिहासकारों द्वारा के इतिहास काँग्रेस में यह प्रस्ताव लाया गया कि 'स्वतन्त्रता आन्दोलन 1857 के मंगल पांडेय के विद्रोह से पहले, सिद्धू कान्हू के संथाल विद्रोह 1855 से भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का आरम्भ माना जाय। लेकिन यह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं किया जा सका।' जाहिर है इतिहास काँग्रेस में कब्जा जमाए सवर्ण मानसिकता के विद्वानों को यह कैसे सहन होता कि भारत के स्वतन्त्रता संग्राम का आरम्भ कोई आदिवासी या दलित करे! इसी प्रकार गुजरात के पालचितरिया गाँव में 7 मार्च 1922 को दोपहर को करीब 1200 आदिवासियों को मौत के घाट उतार दिया गया जो वहाँ एक सभा में उपस्थित थे। इस नरसंहार के प्रत्यक्षदर्शी स्वतन्त्रता सेनानी बलवंत सिंह का मानना है कि-- चूँकि जालियांवाला कांड के विपरीत ...यहाँ मारे गए लोग अनपढ़ और गरीब आदिवासी थे इसलिए इस नरसंहार को भुला दिया गया। इस आशय की रिपोर्ट इंडिया टुडे के अंक 03.09.1977 के अंक में छपी थी।

ये मात्र दो उदाहरण भर हैं यह दर्शाने के लिए इतिहास में कैसे दलित, आदिवासी या अन्य कमजोर या अनपढ़ लोगों के के योगदान को हाशिये में डाल दिया जाता है। लेकिन जैसा कि ऊपर कहा गया है बुद्धिजीवियों का एक ऐसा अल्पसंख्यक वर्ग है जो समाज के वंचित, उपेक्षित लोगों की चिन्ता करता रहता है। ऐसे लोग इतिहास से सीधे जुड़े न रहते हुए भी आदिवासियों के इतिहास निर्माण में सहायक भूमिका निभाते रहते हैं। उनमें नई चेतना लाने का प्रयास करते रहते हैं। इनके लेखन को यदि विस्तार दिया जाय और इतिहास में अदिवासी की भूमिका की बात की जाय तो देश में प्रजातांत्रिक जड़ो को पुख्ता करने में सहायता मिलेगी। ऐसे लोग सामाजिक कार्यकर्ता, राजनीतिक, पत्रकार, पर्यावरणविद, समाज वैज्ञानिक, समाजवादी चिन्तक, मानवशास्त्री, इतिहासकार, फिल्मकार, प्रशासनिक अधिकारी, शोधकर्ता, लेखक, सम्पादक आदि विभिन्न कार्यक्षेत्रों से जुड़े हैं। उनका उद्देश्य कहीं पर यह अवश्य है कि उनके कार्यों, चिन्तन या लेखन-कार्य से समाज को, आदिवासी या उपेक्षित जनों के लिए पारम्परिक विचारधारा में विकसित, प्रगतिशील विचार को स्थान दिलाया जा सके या समाज के विरोधाभासों को समझा जाय। इसलिए यहाँ वेरियर एल्विन, डॉ. कुमार सुरेश सिंह, महाश्वेता देवी जैसे हस्तियों के अलावा भी अनेक ऐसे लोग हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आदिवासी समाज के पारम्परिक चिन्तन को तोड़ने और उनकी एक नई छवि उभारने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। (सम्भव है अपनी अल्पज्ञता के कारण कई नाम छूट सकते हैं।) फिर भी कुछ नाम हैं– राहुल सांस्कृत्यायन, जगदीश झा, श्यामाचरण दुबे, किशन पटनायक, के.बी. सक्सेना, सच्चिदानंद सिन्हा, सीताकांत महापात्र, ब्रह्मदेव शर्मा, रोमिला थापर, डी. कोसाम्बी, अयोध्या सिंह, पुरुषोत्तम कुमार, ऋत्विक घटक, एस.सी. रायवर्मन, आंद्रे बेत्ते, ए.आर. देसाई, रामशरण जोशी, वीर भारत तलवार, राजेन्द्र यादव, मुद्राराक्षस, रमणिका गुप्ता, गणेश एन. देवी, मेधा पाटकर, वीरेन्द्र यादव, संजीव, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, शाहीद अमीन, सुसन डि वल, बर्नार्ड एस. कॉन, सी.जे. फ्यूलर,

ओमप्रकाश बाल्मीकि, शरण कमार लिंबाले, रामदयाल मुण्डा, ज्ञानरंजन, कांचा इल्लैया, आनन्द पटवर्द्धन, वी.टी. राजशेखर, बबन गणपत कांबले, लक्ष्मण गायकवाड़, वाहरू सोनवणे, हरिराम मीणा, सुभाष गाताडे, प्रकाश लुईस, विरजीनियुस खाखा, अलेक्स एक्का, उत्तम सेन गुप्ता, पी. साईनाथ, अरूधंती राय, अभय कुमार दुबे, निर्मल मिंज, रोज केरकेट्टा, इग्नाशिया टोप्पो, परिमल हेम्ब्रम, बासुदेव बेसरा, महादेव हाँसदा, संजय बसु मल्लिक, वासवी, हेरॉल्ड सैमसन तोपनो, राकेश दीवान, श्रीप्रकाश आदि। इन सभी ने अपने कार्यों से समाज को कुछ न कुछ ऐसा दिया है जिसके आधार पर आजादी के बाद न केवल आदिवासियों की स्थिति के बारे बल्कि इस बहाने हम समग्र भारतीय समाज के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक भाषिक पर्यावरण का जायजा ले सकते हैं। बावजूद इसके आदिवासी समाज के इतिहास को निरन्तर खंगालते रहने की जरूरत है, आपसी संवाद बनाए रखने की जरूरत है।

सन् 2005

हल से लेकर कम्प्यूटर तक

आदिवासी इलाकों के सन्दर्भ में ग्राम सभाएँ एवं पंचायतें क्या कर सकती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में हल, कुदाल, कलम, तीर, माँदर, गिटार और कम्प्यूटर की कल्पना की है। कुछ मित्र इससे नाक–भौं सिकोड़ सकते हैं। लेकिन जहाँ तक युवा पीढ़ी को समझ पाया हूँ सम्भवत: इस तरह से सोचना सही है। ऐसा सोचने के पीछे कारण है कि अपने राँची शहर के आस–पास के अलावा सारंडा, कोल्हान, पलामू, शहडोल, सरगुजा, अम्बिकापुर, सुन्दरगढ़, सम्बलपुर के दुर्गम वनाच्छादित क्षेत्रों से लेकर, भुवनेश्वर, गुवाहाटी और कोलकाता महानगर के आसपास के ग्रामीण इलाकों और नॉर्थ ईस्ट के भी कुछ ग्रामीण इलाकों में घूम चुका हूँ। जहाँ हर तरह के लोगों से मिलने–बैठने और बात करने का अवसर मिला है। हर जगह युवा–वर्ग से खास तौर से बात की है और इन्हें समझने की कोशिश की है। युवावर्ग कुछ परम्पराओं को स्वीकारता तो है लेकिन तकनीकी एवं शिक्षा के परिवर्तन के कारण कुछ चीजों को जोश में तेजी से अपनाता भी है तब उसे कई बार अपनी परम्पराओं की विशेषता नजर नहीं आती है। ऐसा करने में कई बार बहुत कुछ उसके हाथ से निकल जाता है। इसलिए विशेषत: आदिवासी समाज के भविष्य के लिए हल, कुदाल, ट्रैक्टर, कलम, तीर, माँदर, गिटार एवं कम्प्यूटर को कुछ अच्छाइयों का प्रतीक मानते कुछ मुद्दों, समस्याओं के समाधान की कल्पना की है। परम्परा और आधुनिकता को सन्तुलित रखने का प्रयास किया गया है। इनमें से कई के परिणाम आँखों से देखा है। इसीलिए कुछ अच्छा देख पाने एवं सकारात्मक देखने का विश्वास भी है। आप अपनी सुविधानुसार इसमें नये सोच, विचार या आइडिया जोड़ने के लिए स्वतन्त्र हैं। इस संदर्भ में कुछ कल्पनाएँ एवं विचार कुछ इस तरह हैं–

हल	परिश्रम, सृजन, कृषि विकास
कुदाल	निर्माण को करीने से सजाना, अनुशासन
ट्रैक्टर	जहाँ जरूरत हो विकास के लिए मशीनों का उपयोग
कलम	ज्ञानार्जन और ज्ञान का विकास, साहित्य सृजन
तीर	नारी–शक्ति सम्मान, इतिहास पुरुषों/पुरखों का स्मरण, जल जंगल जमीन संरक्षण
माँदर	मनोरंजन के पारम्परिक खेल। लोकनृत्य, कलाओं के विभिन्न माध्यमों का संरक्षण, सुविधा, व्याख्या और विकास
गिटार	मनोरंजन के आधुनिक साधनों को अपनी जरूरत के हिसाब से अपनाना, विकास करना
कम्प्यूटर	विकास के लिए अपनी आवश्यकता अनुसार आधुनिक ज्ञान और तकनीक को अपनाना और जानकारियों का आदान–प्रदान, विचार–विमर्श।

मोहम्मद युनूस को बाँग्ला देश में ग्रामीण बैंकिंग की सहायता से ग्रामीणों के आर्थिक उत्थान के लिए नोबेल पुरस्कार मिला। गौर से उनकी आरम्भिक गतिविधियों को देखें तो उन्होंने हमारे आदिवासी इलाकों में मदाइत, पंचा जैसी परम्परा को नयी आर्थिक पहचान दी या कहें गरीबों को गरीबी से लड़ने के लिए थोड़ी आर्थिक सहायता देकर जीने के तरीके को मजबूत किया। लेकिन हमारे यहाँ आदिवासियों की इस आपसी सहयोग परम्परा को आदिवासी और पिछड़ा सोच ही माना गया और अब भी माना जाता है। आज जिसे हम 'स्वयं सहायता समूह' कहते हैं वह भी इन आदिवासी परम्पराओं का आधुनिक रूप है। मैनेजमेंट की पढ़ाई में टीम वर्क, टीम अंडरस्टैंडिंग जैसे विषयों के लिए बड़ी–बड़ी क्लासें लगती हैं। मोटी–मोटी फीस ली जाती है। यह सब आदिवासियों में स्वाभाविक रूप से है। लेकिन ये आदिवासियों के इस सहयोगी परम्परा की ताकत को पहचानने की चेष्टा नहीं की गयी है। स्वयं आदिवासियों ने इसकी ताकत को नहीं समझा। इसे कमजोर समाज का कमजोर प्रयास कहने की ही चेष्टा की है। क्यों? क्योंकि ये काम हमारे जंगल स्थित गाँवों के कार्यों तक के लिए सीमित थे। ट्राइबल लोग बहुत अच्छी टीम वर्क, आपसी समझदारी दिखाते, प्रतिभाओं का प्रबन्धन एवं उपयोग करते, जंगल के भूगोल एवं पर्यावरण को समझते, जंगली जानवरों की गतिविधि को समझते, एक बेहतर शिकारी ही नहीं बेहतर व्यूह–रचनाकार भी थे। चूँकि तब यह हमारी भौतिक और सामाजिक आवश्यकता के लिए जंगल तक सीमित थी। जंगल में आदिवासियों का यह ज्ञान कारगर था। लेकिन आधुनिकता के प्रभाव में विभिन्न परिवर्तनों के अनुकूल हम अपनी प्रतिभा प्रबन्धन को विकसित नहीं कर सके, क्योंकि अक्षर हमारे समाज के लिए एक अनजाना और नया माध्यम था। यहीं से आदिवासी समाज में हीनता की भावना पैदा होती है। जिससे आज वह भिन्न–भिन्न तरीके से मुक्त होने के लिए संघर्षरत है।

पारम्परिक ज्ञान की जानकारी से हमारी दुनिया बदल सकती है इसके महत्त्व को समझने में अब तक हमारे साक्षर लोगों को कठिनाई होती रही है। वे ज्ञान के महत्त्व को समझते हैं, लेकिन ज्ञान का माध्यम शब्द हैं, इस महत्त्व को समझ सकने में अब भी काफी पीछे हैं। शब्दों की गहराई में छिपे विकास के पक्ष को न तो देखा, न ही आज तक किसी ने ऐसा माना। परिणामत: आज की तारीख तक हमने अपनी पहचान गरीब, संघर्षशील समाज के रूप में बना तो पाये हैं। लेकिन अपने को परिणामदायी, सन्तुलित समाज के रूप में विकसित नहीं कर पाये हैं। क्योंकि हमने हमारे जीवन की सामूहिकता, अनुशासन, आपसी सद्भाव, परिश्रम, एकजुटता, आपसी सहयोग, समझदारी, ग्रामीण-तकनीकी-कलाकारी जैसे आवश्यक तत्त्वों की ताकत, ऊर्जा और गरिमा को वह पहचान नहीं दे सके जो कि दे सकते थे। हम अपनी निरक्षरता के कारण हमेशा एक अदृश्य हीनताबोध से ग्रसित रहे। तथाकथित आधुनिकता चाहे वह सरकारी कार्यों, योजनाओं के माध्यम से आयी या किसी सामाजिक, धार्मिक प्रभावों से या समाज के तकनीकी विकास के प्रभाव से, इनके आगे नतमस्तक होते रहे। हम कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं विकास के मुद्दों को देश-समाज को समझाने में कहीं पर सफल जरूर हुए। लेकिन हर बार हमारी एकजुटता, व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण बाधित होती रही और हमारी सामूहिकता एवं एकता खंडित होती रही। फलत: क्रान्ति एवं विकास का पाठ पढ़ाते अधिकांश लोगों ने आदिवासियों को छलने और उनकी गरीबी और निरक्षरता का मजाक उड़ाने का कार्य अधिक किया है और अपनी प्रसिद्धि, स्वार्थसिद्धि, निजी लाभ के लिए भी इसका उपयोग किया है। ऐसे ईमानदार प्रयास कम हुए हैं जहाँ उनके दु:ख, तकलीफों, भावनाओं, परम्पराओं, जरूरतों को आधुनिकता से जोड़कर देखा, समझा गया हो और उन्हें सचमुच में अन्दर से मजबूत करने की चेष्टा हुई हो। इस दृष्टिकोण से देखें तो ग्राम पंचायतें, सभाएँ ग्रामीण और आदिवासी इलाके में बहुत कुछ कर सकती हैं।

ग्रामीण-आदिवासी इलाकों में ग्राम पंचायतें, सभाएँ क्या कर सकती हैं।

ग्राम सभाएँ— सिंचाई सुविधा, सड़क निर्माण या सुधार, कृषि सुधार, शिक्षा आदि लोक कल्याणकारी सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन मात्र के लिए नहीं होनी चाहिए और उन्हें अपने कार्यक्षेत्र में इसके अतिरिक्त भी कुछ और कार्य व्यवस्थित ढंग से, सलीके से करना चाहिए। जैसे बिजली व्यवस्था के लिए वे सौर ऊर्जा के प्रयोग के बारे में भी वैकल्पिक प्रबन्ध के बारे से सोचें या बिजली का इन्तजार करने के बदले पंचायत में सौर-ऊर्जा-संयन्त्र की स्थापना के बारे में कार्य करें। ग्राम सभाएँ इस मामले में स्पष्ट रहें कि उन्हें अपनी सभा के हर सदस्य, परिवार एवं ग्राम के हर सम्भावित विकास कार्यों को करना है। इसके लिए उन्हें बूँद-बूँद से सागर भरता है की रणनीति अपनानी होगी और धैर्य, मेहनत, आपसी समझदारी से एकजुट होकर कार्य करना होगा। सभाएँ, बड़े-बड़े प्रोजेक्ट पर काम करने के बदले आरम्भ में छोटे-छोटे कार्यों से इसकी शुरुआत करें तो उचित होगा।

नीचे कुछ सम्भावित कार्यों की सूची दी जा रही है। लोग इसमें अपनी सुविधा के लिए और भी सकारात्मक पहलुओं को जोड़ने के लिए स्वतन्त्र हैं, जिसे पंचायत, ग्राम सभाएँ लागू कर स्थानीय हित में अधिक कल्याणकारी बना सकती हैं–

1. **साक्षरता और कम्प्यूटर साक्षरता–** यह कहना हास्यास्पद लग सकता है लेकिन सच है कि अब हमें साक्षरता के अलावा कम्प्यूटर साक्षरता के लिए भी अधिक-से-अधिक कार्य करना है। क्योंकि भविष्य में जो पंचायत क्षेत्र जितना अधिक कम्प्यूटर साक्षर होगा उसके विकास की सम्भावनाएँ उतनी अधिक होंगी। दूर संचार में हुई क्रान्ति एवं युवा-वर्ग के वर्तमान रुझान को देखकर यह सम्भावना बनती है।
2. **शौचालय एवं जल निकास की समुचित व्यवस्था–** जहाँ आबादी अधिक हो तो इससे स्ट्रीट लैम्प या ऐसे सार्वजनिक स्थलों के लिए इसका उपयोग रोशनी के लिए किया जा सकता है।
3. **कृषि उपज या वनोपज की वाजिब कीमत मिलने की व्यवस्था–** सम्प्रति देखा जा रहा है कि कई बार कुछ इलाकों में वे अपनी उपज की वाजिब कीमत नहीं पाते। उन्हें अपनी उपज की इतनी कम कीमत मिलती है जो उनके उपज को बाजार तक लाने से भी कम होती है जैसे बूंडू तमाड़ के आसपास के इलाकों में जाड़े के समय टमाटर एवं बैंगन उपजाते किसानों के अनुभवों से यह स्पष्ट है।
4. पारम्परिक और लुप्तप्राय परिधानों को पुनर्जीवित करने का प्रयास कर सकती हैं।
5. सौर ऊर्जा के अलावा नदी या झरनों के जल प्रवाह का उपयोग छोटे कल आदि को चलाने के लिए करना और संसाधन विकसित करना। जहाँ कहीं छोटी नदी या अन्य इसी तरह का जल प्रवाह है वहाँ गेहूँ सिंचाई या अन्य उपयोगी यन्त्र स्थापित करने के बारे में कार्य किया जा सकता है। इनमें स्थानीय प्रतिभाओं को कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाय।
6. **बैंकिंग, बचत, बीमा हेतु साक्षरता अभियान–** कम-से-कम हर परिवार के हर सदस्य का नहीं तो कम-से-कम एक सदस्य का राष्ट्रीयकृत बैंक में खाता हो। आज बैंकों में बिना राशि के खाते खोले जा रहे हैं। पंचायत या सभा इसमें तल्लीनता से सहयोग करे। आदिवासी समाज में बचत को प्रोत्साहन दिया जाय और छोटी-छोटी राशि को जमा करने के लिए प्रेरित व शिक्षित किया जा सकता है। यही बात फसल बीमा आदि के बारे में भी हो।
7. लुप्त हो गयी या हो रही शिल्प कलाओं का पुनरुद्धार। अधिकांश ग्रामीण बढ़ई का थोड़ा-बहुत काम कर ही लेते हैं और कृषि एवं घर की आवश्यकता के अनेक उपकरण, सामान घर में ही बनाते रहे हैं। ऐसे कुशल लोगों को थोड़ा प्रशिक्षण देकर खिलौने या सजावटी सामान बनाने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। गाँव में ऐसे कई लोगों को देखा था जो लकड़ी से कई तरह के सामान बना देते थे। कुछ तो सबई घास से विभिन्न तरह की आकृतियाँ बना लेते थे।

आज शहरी इलाकों में ऐसी कलाकृतियों की माँग भी है और पहले की तुलना में मान–सम्मान और दाम भी। आज ऐसे देशज कलाकृतियों के कद्रदान भी हैं खरीददार भी। पंचायतें मिल–जुलकर अपने क्षेत्र में उपलब्ध कच्चे माल और प्रतिभाओं के माध्यम से ऐसी सम्भावनाओं पर विश्लेषण कर, कार्य कर सकती हैं। बाँस, पुआल, लकड़ी, रस्सी आदि से बनायी जाने वाली विभिन्न देशज कलाकृतियों के निर्माण को प्रोत्साहन एवं संरक्षण ग्राम सभा एवं पंचायत द्वारा किया जा सकता है।

8. चिकित्सा एवं स्वास्थ्य केन्द्र की स्थापना जहाँ समय–समय पर स्वास्थ्य जाँच शिविर भी लगे।
9. **पौष्टिक भोजन के बारे में जागरूकता–** आदिवासी क्षेत्र प्राय: अपनी गरीबी के लिए अभिशप्त रहे हैं। फलत: भोजन को केवल पेट भरने के माध्यम से ही देखा है। अब भी गाँवों में ऐसे खाद्य– फल, फूल, पत्ते आदि उपलब्ध हैं जिसका उपयोग कर, वे भोजन को विविधतापूर्ण और पौष्टिक बना सकते हैं। प्राय: हर छोटे–बड़े परिवार घर के सामने कुछ पेड़–पौधे रोपते हैं या उनका अपना बगान–बारी होता है। वहाँ मौसमी सब्जियों के अलावा मुनगा, फुटकल, कटहल, जिरहुल, कोयनार, पपीता, आँवला या इसी तरह के अन्य तरह के पेड़–पौधे रोपे जा सकते हैं। कोयनार, जिरहुल आदि को प्राय: जंगलों में ही देखा जाता है। इसे घर के आस–पास या बगान–बारी के आस–पास या अन्य सुविधाजनक स्थानों में रोपकर इसका लाभ लिया जा सकता है। निश्चय ही ये तुरन्त लाभ नहीं देंगे लेकिन गाँव में अल्पावधि एवं दीर्घावधि में लाभ देनेवाले दोनों प्रकार के योजनाओं पर कार्य हो तो अच्छा।
10. पर्यटन को आकर्षित करने के लिए पंचायत क्षेत्र के सम्भावित दर्शनीय स्थल की देख–रेख और उसका प्रचार। पर्यटकों की सुविधा हेतु सड़क, पिकनिक स्थल, पानी, भोजन, नाश्ते आदि की पारम्परिक व्यवस्था। पर्यटकों को सुरक्षा एवं सम्मान से घुमाने की व्यवस्था। यही पर्यटकों से भी अपेक्षा रहेगी। इस बारे में लिखित सूचना इन पर्यटक स्थलों पर दर्शायी जाय और इसका उल्लंघन करने पर सजा का प्रावधान हो। हर भोजन या कार्य के लिए निर्धारित दर तय हो और इससे कम या अधिक कोई ले, न दे। अगर कोई देना चाहे तो वह पंचायत या सभा को दान देगा जिसकी रसीद या विवरण पर्यटक सम्बन्धित रजिस्टर में लिखा जायेगा। यह राशि उस पर्यटन स्थल के विकास या किसी सामूहिक उत्सव के लिए या सभा या पंचायत द्वारा निर्धारित कार्य के लिए खर्च की जा सकेगी।
11. ग्राम पंचायत की किसी एक समस्या या उपलब्धि के बारे स्थानीय मीडिया में स्थान देने का प्रयास महीने में कम–से–कम एक बार।
12. जिन इलाकों में सम्भव हो वहाँ छऊ या नाटक आदि खेलने को प्रोत्साहित किया

जाय और सस्ते मनोरंजन एवं फूहड़ता से बचा जाय।

13. धुमकुड़िया, गिती ओड़आ, अखड़ा जैसी परम्परा को आधुनिक सन्दर्भ में पुनर्जीवित किये जा सकते हैं। इन्हें, परम्पराओं के संरक्षण केन्द्र के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान केन्द्र, विचार-विमर्श केन्द्र के रूप में विकसित करने का प्रयास किया जा सकता है।
14. स्थानीय वेशभूषा को पुनर्जीवित कर लोकप्रिय बनाने की कोशिश। पर्यटक स्थलों में इन पारम्परिक वेश-भूषाओं की बिक्री के साथ-साथ पर्यटकों के लिए इन्हें पहनकर फोटो खिंचवाने की सुविधा।
15. **पुस्तकालय की व्यवस्था**– प्रत्येक ग्राम सभा हिन्दी, अँग्रेजी के अलावा स्थानीय भाषा की किताबें, पत्रिकाएँ एवं शब्दकोशों की एक छोटी लाइब्रेरी अवश्य बनायें। स्कूली छात्र महीने में कम-से-कम दो किताब या पत्रिका पढ़ें या लाइब्रेरी में सप्ताह में कम-से-कम दो-तीन घंटे कुछ पढ़ें– इसका ध्यान रखा जाय। आरम्भ में रंगीन चित्रों से युक्त छोटे-छोटे विवरण वाले किताबों पत्रिकाओं को प्राथमिकता दी जाय और फिर उनकी रुचि की किताबें दी जा सकती हैं।
16. स्थानीय उत्पाद को अधिक आमदनी देने लायक बनाकर, कच्चे माल को सेमी फिनिश्ड या फिनिश्ड मैटेरियल के रूप में या पैकेट में बेचने के बारे सोचना, कार्य करना और उसकी मार्केटिंग में सहयोग।
17. **पशु पालन**– गाय, भैंस, बकरी, भेड़ से सम्बन्धित हर प्रकार के आमदनी या व्यवसाय लाभ के प्रति और जागरूकता और कार्य।
18. फलदार, छायादार और जल-स्तर को ऊपर लाने वाले पेड़, पौधों के बारे में जानकारी और पूरे पंचायत में इसके लिए विकास कार्य करना। निकटवर्ती पंचायतों से भी सहयोग एवं चर्चा कर कार्य करना।
19. इसी तरह वातावरण को नुकसान पहुँचाने वाले पेड़-पौधों के बारे में जानकारी और जागरूकता लाने की कोशिश हो।
20. पंचायत के हर परिवार के वार्षिक आय में कैसे वृद्धि की जाय इस पर कार्य योजना बनाना और तत्सम्बन्धी सहयोग।
21. लुप्त होते औषधीय गुण वाले पेड़-पौधों का संरक्षण और संवर्द्धन।
22. इमारती लकड़ियों के संरक्षण एवं उत्पादन दोनों पर कार्य।
23. स्थानीय लोकगीत, लोकवाद्यों के प्रोत्साहन के लिए साल में कम-से-कम एक-दो कार्यक्रम जिसमें आधुनिक वाद्य यन्त्रों को भी पारम्परिक गीतों के साथ शामिल करने की कोशिश हो या एक ही कार्यक्रम में अलग-अलग आयोजन।
24. स्थानीय रीति-रिवाज, स्थानीय धार्मिक स्थलों का सम्मान।
25. आदिवासी इलाकों में स्थानीय रीति-रिवाज या स्थानीय आध्यात्मिकता/धार्मिक स्थलों (सरना, जाहेर, मसना आदि) के प्रति अपमानजक कृत्यों के लिए दंड का प्रावधान।

26. अपनी मातृभाषाओं में गीत गायन एवं कविता, कहानी लेखन प्रतियोगिताएँ आयोजित की जा सकती हैं। विजेताओं को सम्मानित, पुरस्कृत किया जा सकता है।
27. **सूचना बैंक बनाना**– पंचायत की आवश्यकता के अनुकूल हर तरह की सूचना बैंक बनायी जाय। कृषि, पढ़ाई–लिखाई, नौकरी, बाजार सम्बन्धी, स्वास्थ्य, और अन्य विषयों की जानकारियाँ, विवरण आदि उपलब्ध हों।
28. मौसम के अनुसार स्थानीय खेल, नृत्य, गीत आदि की जानकारी।
29. पारम्परिक वाद्य यन्त्रों को बजाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। बच्चों की रुचि के अनुसार उन्हें बाँसुरी, ढोल, माँदर, नगाड़ा आदि में से कोई एक या सभी कुछ बजाना सिखाया जाय।
30. वार्षिक जतरा या अन्य किसी अवसर पर आयोजित प्रतियोगिता के लिए इन्हें तैयार किया जाय।
31. साल में किसी विशेष कार्यक्रम में पंचायत किसी विशिष्ट विद्वान, कलाकार, अधिकारी, विशेषज्ञ को आमन्त्रित करे जिससे उस पंचायत के लोगों को कुछ और कर दिखाने का बल, प्रोत्साहन या नयी दिशा मिल सके।
32. व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान के लिए सहयोग। गाँव की पंचा, मदाइत परम्परा द्वारा।
33. नशीले पदार्थ या पेय को छोड़कर अन्य पारम्परिक खान–पान के तरीकों का संरक्षण एवं प्रोत्साहन।
34. शराब के उच्छृंखल प्रयोग पर नियन्त्रण और जो परिवार शराब बिक्री पर आश्रित हैं उनके लिए वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था सुनिश्चित करना।
35. 'कोड़ा राजी' जाने वाले मजदूर पलायन को रोकना, वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था सुनिश्चित करना।
36. निकटतम साप्ताहिक बाजार में आने–जाने के लिए सुव्यवस्था। लोग अपनी उपज या फसल सही दाम पर बेच सकें इसका ध्यान रखना।
37. किसानों को उनके हित सम्बन्धी बीमा, चिकित्सा बीमा आदि के बारे में जानकारी मुहैया कराना।
38. सामान्य कानून की जानकारी।
39. महिलाओं में स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के प्रति और अधिक जागरूकता।
40. पारम्परिक कृषि तरीके, बीज, खाद और आधुनिक तरीकों, खाद–बीज के प्रयोग पर जागरूकता जगाना एवं इनके प्रयोग पर सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश करना।
41. पंचायत की आवश्यकतानुसार पशु चिकित्सा केन्द्र में– समय–समय पर पशु चिकित्सक को बुलवाया जाय।
42. तालाब या छोटे बाँधों का निर्माण कर सिंचाई की व्यवस्था।

43. मछली एवं मधुमक्खी पालन को प्रोत्साहन।
44. फुटकल, कटहल, जामुन, आम, अमरूद, नाशपाती, शरीफा, पपीता, आँवला, आमड़ा, नींबू, नीम, इमली, कुसुम, करंज, हर्रे, बहेड़ा, गूलर, केन्दू, पियोर-पिठोर आदि पेड़-पौधों का पंचायत के इलाके की मिट्टी की जाँच कराकर पर्याप्त संख्या में लगाना कि वे गाँव के आर्थिक विकास के अविभाज्य हिस्सा बन सकें।
45. पतरा और जंगलों में सखुआ, गुंगू और तेन्दू पत्तों के अधिक उत्पादन के बारे में कार्य किया जाय।
46. मिट्टी के पारम्परिक घरों को आकर्षक और सुघड़ बनाने के लिए सुधार-कार्य।
47. घरों को लीपने-पोतने की पारम्परिक कलाओं को विकसित करना, प्रोत्साहित करना।
48. दसवीं, बारहवीं एवं स्नातक या अन्य विशेष परीक्षा पास करने वालों को पंचायत अपने स्तर पर सम्मानित करे, पुरस्कृत करे।
49. जो गाँव, जंगल के आस-पास हों तो जंगल की सामूहिक सुरक्षा के कार्य भी करें और अनावश्यक पेड़ काटे जाने को रोकें। साथ ही वन को और उपयोगी बनाने के बारे विशेषज्ञों की राय लेकर कार्य करें। लुप्तप्राय पेड़, पौधों, जड़ी-बूटियों को फिर से उगाने के लिए प्रयास करें। पशु पक्षी के संरक्षण पर भी ध्यान दिया जाय।
50. सौर ऊर्जा या बिजली जैसी भी सुविधा हो शाम को कम-से-कम चार घंटे हर घर में रोशनी की व्यवस्था हर पंचायत/ग्राम सभा में।
51. बाजार, ब्लॉक, स्कूल, कॉलेज, अस्पताल या निकटवर्ती शहर तक जाने के लिए साइकिल या अन्य वाहन चलने लायक सड़कों का निर्माण।
52. उद्यमिता बढ़ाने के लिए युवाओं को प्रोत्साहित करना। उपयुक्त वातावरण तैयार करना।
53. उनके अन्दर के रुझान को समझकर उन्हें सम्बन्धित कार्य की ओर प्रवृत्त करना और रोजगार मुहैया करना।
54. प्रतिभाशाली बच्चों को आगे बढ़ने के लिए जरूरत हो तो हर तरह की मदद उपलब्ध कराना।
55. गाँव में 'स्वयं सहायता समूहों' को अपने बल पर चलाने की कोशिश करना। इसके लिए सरकारी या अन्य कोई सहायता न ली जाय तो अच्छा।
56. पंचायत में सामुदायिक कम्प्यूटर केन्द्र जहाँ इंटरनेट की सुविधा हो।
57. झारखंडी इतिहास पुरुषों से सम्बन्धित कार्यक्रमों का सकारात्मक आयोजन।
58. इसी तरह अखिल भारतीय स्तर के वैज्ञानिक, विचारक, आविष्कारकों के बारे में चर्चा की जाय या साल में किसी एक महान व्यक्ति के बारे प्रदर्शनी, विचार-गोष्ठी, क्विज आयोजित की जाय।

59. दर्शनीय स्थलों के आस-पास पारम्परिक तौर-तरीकों के साथ पर्यटकों को रहने, खाने की सुविधा दी जाय। लेकिन बदतमीज पर्यटकों से सख्ती से निपटने की व्यवस्था हो।

60. पंचायत अपने स्तर पर या कुछ पंचायत मिलकर ज्ञान-यात्रा का आयोजन करें और ऐसे इलाकों की यात्रा करें जहाँ से उन्हें अपने गाँव के विकास कार्यों को बढ़ाने में सहायता या जानकारी मिल सकती है। वहाँ से मिली जानकारी को आकर पंचायत के लोगों को सामूहिक तौर पर बताना और अपने अनुभवों को अपनी भाषा में लिखना, चर्चा करना।

61. पारम्परिक फूलों की खेती में सहयोग। जैसे शहरों में विभिन्न त्योहारों के कारण अक्टूबर-नवम्बर में गेंदें के फूलों की बहुत माँग होती है। इसके लिए सहयोग एवं बाजार की तलाश एवं बिक्री में सहयोग। इसी तरह झारखंड में अन्य प्रकार के पारम्परिक फूल एवं व्यावसायिक फूलों की खेती के बारे में पहल की जा सकती है। युवा कृषि वैज्ञानिकों से इस सम्बन्ध में सहायता ली जाय।

62. कृषि या ग्रामीण तकनीकों से सम्बन्धित सभी प्रकार के आविष्कारों की जानकारी का संग्रह और जो उपकरण या मशीन क्षेत्र विशेष के लिए उपयोगी लगे उसके प्रयोग के लिए पहल और कार्य।

63. ऐसे चूल्हों का प्रयोग या ऐसी व्यवस्था के बारे में कार्य करना जिससे कि घर में धुआँ ज्यादा न फैले।

64. अन्न एवं बीज भंडारण के लिए पारम्परिक एवं आधुनिक तरीकों का समन्वय।

65. ग्रामीण तकनीक को आधुनिक उपकरणों से जोड़कर या अन्य तरीकों से उपयोगी बनाने के बारे में सोचना और ऐसे कार्यों में रुचि दिखाने वालों को उत्साहित करना।

66. पंचायत में एक पारम्परिक सालाना जतरा, जलसा या कोई अन्य कार्यक्रम जरूर आयोजित किये जायें। जहाँ साल-भर पंचायत में अच्छा करने वाले या कोई विशिष्ट उपलब्धि हासिल करने वाले व्यक्तियों को सम्मानित किया जाय। ऐसे कार्यक्रमों में फिजूलखर्ची एवं दिखावा से बचने का प्रयास किया जाय।

67. आदिवासी समाज के बेहतर छवि निर्माण के लिए प्रयासरत रहना। यह एहसास करना और कराना कि रिजर्व कोटे के होने के कारण उनके दिल, दिमाग, उद्यमिता, ईमानदारी, श्रमसाध्यता, एकजुटता, टीम-भावना भी रिजर्व नहीं हो गयी हैं। वे भी अन्य लोगों की तरह बेहतर कार्य कर सकने में सक्षम हैं। इस दृढ़ता के साथ हमेशा काम करना।

68. अर्थशास्त्री, प्रशासक, समाजविज्ञानी, विद्वान, वैज्ञानिक, बैंकर, राजनीतिज्ञ सभी आम आदमी के विकास की बात करते हैं, लेकिन उनके प्रयास व्यावहारिक रूप में आम आदमी तक पहुँच नहीं पाते। ग्राम पंचायतों, सभाओं में वह क्षमता है कि वे आम आदमी के बिल्कुल करीब होने के कारण उनकी समस्याओं का समाधान

और विकास कार्य ज्यादा तेजी और अच्छे तरीके से कर सकते हैं।

69. यह कहना बहुत लोगों को अच्छा नहीं लग सकता है कि ग्रामीण, आदिवासी के पास सबसे बड़ी ताकत उसकी गरीबी है। आज तक गरीबी से मुक्ति की चाह, घर छोड़कर, कोड़ा राजी जाने के लिए विवश करती रही है। लेकिन अब समय आ गया है कि वे अपनी पिछली तकलीफों को भुलाकर, पंचायतों के माध्यम से अपनी हर तरह की योग्यताओं का उपयोग– अपने हर प्रकार के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषिक, आध्यात्मिक, शैक्षिक विकास और बेहतर भविष्य के लिए एकजुट होकर करें। सभी कुछ–न–कुछ करते हुए, खुद पर भरोसा करें, एक नयी जिन्दगी उनका इन्तजार कर रही है। आखिर जो हाथ–पैर, हल–कुदाल चलाकर, ईंटें ढोकर, लोगों के सस्ते मजदूर बनकर, खेतीबारी करके, दूसरों को आबाद कर सकते हैं, उनकी सुख, शान्ति, समृद्धि के कारण बन सकते हैं, क्या वे हाथ–पैर खुद अपने सुख, शान्ति, खुशहाली के कारण नहीं बन सकते हैं? जरूर बन सकते हैं। हताशा, निराशा, हीनता और कुंठाओं का त्याग कर स्वयं को मानसिक रूप से मजबूत करें। नकली आत्मविश्वास से बचते हुए पंचायतें अन्य कार्यों के अलावा इसके लिए प्राथमिकता के आधार पर कार्य करें।

उपर्युक्त सभी पर एक ही साथ काम करने की जरूरत नहीं है। पंचायतें अपनी सुविधा, संसाधन एवं जरूरत के मुताबिक सरकारी नीतियों के कार्यक्रमों के अलावा इन पर भी ध्यान दें और धीरे–धीरे हर बिन्दुओं पर, जो इनके लिए जरूरी हैं, वे काम करें। अपनी प्राथमिकताएँ तय कर वे उसी मुताबिक कार्य करें। लोकतन्त्र में विकास के इस सबसे निचले इकाई में जितनी अच्छी तरह हम कार्य करेंगे, जनता एवं देश को उतना ही मजबूत बनायेंगे।

देश का छोटे–से–छोटा अधिकारी, अखबार, नेता सभी अपना कार्य आरम्भ करते शपथ लेते हैं, प्रण लेते हैं कि वे गरीब–दु:खियों की सेवा करेंगे, उनकी आवाज बनेंगे उनके विकास में सहयोग करेंगे। लेकिन बाद में वे सभी यह भूल जाते हैं और अपने विकास में लग जाते हैं। ग्राम सभा– लोकतन्त्र एवं जनता को निचले स्तर पर पुख्ता करने का सबसे उपयोगी माध्यम है। इसे गम्भीरता से समझा जाय और इस सन्दर्भ में प्रदत्त संवैधानिक प्रावधानों का बेहतर तरीके से उपयोग किया जाय।

आधुनिकता के प्रभाव में हम बॉलीबुड एवं हॉलीवुड फिल्मों के कृत्यों का अन्धानुकरण करने लगे हैं, जिसका दुष्प्रभाव हमारे समाज में दिखने लगा है। ऐसे में हमारे जीवन–रसों, सपनों, आकांक्षाओं को, हमारी सामाजिकता के अनुकूल विकसित करना एक बड़ी चुनौती है। ग्राम सभाएँ, ग्रामीण और आदिवासी इलाकों में यह कार्य बेहतर तरीके से कर सकती हैं बशर्ते सामूहिक–विकास एवं सम्पन्नता के लिए स्थानीय प्रतिभा, व्यक्ति, परिवार और समुदाय के पारस्परिक सम्बन्धों को केन्द्रबिन्दु में रखकर काम किया जा सके।

सन् 2006

बौद्धिक उलगुलान लाने के लिये प्रयासरत–सीताराम मुंडा

'पिछले छह सालों से कोलकाता पुस्तक मेले में स्टॉल लगा रहा हूँ और अभी तक मुझे स्टॉल लगाने में कोई कठिनाई या परेशानी नहीं हुई है। बल्कि कई बार लोगों ने तो मेरी काफ़ी सहायता ही की है।' यह कहना है 48 वर्षीय सीताराम सिंह मुंडा जी का जो पिछले सात वर्षों से विशेष विषय पर विशेष पाठकों के लिए किताबें उपलब्ध कराने की कोशिश करते रहे हैं। सीताराम जी दरअसल आदिवासियों के लिए या आदिवासियों के बारे में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए आदिवासियों से सम्बन्धित किताबें ही अपने केन्द्र में रखते हैं, उनकी भाषा, संस्कृति, इतिहास, सामाजिक, आर्थिक विषयों या समस्याओं पर लिखित देशी–विदेशी लेखक या प्रकाशक की किताबें ही हैं उनके पास।

उनसे 98 के जनवरी में कोलकाता पुस्तक मेले में मुलाकात हुई और यह देखकर हैरान रह गया कि कोई इस तरह सिर्फ आदिवासी समुदाय को जगाने के लिए किताबें बेचने को जीवन का एकमात्र लक्ष्य भी बना सकता है! उस समय के बाद कोलकाता के हर पुस्तक मेले में मुलाकात होती रही है। कोलकाता के प्रबुद्ध आदिवासी समुदाय के लोग प्राय: वहाँ मिल जाते हैं। वहाँ ऐसे कई प्रबुद्ध लोगों से मुलाकात हुई है। कहना न होगा कि उनका पुस्तक केन्द्र मेले में अपनी अलग पहचान बनाने के लिए संघर्षरत है। सिर्फ कोलकाता ही नहीं, कहना होगा– पूर्वी क्षेत्र के लगभग हर बड़े पुस्तक मेले में वे जाते–आते रहते हैं।

'आदिवासियों के लिए किताबें उपलब्ध कराने की की बात आपके मन में कैसे आयी?' जिज्ञासावश यह पूछने पर उन्होंने बताया कि 'कॉलेज में पढ़ते हुए अपने लोगों के लिए कुछ करने की बहुत इच्छा थी। एक जोश था, उत्साह था। अत: अपने गाँव रविबल्लभपुर में मुंडा समाज–सुधार समिति का गठन किया था और अपने मुंडा भाइयों को जागरूक बनाने का प्रयास किया। वे आर्थिक, सामाजिक रूप से उन्नत हों इसके लिए प्रयास भी किया, किन्तु सफलता नहीं मिली। फिर कुछ दिनों बाद नौकरी लग गयी तो कोलकाता चला आया। सन् 84 में कोलकाता पुस्तक मेले में पहली बार गया। फिर अगले साल भी गया। कई–कई स्टॉल घूमने पर भी मैं जो किताबें चाहता था मुझे नहीं मिली थीं, फलत: बहुत निराशा होती थी। मैं आदिवासी भाषा, संस्कृति, इतिहास, साहित्य के बारे में जानने के लिए किताबें चाहता था लेकिन, ऐसी किताबें मिल नहीं पाती थीं। इसलिए धीरे–धीरे, इधर–उधर से किताबें एकत्रित करने लगा। विभिन्न आदिवासी, गैर–आदिवासी विद्वानों के सम्पर्क में रहने का प्रयास किया और उनसे कुछ–न–कुछ पूछता रहता था। इसी तरह सन् 95 में मैं डॉ. सत्यनारायण मुंडा के पास राँची गया था। आते समय उन्होंने 'मुंडारी डिक्शनरी' की कुछ प्रतियाँ दीं और कहा कि 'लो इन्हें बेचो। मैं किताबें तो ले आया किन्तु कहाँ बेचूँ? कैसे बेचूँ? किन्हें बेचूँ? यह समझ नहीं पा रहा था। कई दिनों तक यह समझ ही नहीं पाया कि किताबों का क्या करूँ?'

फिर उन्होंने आगे बताना आरम्भ किया 'झाड़ग्राम' के करीब एक मेला लगता है

रोहिनी मेला। यहाँ संताल समाज आता है। गाँव के छोटे-बड़े संताल लेखक मेले में आते हैं। कई लोग गमछा बिछाकर वहीं किताब बेचना आरम्भ कर देते हैं। आदिवासी समाज का किताबों के प्रति यह जागरूकता मुझे बेहद अच्छी लगती रही है। यह देख लगता है कौन कहता है आदिवासी समाज पिछड़ा है? अत: एक बार मैं इसी मेले में अपनी किताबों का संग्रह यूँ ही प्रदर्शित करने के लिए ले गया। क्योंकि मुझे लगता था कि उन्हें और भी किताबें पढ़नी चाहिए। मेले में कई लोग आये। लोगों ने मेरे संग्रह को देखा। कइयों ने किताबों के बारे जानकारी चाही। मैंने खुशी-खुशी उन्हें जानकारी दी। किताबों के बारे में ऐसी जिज्ञासा देख मुझे बहुत अच्छा लगा कि किताबों के बारे लोग गहरी रुचि रखते हैं। तब लगा कि अपने लोग भी किताबों के प्रति जागरूकता रखते हैं किन्तु उन्हें जरूरत की किताबें मिल नहीं पातीं। यदि उन्हें किताबें उपलब्ध करायी जायें तो वे अवश्य पढ़ेंगे। इसी मेले में एक व्यक्ति ने महाश्वेता देवी का बिरसा मुंडा के जीवन पर लिखा उपन्यास अरण्येर अधिकार खरीदना चाहा। मैं न चाहते हुए भी वह किताब बेच दिया, क्योंकि यह किताब कोलकाता में उपलब्ध थी। दूसरी किताबों के भी एक से अधिक ग्राहक थे, किन्तु वे किताबें प्रकाशकों के पास उपलब्ध नहीं थीं अत: नहीं बेचा।'

'तब से लगने लगा कि किताबों के माध्यम से मैं अपने समाज के लिए कुछ कर सकता हूँ। अपने भाइयों के लिए कुछ कर सकता हूँ और तब कोलकाता पुस्तक मेले में प्रवेश के बारे में सोचने लगा। अन्तत: 98 में पहली बार मैंने यहाँ स्टॉल लगाया। कई लोग आये। नये मित्र भी बने। कुछ लोगों ने सिर्फ आदिवासी सम्बन्धी किताबों को हिकारत की नजर से भी देखा। फिर भी कई लोगों के द्वारा कुछ और किताबों के बारे में जानकारी मिली और यह सिलसिला हर साल बढ़ता ही जा रहा है। नये शुभचिन्तक भी पैदा हो रहे हैं।' सीताराम जी उत्साह से यह बताते जा रहे थे।

सीताराम जी बहुत व्यस्त रहते हैं। पूछेंगे उनसे कि 'रविवार को खाली हैं क्या?' तो प्राय: उत्तर मिलेगा कि वे व्यस्त हैं और वे कहीं पुस्तक प्रदर्शनी या मेले के लिए या किसी प्रकाशक से किताब लेने अथवा किसी लेखक या पाठक से किसी किताब की जानकारी लेने जा रहे या किताब देने जा रहे होते हैं।

'आप इतना व्यस्त रहते हैं किताबों को लेकर, कभी प्रकाशक, कभी लेखक तो कभी पाठक और यदि मेलों का मौसम रहा तो सिलदा मेला, रोहिनी मेला, पुरुलिया जिला पुस्तक मेला, कोलकाता के अलावा पटना, दिल्ली, राँची, जमशेदपुर, धनबाद, भुवनेश्वर आदि शहरों के अलावा गाँवों का भी दौरा करते रहते हैं। क्या परेशानी नहीं होती? मेरा मतलब है पत्नी नाराज नहीं होतीं?'

थोड़ा रुककर और पत्नी की ओर देखते हुए उन्होंने जवाब दिया 'जब वह यह नहीं समझती थीं उसे जरूर यह अटपटा लगता था। अब तो लगभग सारा काम वही सम्हालने लगी हैं।'

'किताबों के लिए इतनी भाग-दौड़ करते कभी ऐसा तो नहीं लगता कि यह बेकार है या आप अकेले हैं?'

'शुरू के वर्षों में जरूर ऐसा लगता था कि मैं अकेला हूँ। किन्तु, एक बार ऐसा हुआ कि डॉ. रामदयाल मुंडा जी दिल्ली से अपने साथ करीब 40-50 किलो वजन के किताबों का बंडल स्वयं उठाकर लाते हुए पसीने से तर-बतर मेरे घर पहुँचे और उन्होंने पसीना पोंछते कहा– 'यह तुम्हारे लिए' मैं आश्चर्यचकित रह गया! लगभग फटी आँखों से कुछ देर तक मैं उन्हें देखता रहा। लेकिन, मुझे उस दिन इतनी खुशी हुई कि क्या बताऊँ? और तभी लगा कि मैं अकेला नहीं हूँ। डॉ. रामदयाल मुंडा जैसे अन्तरराष्ट्रीय विद्वान का सहयोग और स्नेह पाकर मेरा आत्मबल भी बढ़ा और कुछ करने का उत्साह भी पैदा हुआ और मैं अधिक किताबों के बारे जानकारी प्राप्त करने में जुट गया।' सीताराम जी जब यह बता रहे थे उनकी आँखों में आत्मविश्वासपूर्ण चमक उभर गयी थी और चेहरा गर्व से खिल रहा था।

'आपसे कैसे लोग किताबें लेते हैं मेरा मतलब है कैसे लोग किताबें खरीदते हैं?'

'सभी तरह के लोग हैं। छात्र, शिक्षक, सरकारी विभागों में कार्यरत क्लर्क के अलावा सरकारी, गैर-सरकारी संस्थानों में कार्यरत अधिकारियों, समाजसेवियों से लेकर आई.ए.एस. अधिकारी तक मेरे यहाँ से किताबें लेते हैं। भुवनेश्वर के सांसद श्री चन्द्रमोहन सिंह, प्रोफेसर सनातन मुंडा मुझसे से नियमित रूप से किताबें लेते हैं।' उन्होंने बताया।

सीताराम सिंह मुंडा के पास देशी विदेशी-विद्वानों की हिन्दी, अँग्रेजी, बँगला, संताली, मुंडारी, कुड़ुख, हो, कुर्माली, नागपुरी, पंचपरगनिया आदि भाषाओं में किताबें उपलब्ध हैं। फादर बैपटिस्ट हॉफमैन की मुंडारिका इन्साइक्लोपीडिया, बोडिंग की संताल डिक्शनरी के अलावा ओ. मेली, डब्ल्यू. जी. आर्चर, एस.सी. राय, वेरियर एल्विन जैसे विद्वानों की चर्चित किताबों के अलावा समकालीन डॉ. कुमार सुरेश सिंह, महाश्वेता देवी, पशुपतिनाथ महतो से लेकर हिन्दी, बँगला तथा विभिन्न आदिवासी भाषाओं में पुराने, नये लेखकों की भी किताबें उपलब्ध हैं।

'किन्तु ये तो कम हैं'

'धीरे-धीरे जमा कर रहे हैं किताबें। थोड़ी पूँजी की कमी है। काम को व्यवस्थित करने हेतु बड़ी कठिनाई से कम्प्यूटर लिया है ताकि तेजी से खरीद-बिक्री एवं सूचनाओं का आदान-प्रदान कर सकूँ, बेहतर किताबें जल्द-से-जल्द तलाश सकूँ और अपने प्रिय ग्राहकों से सम्पर्क कर सकूँ।'

'भविष्य की क्या योजना है?'

'प्रकाशन का काम करना चाहता हूँ और ट्राईबल रिसर्च सेंटर खोलना चाहता हूँ।'

'कोलकाता में परेशानी नहीं होती?'

'नहीं, बंगाली भद्रलोक ने काफी समर्थन दिया है। कई लोग मेरे उद्देश्य को जानकर काफी प्रसन्न होते हैं और उन्होंने मेरी जरूरत के हिसाब से समय पर हर प्रकार की मदद की है। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।'

'इस बार सिलदा मेला नहीं गये?' पूछने पर वे उदास हो गये। फिर कुरेदने पर बताया कि 'पिछले एक-दो सालों के अनुभव ठीक नहीं रहे। वहाँ कुछ शुद्धतावादी जैसे लोग अब ओलचिकी में लिखी किताबें ही देखना चाह रहे हैं। एक तरह से यह ठीक है, लेकिन समग्र आदिवासी समाज के हित के नजरिये से देखें तो यह गलत है। कुछ लोगों ने बँगला, हिन्दी, अँग्रेजी किताबों का विरोध किया, अतः अब मैंने वहाँ जाना बन्द कर दिया' यह बताते सीताराम जी बहुत दुःखी लगे। उनके आवाज से इस दुःख को समझा जा सकता था।

'प्रकाशकों के अनुभव कैसे रहे?'

'कई बड़े प्रकाशक अब मुझे उधार में किताबें देने लगे हैं। अतः भविष्य में स्टॉक बढ़ने की सम्भावना है। मैं भारत के दूसरे क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासी समाज से सम्बन्धित किताबें भी रखना चाहता हूँ। स्टॉक बढ़ेगा तो निश्चय ही ग्राहक भी बढ़ेंगे और मैं ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को खासकर गाँवों में रहने वाले ग्राहकों को किताबें दे सकता हूँ जो कई कारणों से शहर नहीं आ सकते या बड़ी दुकानों में जा नहीं जा सकते।'

'आपने अपने पुस्तक केन्द्र का नाम काफी सोचकर रखा है।' दरअसल, उनके पुस्तक केन्द्र का नाम है सइल रकब पुथि सेंटर।

'हाँ, बिरसा ने सइल रकब में उलगुलान के चिन्तन-मनन किया करते थे, उसी को यादकर यह नाम रखा।'

'सच है।' लेकिन सीताराम सिंह मुंडाजी बौद्धिक उलगुलान करने में कितने सहायक होंगे यह तो वक्त बतायेगा, लेकिन उनके प्रयास सचमुच किसी उलगुलान से कम नहीं हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता बशर्ते आप उनकी थोड़ी-सी मदद करें। किसी पुस्तक मेले में अगली बार आपकी मुलाकात यदि सीताराम जी से हो तो कृपया उनकी सहायता अवश्य करें– उनकी जरूरत की किताबों की जानकारी देकर या अपनी किताबें उन्हें देकर या अपनी जरूरत की किताबें उनसे लेकर या अपनी जरूरत बताकर ही सही। उनका पता है–

सीताराम सिंह मुंडा
सईल रकब पुथि सेंटर
बिराटी आवासनी
एम.आई.जी. (यू) 11/12
नीमता, कोलकाता-700 049 फोन 033-2539 1067

सन् 2002

हम आदिवासियों के बारे में क्या जानते हैं?

इधर कुछ समय से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आदिवासियों पर उनकी समस्याओं पर काफी कुछ सामग्री आती रही है, जो अन्य वर्षों की तुलना में भाषा में तो अधिक रही ही,

साथ ही अपनी नवीनता एवं विचारोत्तेजकता के कारण सामान्य पाठकों एवं बुद्धिजीवी वर्ग के मानव को आन्दोलित करने में भी सफल रही, पर क्या यह प्रयत्न उन्हें राष्ट्रीय धारा से जोड़ने के लिए किया जा रहा है ? अथवा, लेखकों, पत्रकारों और सम्पादकों की जागरूकता के कारण ? या दोस्तों के बीच कुछ नया कर दिखाने के अति उत्साह के कारण ? या आदिवासियों की विद्रोही आवाजें सुनकर ? इन कारणों पर चर्चा फिर कभी यहाँ मतलब है उन शोधपूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण, साहसपूर्ण, संक्षिप्त एवं यदा-कदा विवरणात्मक लेखों, रिपोर्ताजों और संस्मरणों आदि से जो समय-समय पर विगत वर्षों में हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं या अध्ययन के अन्य साधनों में प्रकाशित होते रहे हैं।

ये लेखक बहुधा आदिवासी मसलों पर कुछ लिखते या लिखाते समय यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि एक पाठक-वर्ग इन आदिवासियों का भी है। अनेक बार आदिवासी पाठक-वर्ग के लिए यह सामग्री कभी हास्यास्पद तो कभी ऊब या खीझ उत्पन्न करने वाली होती है।

दोषपूर्ण उच्चारण : अँग्रेजी का अनुकरण

आदिवासियों से सम्बन्धित लेखों की छानबीन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि रचनाएँ अँग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकों के आधार पर तैयार की गयी हैं। कमोबेश यह प्रयास बुरा नहीं, लेकिन जब अँग्रेजी की स्पष्ट छाप इन लेखों पर दिखाई पड़ती है तो तकलीफ होनी स्वाभाविक है। यह, उन रचनाओं में प्रयुक्त आदिवासियों से सम्बन्धित शब्दों को बारीकी से देखने पर स्पष्ट प्रमाणित होता है। प्रसिद्ध आदिवासी स्वतन्त्रता सेनानी और 'बिरसा' को 'बीरसा' लिखना, उनके जन्मस्थान 'चलकद' को 'चालकाढ़' लिखना इसी अँग्रेजी अनुकरण के कारण है। 'उराँव' तथा 'खड़िया' जातियों को 'औराँव' और 'खरिया' लिखना भी यही सिद्ध करता है। इसी तरह कुछ आदिवासी नाम जो वास्तव में गोत्र हैं जैसे, 'केरकेट्टा', 'भेंगरा', 'लकड़ा' आदि को क्रमशः 'कर्कटा' या 'करकेट्टा', भेंगड़ा तथा 'लकरा' या कभी-कभी 'लड़का' लिखना भी इसी असमर्थता को सिद्ध करता है।

कभी-कभी क्षेत्र-विशेष की स्थिति के बारे में या अन्य जानकारी लेखक इतने मौलिक एवं शोधपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि दाँतों तले उँगली दबा लेनी पड़ती है। कुछ माह पूर्व एक सम्मानित एवं लोकप्रिय साप्ताहिक ने हमें ऐसी ही नयी जानकारी दी। उसके अनुसार बिहार सरकार के जनसम्पर्क विभाग द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक 'आदिवासी' एक मिशनरी पत्रिका है, जो झारखंड पृथक राज्य का समर्थन करती है।

प्रसंगवश इसका उल्लेख करना असंगत न होगा कि कुछ इसी तरह की गलती बिहार राज्य पाठ्य-पुस्तक प्रकाशन निगम द्वारा कक्षा तीन के लिए प्रकाशित पाठ्य-पुस्तक 'बिहार वैभव' में है। इसमें बताया गया है कि आदिवासी 'करमा' त्योहार मनाने के समय 'अखरा' में 'सखुआ' पेड़ की डाली गाड़ते हैं, होना चाहिए करम पेड़ की डाली।

सामाजिक आचार-व्यवहार को बिना समझे अक्सर इनके बारे में गलत धारणाएँ बना ली जाती हैं, इन आदिवासियों की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पल रहे पवित्र संस्कारों की ओर जरा गहराई से देखने का कष्ट वे उठाना नहीं चाहते।

यदि हम अपनी आँखें खुली रखें तो आदिवासी जन-जीवन से सम्बन्धित अनेकानेक नवीन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। मात्र साल या महुआ वनों, पहाड़ों या छोटी पहाड़ी नदियों, झरनों के बीच हाहाकार कर रही आदिवासियों की समस्याएँ ही ध्यातव्य नहीं हैं। अपितु कस्बों, शहरों और महानगरों की ओर दौड़ती-भागती अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए एक उपेक्षित एवं तथाकथित आधुनिक जीवन जीने को अभिशप्त हो रही नयी आदिवासी पीढ़ी की समस्याओं पर भी ध्यान देना होगा। इतिहास में उनके अस्तित्व की खोज या उनकी भाषाओं का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव आदि चुनौती भरे और अब तक लगभग अनछुए और अनसुलझे विषयों पर कार्य कर अध्ययन के नये मापदंड स्थापित किये जा सकते हैं।

आखिर समाधान क्या है?

जनजातियों के जीवन को सतही जानकारी रखने वाले लेखक-पत्रकारों की जमात ही अधिकांशत: पत्र-पत्रिकाओं में लिखती रही है। परिणामत: आदिवासी मसलों की पड़ताल में उनका आभिजात्य सही तथ्य उजागर करने में आड़े आता रहा है। आदिवासी समस्याओं को देखने-समझने एवं परखने के लिए जिस विशेष सूक्ष्म और पैनी आदिवासी निगाह की आवश्यकता होती है, वह उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाती।

आदिवासियों पर लिखने वाले लेखकों की इस कमी के कारण जहाँ एक तरफ दो भिन्न जातीय संस्कृतियों, रहन-सहन, रिवाजों और भाषाई भिन्नताओं में तादात्म्य स्थापित नहीं होता है, वहीं दूसरी तरफ उनके द्वारा अपनाया गया 'शॉर्टकट' रास्ता उन्हें आदिवासी जनजीवन की आत्मा की गहराई में न जाकर अँग्रेजी पुस्तकों का आश्रय ढूँढ़ने को विवश करता है।

फिर भी इसमें दो मत नहीं कि समसामयिक जटिल आदिवासी समस्याओं पर उत्साही और परिश्रमी युवा लेखकों, पत्रकारों ने कई विचारोत्तेजक एवं गवेषणात्मक लेख लिखे हैं, ये लेख आदि जहाँ प्रबुद्ध जनों और सत्ता के लिए चिन्तन के नये द्वार खोलते हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें हीन ग्रन्थि से मुक्त करने का श्लाघनीय प्रयास भी करते हैं।

आदिवासी समस्याओं को समझने के लिए या उन्हें राष्ट्रीय धारा से जोड़ने के लिए उनकी भाषा, रहन-सहन, संस्कृति, रीति-रिवाज और उनकी सामाजिक बनावट आदि की अन्तरंग व्यापक, समग्र एवं बारीक पहचान करनी होगी, उन्हें देखने-परखने और समझने के लिए हमने अपनी आँखों पर जो रंगीन चश्मा लगा लिया है उससे मुक्त होने का प्रयास करना होगा, उन पर थोपे गये अविश्वास और अन्य पूर्वग्रहों की दीवारों को तोड़ना होगा। बेहतर तो यह होगा कि शोध, लेखन या पत्रकारिता में रुचि रखने वाली, उत्साही आदिवासी युवा पीढ़ी इस दौड़ में सम्मिलित होने का प्रयास करें, तब परिणाम

निश्चय ही अभिनव, ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण होंगे। उन्हें स्वयं अपनी संस्कृति और अपनी समस्याओं के बारे में लिखना शुरू करना चाहिए।

अगस्त 1981, धर्मयुग

आदिवासी असंतोष की जड़ें

तरुण विजय के लेख 'जनजातियों में ही विद्रोह क्यों' (जनसत्ता, 9 जून) के संदर्भ में कुछ बातों पर ध्यान देने की जरूरत है। सही है कि आदिवासियों के लिए जनजाति शब्द का प्रयोग किया जाता है, लेकिन खुद आदिवासी इसे स्वीकार नहीं करते। प्रसिद्ध समाज विज्ञानी श्यामाचरण दुबे मानते थे कि किसी समुदाय को पुकारे जाने के लिए प्रयुक्त शब्द में पुकारे जाने वालों की मानसिकता झलकती है। दलितों ने दलित शब्द के लिए संघर्ष किया और आज उन्हें दलित कहा जाता है। नीग्रो लोगों ने अश्वेत (ब्लैक) कहलाने में सम्मान खोजा। इसी तरह अगर आदिवासी अपने लिए आदिवासी शब्द का चयन करना चाहता है तो उससे हमें क्यों गुरेज होना चाहिए? मामला उनके आत्मसम्मान का भी है।

आदिवासी विद्रोहों के कारण, अंग्रेजों के आगमन और आजादी के बाद आज तक की कहानी में सीमित नहीं है। इसकी जड़ें महाभारतकाल से भक्ति साहित्य तक फैली हुई है। कई इतिहासकारों ने बताया कि तिलका मांझी भारत के पहले आदिवासी विद्रोही रहे हैं। तब से सिद्धो, कान्हु, बिरसा मुंडा, तिलका मांझी, तात्या टोपे, कोल विद्रोह, तेलंगा खड़िया से लेकर पूरे भारत में आदिवासियों के विद्रोह, आंदोलन अब तक होते रहे हैं। अंग्रेजों ने जैसी मानसिकता आदिवासियों के लिए बनाई वही विरासत में आजाद भारत को प्राप्त है। वह आगे बदलेगी इसकी आशा कम है। आजादी के बाद समझा गया था कि अब ये विद्रोह नहीं होंगे, लेकिन विकास के झूठे वादे, सामंती उच्चता बोध, सामाजिक और प्रशासनिक स्तर पर उनसे अपमानजनक व्यवहार, उन्हें हर स्तर पर कमजोर साबित करना–बताना आदि नकारात्मक सामाजिक दृष्टिकोण उनके विद्रोह के लिए जिम्मेदार है।

कई ऐसे समाजसेवक हैं जो आदिवासियों के बीच उनके उत्थान, विकास की बात करने जाते हैं और उनसे कुछ सीख कर खुद को आदिवासी विशेषज्ञ के रूप में स्थापित कर पुरस्कृत भी होते रहते हैं। देश–विदेश घूमने का मौका भी प्राप्त करते हैं। वे आदिवासियों के हकों की नकली लड़ाई लड़ते हैं। सिर्फ खुद को स्थापित करने और प्रसिद्धि पाने के लिए चिंतित रहते हैं। वे आदिवासियों पर अपना दबदबा बनाए रखने के लिए सक्रिय रहते हैं। ऐसे लोग किसी आदिवासी को आगे बढ़ाने का एकाध काम जरूर करते हैं, लेकिन उन आदिवासियों की तरफ कम ही देखते हैं, जिन्होंने उन्हें इस लायक बनाया, सफलता की सीढ़ी तक पहुँचाया। कुछ ऐसे ही समाजसेवियों से मिलने का अवसर मिला है, जो आदिवासियों के बीच रहते हैं, लेकिन उनके काम से हमेशा

खिन्न दिखते हैं। पूरे भारत में ऐसी ही मानसिकता बनी है।

इस बीच कुछ आदिवासियों ने भी कई ऐसे काम कर दिखाए जिसके लायक समाजसेवियों ने उन्हें कभी माना ही नहीं। ऐसे समाजसेवी हमेशा अपना सोच आदिवासियों के बीच थोपने के लिए आते हैं। अंग्रेज शासकों और मिशनरियों ने भी यही किया और आज वामपंथी, दक्षिणपंथी, मध्यमार्गी मिशनरी और प्रशासन भी यही कर रहे हैं। अतीत से सीख कर आदिवासी की भलाई करने के बारे में कोई नहीं सोचता। आजाद भारत के ग्रामीण इलाकों में आदिवासियों के साथ जो किया जा सकता है, सो तो किया ही जा रहा है लेकिन साक्षर और सभ्य कहे जाने वाले समाज के बीच भी वही मानसिकता है—यानी आदिवासी को आज भी आदमी नहीं समझा जाता। हालांकि कुछ लोग अपमान, उपेक्षा और अनेक बाधाओं को किसी तरह पार करने में सफल हो रहे हैं। तब भी उनके लिए अनुकूल माहौल और संवेदना सहानुभूति, सम्मान प्रशंसा के दो शब्द नहीं हैं।

मुट्ठी भर सांसदों, विधायकों या मध्यवर्ग के लोगों को सम्मान की नजर से देखा जाता है लेकिन आजादी के बाद ऑक्सफोर्ड से शिक्षा प्राप्त कर लौटे देश के सबसे प्रखर नेता जयपाल सिंह मुंडा के विकास, भाषा, संस्कृति, विस्थापन आदिवासी आध्यात्मिकता आदि बातों को कभी गंभीरता से नहीं सुना गया और उनकी उपेक्षा की गई। राकेश बटब्याल द्वारा संपादित किताब 'द पेंग्विन बुक ऑफ मॉडर्न इंडियन स्पीचलेस' में संकलित उनके भाषण देख लें।

शहडोल में कहा जाता है कि आदिवासी पढ़ लिख गए तो हमारे हल-बैल कौन देखेगा, हमारा काम कौन करेगा और स्कूल जाते आदिवासी को हतोत्साह किया जाता है। आज उनकी किसी भी परंपरा का सभ्य समाज उपहास उड़ाता है। उनके बीच काम करने वाले हर प्रकार के समाज सेवक उनमें आत्मविश्वास के बजाय हमेशा हीनता भरने का प्रयास करते हैं। दबंग समाज अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए हर तरह के प्रयास करता और उन्हें कमजोर और गुलाम जैसी हालत में रखना चाहता है। इन सब का मुझे व्यक्तिगत अनुभव है।

सभ्य समाज का आदमी हमारे साथ कुछ दिन रहता है और आदिवासी विशेषज्ञ कहलाता, हमारी ज्ञान और परंपराओं का व्याख्याता बन जाता है। दिल्ली में ही आदिवासियों के बीच कुछ दिनों तक काम करने के बाद आदिवासी विशेषज्ञ बने कई लोग हैं। इनमें अधिकतर लोग किताबें भी लिख चुके हैं और उनकी भाषा, संस्कृति उत्थान के रक्षक हैं। लेकिन इनमें से कुछ लोग इस ज्ञान का उपयोग अपने नाम, पुरस्कार की खातिर करने लगते हैं। मगर तब बुरा लगता है जब ये जिन लोगों के बीच जाकर काम करते हैं जिनसे सहयोग मिलता हैं और वे विद्वान होने का दर्जा पाते हैं उनका अपनी किताबों में नामोल्लेख करना भूल जाते हैं। राजनेता की अवसरवादिता निंदनीय तो है, लेकिन ऐसे बुद्धिजीवियों का काम उनसे भी ज्यादा निंदनीय है। आदिवासियों से प्राप्त ज्ञान उनका माना जाता है। उसी तरह जैसे डिस्कवरी या नेशनल जियोग्राफी चैनल में 'मैन वर्सेज वाइल्ड', 'स्नेक रैंगलर' आदि कार्यक्रम कई बार आदिवासी-ज्ञान परंपरा और

तकनीक से प्रेरित है। यह ज्ञान गोरा आदमी, आदिवासियों से सीखता है लेकिन उन्हें चैनलों में ऐसा दिखाया जाता है मानो मूलत: इस काम को उसी ने शुरू किया हो।

आदिवासी जल, जंगल, जमीन के साथ जुड़ कर सिर्फ अपना नहीं विश्व की अस्तित्व–रक्षा के लिए संघर्ष करता है लेकिन उसकी इस भावना को आदिवासी केंद्रित माना जाता है। सभ्य समाज को पेड–पौधे धन के रूप में दिखाई देते हैं, जमीन धन के रूप में दिखाई देती है लेकिन आदिवासी के लिए पेड़–पौधे जीने के साधन हैं, उसी तरह जैसे हवा।

आदिवासी को इतना उत्पीड़ित किया गया कि उसकी हालत उस हाथी की तरह हो गई है, जो शक्तिशाली होते हुए भी अंकुश से डर कर मामूली रस्सी भी तोड़ नहीं पाता, जबकि उसे वह एक झटके में तोड़ सकता है। आदिवासियों को हर तरह से, हर स्तर पर विपन्न बनाए रखने का प्रयास बहुत चालाकी से आजाद भारत में भी चल रहा है। तब भी यह पूछा जाता है कि ये विद्रोह क्यों करते हैं?

जनसत्ता 30 जून 2013

झारखंडी बुद्धिजीवियों का आत्मसंघर्ष

झारखंड गठन के बाद झारखंड के बुद्धिजीवी एवं साक्षर वर्ग कुछ ज्यादा ही सक्रिय हो गया है। चाहे वह सदान, अदिवासी, दलित स्थानीय लोग हों या देश के किसी भी हिस्से से नौकरी, व्यापार या मेहनत मजदूरी करने आए सभ्य कहे जानेवाले लोग, आज हर कोई स्वयं को सबसे बड़ा झारखंडी सिद्ध करने पर तुला है। वह हर क्षेत्र पर अपनी काबिलियत एवं दावा प्रस्तुत करने के लिए उत्सुक नजर आता है। किन्तु आपसी द्वेष एवं प्रतिद्वन्द्वता के कारण कभी वे कुछ गलत मुद्दे भी उठा देते हैं तो कभी एक–दूसरे को मारने काटने पर भी उतारू हो जाते है। और इन सबके बीच सबसे लाभ उठा लेता है समाज में पनपा वह दलाल, परजीवी एवं अवसरवादी तबका जो मात्र निज हित की बात सोचता है। जिसे झारखंड के विकास या विनाश के बदले सिर्फ जल्द से जल्द धन कमा लेने से मतलब है चाहे यह पैसा जैसे भी आए। वहीं विरोधी शक्तियाँ भी उन्हें हर बार मात देने की अपनी तैयारी कर रहे होते हैं। नतीजा यह कि दो भूखे बन्दरों की रोटी की लड़ाई में समग्र आम झारखंडी का सारा हिस्सा तीसरा चालाक बन्दर खा रहा है। और आम आदमी आतंकवाद, बेरोजगारी, अपमान, गरीबी, भूखमरी, अशिक्षा एवं अशान्ति का लगातार शिकार होता जा रहा है।

प्रश्न है इस विषम परिस्थिति में झारखंडी बुद्धिजीवी कहाँ है और वे क्या कर रहे है? यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि झारखंड में रह रहे सभी लोगों को यहाँ झारखंडी माना गया है। झारखंड में आदिवासी और गैर आदिवासी दोनों तरह के लोग हैं किन्तु, उनकी विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, भाषिक, आर्थिक ढाँचे में रहने के कारण

उनकी झारखंडी मानसिकता के कई कैटेगरी हो सकते है–

1. दीकू मानसिकता के झारखंडी बुद्धिजीवी– इस वर्ग में गैर आदिवासी, आदिवासी दोनों शामिल हैं और इनका कोई वैचारिक आधार नहीं है। ये अपने हित की बात आने पर पाला बदल लेने में माहिर होते हैं और अपनी उत्पीड़क, जिद्दी एवं लालची मानसिकता के कारण अपने सिवा किसी के नहीं होते।

2. आरएसएस प्रभावित हिन्दुत्ववादी बुद्धिजीवी– इस वर्ग में भी गैरआदिवासी एवं आदिवासी दोनों तरह के लोग शामिल है। ये वैचारिक रूप से मजबूत तो हैं किन्तु समाज को अपने एकांगी कट्टर हिन्दूवादी नजरिए से देखने के कारण समाज के विभिन्न धार्मिक एवं भाषाई समूहों के बीच जैसे ईसाई, मुस्लिम एवं कुछ सजग सरना समाज के बीच लोकप्रिय नहीं हैं। प्रबुद्ध आदिवासी वर्ग इनकी घर वापसी जैसे नाटकों को सन्देह की नजर से देखता है। यह वर्ग पूछता है घर वापसी के बाद उस आदिवासी की धार्मिक स्थिति क्या है? क्योकि सभी को मालूम है कि सरना आदिवासी ब्राह्मणवाद के हिन्दू ढाँचे से बचा है और यही ब्राह्मणवादी हिन्दुत्व की सबसे बड़ी परेशानी है कि वह मुट्ठी भर आदिवासी वर्ग उस ब्राह्मणवाद का पेट भरने से अब तक आजाद क्यों है? मुक्त क्यों है? इन्कार क्यों है? इस वर्ग का समर्थन बाहर से आया व्यापारी, नौकरीपेशा समुदाय जबरदस्त ढंग से करता है। क्योकि इससे वह अपनी आक्रामकता में हर प्रकार की सुरक्षा देखता है और अपनी धौंस एवं श्रेष्ठता बनाए रखने की अपनी सुरक्षा-कवच को मजबूत होता देखता है। साथ ही चाहे जैसे भी हो आपसी द्वेष एवं प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद अपने को निरन्तर एकजुट करने का प्रयास करता है। हालाँकि ये जातीय आधार पर बंटे लगते हैं किन्तु, विभिन्न खतरों को जल्दी भाँप कर विरोधों के बावजूद एकताबद्ध हो जाते हैं। फलतः, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक एवं बौद्धिक रूप से सर्वाधिक सक्रिय हैं।

3. वामपन्थी बुद्धिजीवी– इसमें सभी प्रकार के लोग शामिल हैं और सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण वामपंथी पार्टियाँ कई समूहों में बँटी हैं। इसका एक समूह नक्सलवादी कहा जाता है जो और भी कई समूहों में बँटा हैं। यह मूलतः पूँजीवाद, उपनिवेवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद का विरोधी है और घोषित रूप से गरीबों का हितैषी माना जाता है किन्तु झारखंड में यह उन्हीं इलाकों में सफल हुआ है जहाँ औद्योगिक विकास हुए हैं या समाज में सामंती उत्पीड़न मौजूद हैं। लेकिन जिन इलाकों में मात्र आदिवासी समाज के लोग रह रहे है वहाँ इन्हें अपने अस्तित्व खड़ी करने में कठिनाई हुई है।

4. ईसाई बुद्धिजीवी– जैसा कि नाम से स्पष्ट है और यह साक्षर ईसाई बुद्धिजीवियों का समूह है जिसमें अधिकांशतः आदिवासी ही शामिल हैं। यह मुख्यतः कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेन्ट दो समूहों में विभाजित है किन्तु, प्रोटेस्टेन्टों के कई और समूह भी हैं। ये मुद्दों को कई बार अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उठाने एवं ले जाने की बात करते हैं। फलतः कई बार जमीनी सच्चाईयों से स्वयं को दूर कर लेते हैं। यह धार्मिक एवं वैचारिक रूप से मजबूत है। किन्तुए इस समुदाय के कुछ अर्द्धशिक्षित प्रचारकों एवं पादरियों के कट्टर एवं अंध

विचारों के कारण यह अपने सहोदर सरना समाज एवं अन्य समुदाय से स्वयं को श्रेष्ठ घोषित करने की कोशिश मे अपनी ताकत एवं विश्वास कमजोर कर लेता है। तब इनकी बौद्धिक श्रेष्ठता एवं संगठन का उपयोग मात्र अपने धार्मिक समुदायों के लिए सिमटकर रह जाता है। आज से कुछ वर्षों पहले तक कैथोलिक युवा जो पढ़ने लिखने में थोड़ा भी तेज होते थे सिवा सिस्टर या फादर बनने के कुछ नहीं सोच सकते थे। उन पर घर, समाज का इसके लिए दवाब भी रहता था। इस धार्मिक आस्था का परिणाम यह हुआ कि जो ईसाई आदिवासी प्रबुद्ध युवा पढ़ लिखकर समग्र समाज के लिए और विशेषत: आदिवासी समाज के उत्थान के लिए जो योगदान दे सकता था, एक विशेष वर्ग तक ही सीमित रह गया और उस प्रतिभा का समाज के विकास के लिए उपयोग उस हद तक नहीं हो सका जिस हद तक की उसमें क्षमता थी। हाँ, अब इनकी सोच में परिवर्तन आया है और वे समाज के विभिन्न प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक गतिविधियों में पहले की तुलना में अधिक भाग लेने लगे हैं। आत्मचिन्तन की नई पहल आरम्भ हुई है फलत: कई उदार ईसाई बुद्धिजीवियों का मानना है कि वे अब मिशन हाता वाली मानसिकता से ऊबर रहे हैं। परिणामत: इस समुदाय के बुद्धिजीवी विभिन्न आदिवासी मुद्दों पर कई किताबें प्रकाशित कर चुके हैं। सम्भवत: इसी कारण इस समुदाय के कुछ साक्षर लोगों का मानना है कि ब्रेन उन्हीं के पास है। लेकिन, इस आत्ममुग्धता से मुक्त होना उनकी हर प्रकार की शक्ति को अधिक विस्तार दे सकता है और तब वे इसका सार्थक एवं व्यापक उपयोग भी कर सकते हैं।

5. पाँचवाँ समूह गैरईसाई आदिवासियों का है जो भाषाई आधार पर कई समूहों में बँटे हैं। किन्तु धार्मिक विश्वास के कारण इन्हें सरना आदिवासी कहा जाता है। संख्या में पर्याप्त होने के बावजूद इनकी एकजुटता बाधित होती रही है और लिखित एवं वैचारिक–साहित्य के अभाव में इनका प्रयास उतना प्रभाव डाल नहीं पाता जितना कि यह कर सकता था। निरक्षरता एवं शराबखोरी इस समाज की कमजोरी है। किन्तु अब ऐसे कई प्रयास हो रहे हैं जिससे ऐसा लगता है कि कुछ भटकावों के बाद ये भी अपने अधिकारों एवं सम्मान से जीने के लिए तेजी से उत्सुक हुए है। एक छोटा प्रबुद्ध वर्ग इस ओर सक्रिय हुआ है किन्तु गरीबी एवं अशिक्षा इस तबके का सबसे बड़ा दुश्मन है। अत:, यह वर्ग वैचारिक रूप से कई बार भटकता नजर आता है। किन्तु, जन जल, जंगल, जमीन एवं जमीर से जुड़ी इनकी प्रबल आकांक्षा ने तमाम विपरीत स्थितियों के बावजूद इनके अस्तित्व को बचाए रखा है। ग्रामीण इलाकों में किसी मेले एव अन्य सामाजिक गतिविधियों, अनुष्ठानों में इनकी सांगठनिक सक्रियता, सहभागिता एवं एकता गजब की होती है। अपने भले बुरे का अनुमान नहीं लगा पाने के कारण कई बार इस समुदाय का बुद्धिजीवी वर्ग भी भटकता प्रतीत होता है। खासकर तब जब अपनी धार्मिक, सामाजिक विशेषताओं को त्यागकर यह कुछ और अपनाने लगता है। इस प्रक्रिया में यह वर्ग अपना बहुत कुछ अच्छा खो रहा होता है। इनकी कुछ संस्थाएँ सरहुल या करमा मनाने के समय लोगों को एकजुट करने के कार्य से भी आगे कुछ करने की

सोचें तो बहुत कुछ कर सकते हैं। फिर भी ये अब अपने भले बुरे की पहचान करने में पहले की अपेक्षा पर्याप्त समर्थ हुए हैं। लेकिन, यह इस समाज के लिए नाकाफी है। फलतः, इस समाज में हर प्रकार के भटकाव एवं बिखराव अभी अधिक दिख रहे हैं। लेकिन सम्भावना है ये भविष्य में एकजुट हो अपने बेहतर कार्य कर दिखाएँ।

6. इसके अलावा एक ऐसा शिक्षित उदारवादी झारखंडी बुद्धिजीवी वर्ग भी है जो इन सबसे अलग झारखंड के समग्र एवं बहुमुखी विकास का आकांक्षी है और अपनी धर्मनिरपेक्ष, जातिविहीन एवं जनवादी छवि बनाना चाहता है। इस समूह में सभी प्रकार के लोग शामिल हैं किन्तु ये संगठित होकर कार्य करने में असमर्थ हैं। और या तो ये अकेले या दो तीन के समूह में सक्रिय देखे जाते हैं। ये लगभग एकान्त साधना करते हुए लोग हैं।

इसके अलावा भी झारखंडी बुद्धिजीवियों का वर्गीकरण सम्भव है किन्तु यहाँ पर इतना ही। हाँ एक प्रमुख वर्ग झारखंड के लेखक, पत्रकार, समाजसेवी किस्म के लोगों का भी रहा है। ये अपने किसी जेबी संस्था या किसी स्वयंसेवी संस्थान से जुड़े लोग भी हैं। जिसमें से कई पूरी ईमानदारी के साथ अपनी पत्रकारिता या लेखन के शुरूआती दिनों से अब भी झारखंड के समग्र विकास के मुद्दों को एकदम जमीनी धरातल से उठा रहे हैं। यह सराहनीय है। किन्तु कुछ लोग यहाँ भी सांस्कृतिक दम्भ, सामंती सोच के अवशेषों एवं नस्ली उच्चता बोध से ग्रसित होने के कारण झारखंड को एक समग्र सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक स्थितियों को आर्थिक पूर्णता की ओर उभरते देख नहीं पाते और पूरे झारखंड को समझने में कई बार असफल होते रहे हैं। फलतः तमाम तरह की उदारताओं एवं बहस मुबाहसों के बाद भी इनका प्रयास अँधेरे में एक टिमटिमाते दीपक से अधिक कुछ नहीं हो पाता। साथ ही उनका प्रयास एक सीमित क्षेत्र में कुछ छोटे सामाजिक सुधारों के कार्य करने से आगे बढ़ते नहीं दिखता।

अदिवासी समाज में लेखक, पत्रकार का कोई ज्यादा प्रभाव नहीं हैं। और वैसे लोग हैं भी कितने? लेखक, कवि, पत्रकार को अधिकांश आदिवासी समाज कल्पनीजीवी, अव्यावहारिक, और प्रसिद्धि का भूखा मानता है। अतः, उनके लिखे या कहे पर कुछ मित्रों के सिवा आम पाठक या श्रोता की कोई विशेष दिलचस्पी या प्रतिक्रिया नहीं होती। यदि किसी सभ्य मित्र ने किसी आदिवासी के बारे कुछ कह दिया तो अधिकतर लोग उसे ही सच मान लेते हैं। यह नहीं देखते कि उसके कहने की पीछे की सच्चाई क्या है? फिर भी दो, चार लोग ही सही नई युवा पीढ़ी इस ओर आकर्षित हुई है और स्थानीय अखबारों के अलावा राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में उनका लिखा प्रकाशित हो रहा है। लेकिनए अब भी यह वर्ग अपनी बातों को कहने का राष्ट्रीय मंच नहीं बना सका है। पिछले दिनों हजारीबाग से प्रकाशित एक त्रैमासिक पत्रिका युद्धरत आम आदमी, सम्पादक रमणिका गुप्ता ने आदिवासियों पर दो विशेषांक निकाले जिसकी खासियत यह थी कि इसमें छपनेवाले लगभग सभी आदिवासी थे और देश के लगभग हर कोने से थे, जो भिन्न भाषाओं में लिख रहे हैं। इसी तरह कानपुर से प्रकाशित पत्रिका अकार

सम्पादक गिरिराज किशोर ने एक अंक में झारखंड के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के आदिवासी कवियों की रचनाओं को प्रमुखता से प्रकाशित किया था। इसके अलावा हाल ही में जमशेदपुर से प्रकाशित पत्रिका दस्तक, सम्पादक राघव आलोक ने आदिवासी अंक प्रकाशित किया है। जिसमें आदिवासी, गैर आदिवासी दोनों तरह के लेखक, विचारक शामिल हैं। रांची, जमशेदपुर, धनबाद, डालटनगंज से प्रकाशित कुछ दैनिक अखबार इस दिशा में प्रयास करते रहे हैं। ये कुछ उदाहरण है इस बात के कि आदिवासी एवं झारखंडी मसलों को विभिन्न स्तरों पर न केवल झारखंड बल्कि राष्ट्र के स्तर पर भी समझने का प्रयास आरम्भ हो चुका है। इन पत्रिकाओं के अंकों को पढ़ना हिन्दी बौद्धिक जगत के लिए बिल्कुल नई बात रही। लेकिन, एक आदिवासी यदि वह प्रतिबद्ध (कमिटेड) है तो चुपचाप लिखता रहता है। वरना वह कुछ दिनों के बाद खामोश हो जाता है या कहें खामोश कर दिया जाता है। अतः, एक बुद्धिजीवी या कहें एक लेखक, चिन्तक या विचारक के रूप में उसका प्रभाव समाज में कम पड़ता है। किन्तु, इसके विपरीत किसी धार्मिक नेता, या राजनीतिक नेता द्वारा आदिवासी समाज को प्रभावित करने की क्षमता अधिक मानी जाती है। अतः अधिकारी, लेक्चरर, वकील या लेखकनुमा आदिवासी बुद्धिजीवी का आदिवासी समाज में मुट्ठी भर साक्षर लोगों के सिवा अधिक लोगों पर प्रभाव नहीं है। आदिवासी समाज की यह स्थिति बहुत उत्साहजनक नहीं है। बौद्धिक रूप से स्वयं में एक दूसरे से अलग रहना उनकी कमजोरी है जिसका लाभ विरोधी पक्ष अब तक उठाता रहा है क्योंकि यह अपनी जमीनी एवं मूल मुद्दों को समाज या देश के समक्ष बहुत प्रभावी ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकता है।

इसके विपरीत गैरआदिवासी बुद्धिजीवी, मीडिया जगत में सक्रिय रहा है अतः, उनकी भावनाएँ एवं आकांक्षाएँ न केवल प्रकाश में आती है बल्कि उसे अपने समाज का समर्थन भी प्राप्त रहता है। उसके विपरीत आदिवासी बुद्धिजीवी की दलीलें सम्पादक की पसन्द या नापसन्दगी पर भी निर्भर होतीं हैं। फिर उसे अपने समाज से या कभी कुछ मित्रों से उत्साहवर्द्धन मिलते कम ही देखा गया है। अतः, उपर्युक्त तमाम तरह के बुद्धिजीवियों के वर्गीकरण के बाद भी झारखंडी बुद्धिजीवी मूलतः दो ही प्रकार के हैं– आदिवासी और गैरआदिवासी। जहाँ एक आदिवासी के लिए हजारों लाखों पृष्ठ लिखने के लिए और कहने के लिए हजारों समस्याएँ हैं। वह लिख नहीं पाता, कह नहीं पाता क्योंकि कुछ लिखकर कहना उसकी सामाजिक परम्परा में नहीं है। शब्दों की बाजीगरी वह नहीं जानता। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कि वह जंगली जानवरों से, प्राकृतिक आपदाओं से जूझ लेने की क्षमता तो रखता है किन्तु सभ्यता-विकास के क्रम में अपने सभ्य पड़ोसियों के बौद्धिक प्रपंचों, दवाबों, छल कपटों का माकूल जवाब दे नहीं पाता। अतः, उसके विचार, दुख, दर्द, आकांक्षाएँ हंड़िया एवं शराब के नशे में डूबकर निकला अल्पकालिक गुस्सैल तूफान मान लिया जाता है। इस प्रकार उनकी अनेक मुद्दे, समस्याएँ उदार गैरआदिवासी समुदाय के समर्थन का मोहताज होतीं हैं। यही कारण है आदिवासियों से सहानुभूति रखनेवाले कुछ बुद्धिजीवियों के प्रभाव में

रहने के कारण कई आदिवासी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने में बेबस और लाचार दिखते हैं। इनमें से कई आदिवासी बुद्धिजीवियों के लेखन का प्रकाश में आना अभी शेष है। ऐसे में आदिवासी समाज के करीब रहता गैर-आदिवासी समाज कई बार उनका अधिकांश हिस्सा लेता प्रतीत होता है और कई बार इसका असली लाभ इसी वर्ग को मिल भी जाता है जैसाकि झारखंड आन्दोलन का परिणाम।

उपर्युक्त तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे झारखंडी बुद्धिजीवी के लिए झारखंड अन्धों का हाथी बन गया है और वे आंशिक सच के ही करीब हैं। अखिर ऐसा क्यों? क्यो आदिवासियों को अपने जुलूसों या प्रदर्शनों में दीकू भगाओ या दीकू मारो कहना पड़ता है? क्या किसी ने कभी इस तथ्य की ओर ध्यान दिया है? एक गरीब अदिवासी हर जगह अपमानित होता रहता है। बसों पर वह कभी किसी बाबू के लिए सीट से उठने के लिए विवश किया जाता है। कभी जरूरत से कम कीमत पर अपनी बकरी या मुर्गी बेचने के लिए विवश किया जाता है तो कभी उसकी उपज बाजार पहुँचने पहले व्यापारियों द्वारा छीन ली जाती है। बाजार में उसकी उपज, कम दाम में अधिक खरीद ली जाती है। कभी उसे कारखाने या डैम के नाम से उजाड़ दिया जाता है। जहाँ न उसे मजदूरी करने लायक काम मिलता है और न उसके घर में बिजली, पानी आता है। चपरासी, क्लर्क या अधिकारी बनने लायक इसे योग्य नहीं माना जाता। यह अपमान एवं शोषण का प्रतिकार, गुस्से में दीकू भगाओ कहकर निकालता है तो यह स्वाभाविक है। लेकिन उसके गुस्से के शिकार कुछ भले एवं अच्छे लोग हो जाते हैं। निश्चय ही यह उचित नहीं है। इस तथ्य को दूसरी ओर से देखे कि एक वहिरागत झारखंड में चाहे जैसे भी हो घर, मकान बना लेता है और दीकू भगाओ कहने पर स्वयं को झारखंडी कहता है। दावा करता है मैंने इतने वर्षों तक झारखंड की सेवा की, इस राज्य की समृद्धि एवं विकास में सक्रिय योगदान दिया, लोन लेकर और अपने पीएफ के पैसे लगाकर घर बनाया मैं कैसे गैरझारखंडी हूँ? क्या इन जैसे लोगों को यह नहीं समझना चाहिए कि जिन आदिवासियों ने जंगल झाड़ काटकर जंगली जानवरों से लड़कर खेत खलिहान बनाए और उन्हें वहाँ से खदेड़ा जाएगा तो कैसा महसूस होगा? तब क्यों सभ्य कहे जाने वाले कुछ लोगों के सिवा उसके पक्ष में खड़ा क्यों नहीं होता? इसलिए कि वह जंगल में रहने वाला आदिवासी है और आप साफ-सुथरे समतल मैदान से आए सभ्य लोग हैं? या इसलिए कि तथाकथित विकास के गतिविधियों का लाभ सभ्य कहलाने वाले को ही चाहिए? यहाँ सवाल यह भी है कि एक आदिवासी के लिए जंगल से, उसके खेत खलिहान से अर्जित कमाई नौकरीपेशा बहिरागत भाई के पीएफ से कमतर कैसे हैं? और यह कि उसे इससे क्यों वंचित होना चाहिए? मुद्दों को इस स्तर पर भी समझना होगा। सीमित शहरी दृष्टिकोण और नकली भद्रता से मुक्त होना होगा। क्योंकि नकली आधुनिक शिक्षा में पल बढ़कर आदिवासियों को सरहुल के जुलूस में नाचते देखना या क्रिसमस मनाते देखना एवं बन्द कार से बैठकर उनके मुहल्लों के करीब से गुजरकर या दो चार मिनट के लिए घर की खिड़की खोल सैलानी निगाहों से गाँव के झारखंड को

और आदिवासियों को समझा नहीं जा सकता है। बल्कि जंगल एवं जमीन से उसके गर्भनाल सम्बन्धों की पवित्रता को भी समझना होगा। एक गैरआदिवासी, जमीन से आदिवासी के इस सम्बन्ध को समझने में हमेशा चूक करता है। दूसरे स्कूलों, कॉलेजों में पढ़ाए जानेवाले अनेक प्रकार की उल्टी सीधी जानकारियों से भरे पाठ एक गैरआदिवासी के मन में आदिवासी की एक नकारात्मक छवि ही प्रस्तुत करते हैं। फिर भी एक दूसरे को समझने समझाने का प्रयास संवेदनशील लोगों द्वारा किये जा रहे हैं तो यह सराहनीय है, जो किसी सामाजिक विस्फोट के विनाशकारी प्रभाव से बच सकने के लिए सेफ्टीवॉल्व साबित हो सकता है।

आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास, शहर के सभ्य कहलाने का ढोल पीटनेवाले को भी चाहिए और गाँव एवं जंगल में रहने वाले असभ्य कहे जानेवाले मांदर बजाते आदमी को भी चाहिए। झारखंड के हर तबके का बुद्धिजीवी इस तथ्य की बारीकियों, जटिलताओं, उलझनों एवं समस्याओं को समान भाव से देखने का प्रयास करे। पॉलिटिशियनों से अलग आखिर झारखंडी बुद्धिजीवी बताए कि अपने मतभेद भुलाकर वह झारखंड के चहुँमुखी विकास के लिए क्या कर सकता है? और यह कि इस कार्य में उसकी भूमिका क्या हो सकती है? या वह शुतुरमुर्ग की भूमिका अदा कर सकता है? अपने सीमित विचारों के कुएँ का मेंढक बन सकता है? आखिर आपसी संवाद स्थापित करने के लिए झारखंडी बुद्धिजीवी कर क्या सकता है? विकास, संस्कति, भाषा, धर्म, समाज एवं राजनीति के हर बिन्दुओं पर एक दूसरे से एकदम उलट विचार, आकांक्षा एवं नजरिया रखनेवाले यदि कुछ कर सके, तो न केवल झारखंड बल्कि पूरे देश का ही भला होगा। बिहारी, बंगाली, उड़िया, पंजाबी, मराठी कहे जानेवाले बुद्धिजीवी की तरह क्या झारखंडी कहे जा सकने वाला नया मध्यमवर्गीय बौद्धिक बल इस चुनौती को स्वीकार कर अपना अस्तित्व स्थापित कर सकता है? या असंगठित भीड़ की तरह शोर भर मचा सकता है? झारखंड के विकास के संदर्भ में प्रश्न यह भी है क्योंकि झारखंड आज सांस्कृतिक मुद्दा कम और राजनीति के गलियारे से होता आर्थिक मुद्दा ज्यादा हो गया है जहाँ हर कोई एक बड़ा हिस्सा पा लेने के फिराक में है।

सन् 2004

जंगल के सबक– कुछ लोकल, कुछ ग्लोबल

होश सम्हालते हाथ में कुल्हाड़ी लेकर जब जंगल गया तो बड़े होने के एहसास से भर गया था। हमारे साथ बुजुर्ग काका, दादा, बड़े भाई और हमउम्र लोग साथ थे। जंगल से गुजरना होता रहता था लेकिन बीहड़ वन में जाने का यह पहला अवसर था। चिड़िया पकड़ेंगे, खरगोश पकड़ेंगे। दह मिल जाय तो मछली भी पकड़ेंगे, यह सोचकर मैं रोमांचित था। यह गर्मी का मौसम था और मई महीने का अन्तिम सप्ताह। महुआ फूल

झड़ चुके थे और अब महुआ पेड़ों पर फल लग चुके थे। इन्ही पेड़ों पर महुकल पक्षी 'पीको पको' गा रहे थे जैसा हमारे साथियों एवं बड़े-बुजुर्गों ने बताया था। पीको पको क्या है? पीको महुआ के फल को कहते हैं। दोस्तों ने बताया कि महुकल 'पीको पको' गाता, इसके फलों के पकने का आह्वान करता और तब पीको पकने लगता। इसी समय सखुआ के पेड़ों पर पंखयुक्त फल लग जाते हैं। ये महुआ फल की तरह रसदार नहीं होते। वे पककर गिर जाते उसके बाद ही इसका उपयोग खाने के लिए भी किया जाता है। बताया जाता है कि आजकल वनस्पति घी आदि बनाने में इसके बीज काम में आते हैं। इससे अलग कहानी पत्तों की है। सूखे पत्तों से जंगल का अन्दरूनी हिस्सा भरा रहता था। तब पेड़ों की इतनी कटाई नहीं होती थी इस कारण काफी मोटे और छायादार घने पेड़ मिल जाते थे। जंगल के पगडंडियों से हटकर जंगल में चलते ही सूखे पत्तों के दबने से आवाज होती। हमें सूखे पत्तों पर आवाज करते चलने में मजा आता। लेकिन, जब हम कभी 'शिकार' करने की राह पर होते तो पैर सावधानी से रखना होता। सूखे पत्तों की आवाज नहीं होनी चाहिए वरना 'शिकार' भाग सकता है। ऐसा बड़ों से हिदायत मिलती रहती। तब पूरी सावधानी रखनी होती। शिकार मिल जाने पर उसे आग में पकाकर नमक और लाल मिर्च के साथ खाने का अलग स्वाद होता था। यह स्वाद वर्षों बाद नॉर्थ ईस्ट में चख सका। अब इस तरीके से खाने का रिवाज थम-सा गया है। क्योंकि अब जंगल नहीं रहे तो शिकार के लिए कहाँ जायें?

जब कभी कोहिमा, जोरहाट, गुवाहाटी के मेलों में जाता वहाँ प्रायः इंडिजीनियस फूड के स्टॉल दिख जाते। इन स्टॉलों में कई बार आग में पकाये गये मांस, मछली आदि मिल जाया करते थे। आग में पकाये मछली को कई बार उसी तरह मिल जाते थे जिस तरह कि झारखंड में नमक और लाल मिर्च के मोटे चूरे (गुंडी) के साथ खाते थे। यहाँ उस विधि की चर्चा इसलिए कि आजकल खाने का यह आदिवासी तरीका, कई होटलों में या फूड मेलों में फिर से लोकप्रिय हो रहा है। जिनके बारे विशेषज्ञ बता रहे हैं कि भोजन बनाने के, कई आदिवासी तरीके, स्वाद तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से अन्य आधुनिक तरीकों से बेहतर हैं।

फिलहाल फिर बचपन की ओर लौटते हैं। तब आदिवासी गाँवों में लड़कों के हाथों में गुलेल हुआ करता था। यह गुलेल यूँ निशाना साधने के मजे करने, फल गिराने, शिकार करने, पक्षियों एवं जंगली जानवरों से फसल की रक्षा करने से लेकर आत्मरक्षा तक के लिए काम आता था। गर्मियों में ऊँचे पेड़ों पर फले, पके आम पर निशाना लगाने और पहले मार गिराने की होड़ हम बच्चों में लगी रहती। पके आम को जमीन पर गिरने से पहले 'लोकने' क्रिकेट की भाषा में कैच लेने के लिए भी बच्चों में एक अजीब-सा उत्साह और फुर्तीलापन देखा जाता था। कोई गुलेल से आम पर निशाना लगाता और कोई बच्चा उसे जमीन पर गिरने से पहले पकड़ लेता, तो सारे बच्चे उसकी तारीफ में चिल्ला उठते, उसी तरह जैसा कि आजकल क्रिकेट मैचों में दर्शक चिल्ला उठते हैं। साथ ही गाँव के बुजुर्ग जान जाते कि एक पका आम गुलेल से मार गिराया गया है। कोई अगर कच्चे आम

पर निशाना लगाता तो उसे भारी डाँट पड़ती। जब सारे पके आम मार गिरा लिये जाते। एकत्रित सभी आमों को बड़े लड़के मेले में खरीदे चाकू से बहुत ही सफाई से, कुशलतापूर्वक छीलते और इसका ध्यान रखा जाता कि गूदा न कटे। बाकी बचे लोग घेरा बनाकर आमों को छिलते, कटते, देखते। इस बीच कोई सखुए का पत्ता या पलाश के पत्ते तोड़ लाता और जितने बच्चे होते सभी को आम के कटे टुकड़े बराबर बाँटे जाते। ध्यान रखा जाता कि सभी को बराबर का हिस्सा मिले। इस तरह हम बचपन से ही सामूहिकता की भावना से जंगल में विभिन्न गतिविधियों के साथ सीखते रहते। लेकिन अब आम बिक्री के लिए पहले ही तोड़ लिये जाते हैं। सामूहिक मालिकाना (गैरही) वाले पेड़ अब कम हो गये हैं। पढ़-लिख रहे बच्चों को अब गुलेल पकड़ जंगल जाते कम देखा जाता है। इस तरह उनमें पहले के बच्चों की तरह स्वाभाविक टीम-भावना भी कम हो रही है। जंगल में खेलते जीवन के जरूरी जो कुछ हम सीखते थे, आज के बच्चे उससे वंचित हो रहे हैं।

इसी तरह कुएँ के आस-पास पानी पीने आये मधुमक्खियों की उड़ान की ऊँचाई देखकर बच्चे जान जाते कि मधुमक्खी का छत्ता कितनी दूर पर है। मौसम तथा चाँद के घटने-बढ़ने के दिनों के हिसाब से छत्ते में रस का भी अनुमान लगाते और उसी निर्धारित दिनों पर ही मधु निकालने जाते। उनका अनुमान हर बार सही होता, क्योंकि उन्होंने प्रकृति से यह पाठ सीखा था। गाँव में सीखे इन तरीकों का अब कोई उपयोग नहीं है, इसलिए भूल रहा हूँ। लगता है कहीं पर यह कौशल-विकास हमारी नैसर्गिक क्षमता पर भी प्रभाव डाल रहा है। इस तरह आधुनिकता के असर में एक आदिवासी अब जो कुछ सीख रहा है वह उसे एक नकली दुनिया की अन्धी दौड़ में ही शामिल कर रहा है। जहाँ बस, एक पुर्जे की तरह इस्तेमाल हो रहा है। आदिवासी जीवन के सन्दर्भ में यह एक बड़ी समस्या है।

बचपन में पेड़ को 'ओलग्ग कर (प्रणाम कर)' काटना सिखाया गया था। तब से यह पाठ भूला नहीं। लेकिन, जब बेरहमी से, बेवजह पेड़ों को काटते देखता हूँ तो लगता है कोई मेरे भाई-बन्धुओं को मार रहा है। नये जंगलों में अकासिया, यूकिलिप्टस आदि अनजान पेड़ों को देखकर मन गुस्से से भर जाता है। इनकी उपयोगिता क्या है? तब लगता है किसी षड्यन्त्रकारी या जंगल से डरने वाले ने जान-बूझकर इन पेड़ों को लगवाया है। जो झारखंड के जन-जीवन से अपरिचित था या जिसे जंगल के बीहड़ से डर लगता था, इसलिए वहाँ ऐसे पेड़ लगाने का उपक्रम करता है, जहाँ लाभ येन-केन प्रकारेण उसे ही हो। लेकिन जनता या ग्रामीणों को कुछ न मिले। यह कैसी नीति है जो अलाभकारी पौधों को इस इलाके में लगातार उगा रहा है। आज भी आप झारखंड घूम लें, अधिकांश जगहों में ऐसे दृश्य दिखेंगे। शोध या सर्वे किया जाय तो इन पेड़ों के बारे कुछ नये लेकिन निराशाजनक और विपरीत परिणाम ही मिल सकते हैं।

वैसे देखा जाय तो पूरे विश्व में सोलहवीं शताब्दी से लेकर अब तक का युग विकास का नहीं धरती को बेरहमी से खोदने और लूटने का इतिहास है। धरती और मनुष्यता से अत्याचार करने का खूनी इतिहास है। गौर से देखें तो पिछले पाँच सौ साल, मनुष्य जाति के सबसे लालची युग को दर्शाती है। अमेरिका, यूरोप, चीन, भारत, अफ्रीकी– देश सभी

जगहों में विकास के एकांगी दृष्टिकोण ने धरती का निर्मम दोहन किया है, जिसका नतीजा अब सभी भुगत रहे हैं। वर्तमान स्थिति को देखकर लगता है अगले तीस-पचास साल से आगे के युग इसके सुधार के युग हो सकते हैं और उसके बाद का दौर सम्भवतः 'सन्तुलित विकास' का समय हो सकता है। विभिन्न आपदाओं को झेलने के बाद तथा तकनीक में तरक्की और विज्ञान में मनुष्य की समझदारी बढ़ेगी। इसी क्रम में वह प्रकृति को बचाने का प्रयास कर सकता है। जंगल से सीखे सबकों को मनुष्य जितनी जल्दी स्वीकारेगा और कार्यान्वित करेगा पृथ्वी बचेगी, मनुष्य बचेगा, मनुष्यता बचेगी।

वैसे खुशनसीब हूँ कि मेरे गाँव के आस-पास अब भी जंगल की कुछ हरियाली बची है। जंगली जानवर तो नहीं रहे लेकिन कुछ खरगोश, पंडुक, हरियल, मैना, गौरैया आदि बचे हैं। आज लोग जंगल नष्ट होने की बात करते हैं, हरियाली नष्ट होने की बातें करते हैं। लेकिन मैं जंगल नष्ट होने की कल्पना भी नहीं कर सकता। यह मेरे लिए असम्भव है। जंगल खत्म हो जायेंगे, ऐसा बार-बार चेताया जाता है। लेकिन न जाने क्यों हमेशा लगता है कि विज्ञान की प्रगति और नयी तकनीक से भविष्य में आदमी जंगल को, हरियाली को अपने और करीब ले आयेगा। मतलब पेड़-पौधे बचाने की नयी विधि ईजाद हो जायेंगी। जैसा कि पिछले दिनों देखा गया– सिंगापुर में ऐसी बिल्डिंगें बनायी गयी हैं, जहाँ पेड़ भी लगे हैं। भविष्य में यह तकनीक और भी बढ़ेगी। प्राकृतिक हादसों से निरन्तर पीड़ित मनुष्य इस दिशा में गम्भीरतापूर्वक सोचेगा। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि साक्षरता और ज्ञानवृद्धि से लोगों में जंगल के प्रति नकारात्मकता दूर होगी। हो सकता है तब तक कोई नयी विधि या तकनीक आ जाय। निश्चय ही यह परिवर्तन देखने के लिए मुझ जैसे लोग जीवित नहीं रहेंगे। लेकिन धरती बचाने के इस सकारात्मक कल्पना से मैं पृथ्वी को हरी-भरी देख सकता हूँ। क्योंकि हर कल्पना, सपना, सोच एक-न-एक दिन साकार होता ही है और यह तो पृथ्वी बचाने का सपना है। इसकी हरियाली, सुन्दरता, उर्वरता, हवा, पानी आदि भावी पीढ़ी के लिए बचाने का सपना है, जिसे बार-बार देखना चाहूँगा। आइये, आप भी इसमें शामिल होइये।

सबलोग 2016

इस गणतन्त्र में किसानों का मुक्तिदाता कौन बनेगा?

पिछले कई वर्षों से राँची के आस-पास के इलाकों में सब्जी आदि उगाते किसानों को देखता रहा हूँ। एक प्रश्न हमेशा परेशान करता रहा है। प्रश्न यह कि राँची के आस-पास सब्जी-भाजी उगाते किसानों को कैसे उनको वाजिब दाम मिल पाये? यह सवाल सीने में नश्तर की तरह हमेशा से गड़ा रहा है। शायद दस-बारह साल की उम्र से। तब प्रश्न वह नहीं था जो अब है। गाँव जाता या रिश्तेदारों के घर प्रायः देखता बाजार के काफी पहले साहूकार या व्यापारी जैसे लोग बैठे होते और वे जबरन ग्रामीणों से उनकी उपज

देने के लिए बाध्य करते थे। यह हमेशा नागवार लगता। इस स्थिति में परिवर्तन जरूर आया है, लेकिन उनकी उपज की वाजिब कीमत का मसला अब भी वैसे ही बरकरार है।

अक्सर देखता कि गाँव के आस-पास के बाजारों में प्राय: बिचौलिये, व्यापारी-किसानों की उपज मनमाने दाम पर खरीद ले जाते। कई बार देहात के बाजारों में ऐसी भी हालत देखी जब किसान, जो उपज लेकर बाजार आया तो उसकी ढुलाई का खर्च भी नहीं मिल रहा है। कहा जाता है फसल से कमाई करनी है तो मौसम के पहले नकदी फसल उपजाओ या उसे इस तरह बोओ कि सीजन के आखिर में बाजार पहुँचे। लेकिन कई बार होता यह है कि भरपूर (भरखर) सीजन के समय उपज बाजार पहुँच जाता है। उस समय किसान को सही कीमत मिल नहीं पाती। तब छोटे और मध्यम किसानों को भारी नुकसान हो जाता है। कुछ बड़े किसान जो उपज को सीधे शहर पहुँचाने में समर्थ होते हैं उन्हें नुकसान उठाना नहीं पड़ता या कम उठाना पड़ता है।

राँची के आस-पास रातू, ब्राम्बे, मांडर, खूँटी, सोंस, कुड़ू, पिस्का, इटकी, बेड़ो, भरनो, सिसई, गुमला, लोहरदग्गा और उसके आस-पास, सभी जगह एक ही कहानी है। यहाँ के किसानों को अपनी मेहनत का फल वर्षों से नहीं मिल पा रहा है। इसके लिए किसी की ओर से कोई सार्थक कदम नहीं उठाया जाता। हाँ, कुछ वर्ष पहले एक कोशिश जरूर की गयी थी कि उपभोक्ता को सब्जी आदि मिले। लेकिन वहाँ किसान का ख्याल कम किया गया था। इसके अलावा प्रयास हुए हैं, ऐसा नहीं लगता। कुछ स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा अचार बनाने, मशरूम उपजाने आदि के कुछ काम जरूर कराये गये हैं। लेकिन इनका असर इस क्षेत्र के आदिवासी एवं अन्य कमजोर तबके के किसानों की स्थिति में बहुत सुधार करता नहीं लगता। क्योंकि अब वे खेती के बाद के बचे मौसम में राँची एवं आस-पास के शहरों में मजदूरों के रूप में भी देखे जा सकते हैं। कई लोग अब भी दूसरे प्रदेशों में मजदूरी करने जाते हैं।

राँची के निकटवर्ती इलाकों के साप्ताहिक एवं दैनिक बाजारों से प्रतिदिन ट्रकों में लादकर सब्जियाँ– जमशेदपुर, राउरकेला, कोलकाता, धनबाद, आसनसोल, भुवनेश्वर एवं आस-पास के अन्य औद्योगिक नगरों में भेजी जाती हैं, जहाँ वे खरीदी मूल्य से पन्द्रह, बीस गुने कीमत पर बिकती देखी गयी हैं। जाहिर है किसान के परिश्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता और बिचौलिये एवं व्यापारी किसान से अधिक लाभ, कम परिश्रम कर कमाते रहे हैं। जब देश में विकास दर 10 (दस) प्रतिशत पहुँच जाने की आशा की जा रही है, ऐसे में लाभ का यह असन्तुलन चिन्ताजनक है।

क्योंकि हैदराबाद, बंगलौर आदि बड़े शहरों में सुपर मार्केट आदि बन गये हैं जो व्यापारियों से कम कीमत में सब्जियाँ आदि बेच रहे हैं। वे सीधे किसानों से खरीदकर रहे हैं। जिसके कारण किसान को पहले से अधिक कीमत मिल रहे हैं। इसके अलावा उपभोक्ता को भी पहले से कम कीमत में बेहतर सब्जियाँ आदि मिल रही हैं। बिचौलिये की भूमिका को निष्क्रिय कर किसान एवं उपभोक्ता को फायदा होता दिख रहा है। जिस प्रकार टेलीफोन की सुविधा, कम्पनियों की प्रतियोगिता के कारण उपभोक्ता को अब

कम कीमत पर मिल रही है। क्या कुछ उसी प्रकार की स्थिति हम भविष्य में देख पायेंगे? बड़े शहरों में किया जा रहा यह प्रयोग राँची या झारखंड में सफल होगा? यह भविष्यवाणी करना कठिन है कि भविष्य में विशेष आर्थिक क्षेत्र (स्पेशल इकॉनॉमिक जोन) बनने से किसानों को कितना लाभ होगा। क्योंकि कृषि-उपज को वैल्यू एडेड बनाकर बेचने की नयी कला झारखंड के किसान को पर्याप्त मात्रा में सिखाया नहीं जा रहा है। ऐसे में उसे अपनी हाड़तोड़ मेहनत की उचित कीमत मिले, इसकी सम्भावना कम ही रहेगी। जबकि कई प्रकार के पारम्परिक सब्जी एवं कटहल, पपीता, सहजन (मुनगा), गूलर, फुटकल आदि के पेड़-पौधों के फल-फूल के अलावा कोपलों एवं पत्तों से भी आय की काफी सम्भावना है, जिसे सब्जी के रूप में बेचा जाता है। गाँवों में इन पेड़ों की संख्या में लगातार कमी हो रही है, ऐसे में इनका महत्त्व अब अधिक बढ़ने की सम्भावना है। जैसे फुटकल अब पॉलीथीन के थैलों में बिकने लगे हैं। अतः इस प्रकार की पारम्परिक सब्जियों की भी माँग बढ़ने की सम्भावना है। इनके विक्रय की योजना, तरीके से की जाय तो कई परिवार अपने वार्षिक आय का कुछ अतिरिक्त हिस्सा अनाज के अलावा पेड़-पौधों के फल-फूल या कोपलों से प्राप्त कर सकते हैं। निश्चय ही इस कोशिश में उन्हें वस्तु बेचने के नये तरीके स्वयं ढूँढ़ने होंगे। एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा कि एक किसान के पास यदि एक इमली का पेड़ है तो उसे अपने अन्य कृषि उपजों के अलावा कुछ नकद राशि प्राप्त होगी जिसका उपयोग वह अपनी बेहतरी के लिए कर सकता है। इस तरह पेड़ों के फलों से होने वाले आय से सम्बन्धित काम किये जा सकते हैं। और अभी से इस दिशा में प्रयास किये जायें तो भविष्य में जब इस तरह के पेड़ों की संख्या कम होने की सम्भावना है, तो ऐसे परिवार या गाँव जहाँ ऐसे फलदार पेड़ होंगे कुछ लाभदायक स्थिति में होंगे।

राँची के आस-पास सौ किमी. के अन्दर लगभग सौ से अधिक छोटे-बड़े बाजार-हाट लगते हैं। जहाँ छोटे व्यापारियों के अलावा कई छोटी-बड़ी कम्पनियों की वस्तुएँ भी पर्याप्त मात्रा में बिकती हैं। कुछ बिजनेस पत्रिकाओं ने ग्रामीण हाटों की चर्चा की है लेकिन वहाँ किसान के हित की बात नहीं की गयी है बल्कि किस तरह विभिन्न कम्पनियों की वस्तुएँ बिक्री हुई हैं इसकी चर्चा की गयी है। जैसे टूथ पेस्ट, साबुन, टैल्कम पाउडर, कुकिंग ऑयल, पैकेज्ड बिस्कुट, चाय, टॉयलेट साबुन, हेयर ऑयल, शैम्पू में बिक्री के बारे तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पिछले चार सालों में इन वस्तुओं की बिक्री में छह (6) से इकतीस (31) प्रतिशत की वृद्धि ग्रामीण बाजारों में हुई है (बिजनेस टुडे 12 मार्च, 2006)। लेकिन, यह नहीं बताया जाता कि पत्तल की बिक्री हाट से शहर में कितनी हो सकती है। नीम का एक दातून कोलकाता में मोटाई के हिसाब से बीस पैसे से लेकर एक रुपये में एक बिकता है। एक व्यापारी, आदिवासी बाजारों से सस्ते दामों में सब्जियाँ आदि लेकर 20-30 किलोमीटर दूरी के शहर में दस से पन्द्रह गुने दाम पर बेचता है। इसके अलावा भी एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा। आज से करीब बारह साल पहले कुछ पारिवारिक कारणों से मांडर गया था और लौटते

वक्त ब्राम्बे बाजार रुक गया। तब दिन के करीब एक बज रहे थे। मैंने एक महिला व्यापारी को उस ग्रामीण बाजार से कई टोकरी सब्जियाँ बस में लादकर जाते देखा। इत्तफाक से शाम को उसी महिला व्यापारी को लालपुर के मार्केट में देखा। उत्सुकतावश मैंने कुछ सब्जियों के भाव पूछे तो पता चला कि ब्राम्बे बाजार की कीमत से वह दस से पन्द्रह गुना कीमत पर सब्जियाँ बेच रही थी। लेकिन जो किसान महीनों जिस उपज के लिए मेहनत करता है वह मिट्टी के मोल अपनी उपज बेचने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। इस सम्बन्ध में अँग्रेजी पत्रिकाओं या अखबारों की खामोशी तो समझ में आती है लेकिन आम जनता की हितैषी घोषित करने वाले हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाओं के अखबार उनके बारे में कम-से-कम कहना पसन्द करते हैं और इसे कोई समस्या नहीं मानते। इसी तरह राजनीतिक पार्टियों के लिए ऐसी समस्याएँ कोई समस्या नहीं हैं। क्योंकि वे भी तो आखिर उसी मध्यवर्गीय सामन्ती, अभिजात्य मानसिकता के शिकार हैं जो मानते हैं– समरथ को नहिं दोष गोंसाईं। बड़े किसानों की बात हर कोई करता है लेकिन राँची एवं आस-पास के छोटे किसानों का कम-से-कम दाम में अपनी उपज बेचने के लिए कब तक बाध्य किया जाता रहेगा? या ऐसी स्थिति क्यों बनी रहनी चाहिए कि वह अपनी मेहनत का मूल्य ही न पाये? या एकदम कम क्यों पाये?

हो सकता है भविष्य में कृषि कार्य निजी क्षेत्र में चला जाय। जब बड़े किसान या कम्पनियाँ ठेके (कान्ट्रैक्ट) पर खेती कर रहे होंगे। बड़ी कम्पनियाँ किसानों को बीज, खाद देंगी। बीच-बीच में कीटनाशक भी। लेकिन वे पूरी फसल अपने लिए खरीद लेंगी। हो सकता है किसान को आज की हालत में जब आढ़त या व्यापारियों के हाथों फसल बेचने से कुछ ज्यादा फायदा हो सकता है। बिचौलियों के न होने से किसान को यह लाभ दोगुना से तिगुना हो सकता है या उससे भी अधिक। यह लाभ उपभोक्ता को भी प्राप्त हो सकता है और उसे मार्केट के व्यापारी से कुछ कम दाम में सब्जी या अन्य चीज मिल सकती है। ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि– रातू, मांडर, बेड़ो, सिल्ली, सिसई, भरनों, पिस्का, इटकी, सिमडेगा, गुमला, लोहरदग्गा के अलावा गोला, पेटरवार आदि इलाकों में जो किसान हैं उनकी हालत को तत्काल और कैसे बेहतर बनाया जाय? यदि कोई उनकी उपज बढ़ाने में उनकी सहायता करे और कोई सुपर मार्केट या सहयोग समिति बनाकर किसानों के लिए कुछ करना चाहता है तो इसका लाभ किसान, उपभोक्ता को तो होगा ही। इसका लाभ समस्त झारखंड को मिल सकता है। क्योंकि अब तक यहाँ के किसानों को बिना उनके वाजिब मूल्य दिये कृषि उपज कहीं और भेज दिये जाते हैं और इसका मुनाफा कुछ मुट्ठी-भर बिचौलिये लोग या झारखंड के बाहर के लोग उठाते रहे हैं। झारखंड में पंजाब, बंगलौर या हैदराबाद जैसी स्थिति आने में सालों लग सकते हैं। ऐसे में किसान के लिए हम क्या कर सकते हैं कि वह अपनी मेहनत का वाजिब कीमत पा सके? या वे अपनी बेहतरी के लिए और क्या कर सकते हैं? सरकारी स्तर पर बहुत कुछ किया जाता है। इस वर्ष ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में भी उनके लिए काफी प्रावधान है। लेकिन पिछले अनुभव बहुत अच्छे नहीं रहे हैं। क्योंकि स्थानीय भौगोलिक, आर्थिक स्थितियों

एवं समस्याओं को समझे बगैर योजनाएँ लागू की जाती रही हैं। आशा की जानी चाहिए इस पंचवर्षीय योजना में स्थानीयता का ध्यान रखा जायगा। इस वर्ष हम साठवीं स्वतन्त्रता दिवस भी मनायेंगे। लेकिन उससे पहले गणतन्त्र दिवस पर किसानों के लिए नये सिरे से सोचने या करने का संकल्प नहीं ले सकते ? आखिर उनकी सुध कौन लेगा ? सरकार, पूँजीपति या बड़ी कम्पनियाँ ? उन किसानों का मुक्तिदाता कौन बनेगा ?

सन् 2007

जयपाल सिंह को अभी समझना बाकी है

राकेश बताव्याल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'दि पेंग्विन बुक ऑफ मॉडर्न स्पीचेस' अपने आपमें एक अद्भुत किताब है, जहाँ 1877 से 1998 तक के ऐसे प्रसिद्ध भाषण संकलित हैं जिससे कि देश प्रभावित हुआ या उन भाषणों द्वारा उठाये गये मुद्दों, प्रश्नों, विचारों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। कुल अट्ठारह खंडों में देश की विभिन्न समस्याओं, मुद्दों, राष्ट्र-निर्माण, स्वतन्त्रता संग्राम, शिक्षा, श्रम, चीनी आक्रमण, विकास समस्याओं, विषयों को बाँटा गया है और इनसे सम्बन्धित प्रसिद्ध भाषणों को संकलित किया गया है।

इस पुस्तक में झारखंड आन्दोलन के अगुआ जयपाल सिंह मुंडा के तीन भाषण संकलित हैं। जिन्हें पढ़कर जाना जा सकता है जयपाल सिंह मुंडा देश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, भाषिक, सांस्कृतिक एवं विकास सम्बन्धी मुद्दों को गहराई से समझते थे। जयपाल सिंह मुंडा न केवल एक राजनीतिज्ञ थे बल्कि समाज-चिन्तक, विचारक भी थे। इस संग्रह में संकलित तीनों भाषणों को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है। ऑक्सफॉर्ड से शिक्षित एवं भारत के पहले ओलम्पिक हॉकी कैप्टेन जयपाल सिंह अपने समय में देश के चन्द उन राजनीतिज्ञों में थे जो अपने विचारों को लेकर अत्यन्त गम्भीर थे।

संसद में बहस करते अपने भाषण में विस्थापन से प्रभावित लोगों के पक्ष में जब उन्होंने कई तर्क प्रस्तुत किये उसमें एक महत्त्वपूर्ण पहलू आदिवासियों के 'आध्यात्मिक पुनर्वास' का भी था। क्योंकि संथाल, मुंडा आदि जाहेर थान (पूजा स्थल) को अन्य धर्मावलम्बियों की तरह कहीं भी बसाये जाने की अपनी व्यावहारिक व सामाजिक कठिनाइयाँ हैं। आगे तर्क करते हुए उन्होंने कहा कि 'विस्थापन से आदिवासियों के आत्मसम्मान खोने का खतरा है'। लेकिन देश को स्वतन्त्रता के बाद विकास की राह पर ले जाने की हड़बड़ी में नेहरू ने उनकी बातों को अनसुना कर दिया और यह मुद्दा आज भी उपेक्षित है। आदिवासियों की अखड़ा परम्परा पर भी उन्होंने तर्क प्रस्तुत किये और कहा कि 'नृत्य में आदिवासियों के जीवन की गति और लय समाहित हैं'। आज सहज ही राँची, धनबाद, जमशेदपुर एवं बोकारो आदि शहरों में इसका दुष्प्रभाव देखा जा सकता है। लेकिन जयपाल सिंह मुंडा ने लगभग साठ-सत्तर साल पहले ही बताया कि

'कैसे शेष भारत जीवन का लय बचाना आदिवासियों से सीख रहा था और सभ्य समाज, जीवन का लय बचाने के लिए नंग-धड़ंग आदिवासियों के बीच जा रहा था। रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे महान कवि इसीलिए बोलपुर जैसे आदिवासी इलाके में गये और इसे अपना कार्य एवं सृजन स्थल बनाया। ('दि पेंग्विन बुक ऑफ मॉडर्न स्पीचेस', पृ. 465)' निश्चय ही यह इनकी पैनी सामाजिक समझ का परिणाम था कि उन्होंने रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-सम्बन्धी कृत प्रयासों में संथाल-आदिवासी प्रभाव को देखा। वहाँ निर्मित भवन आदि पर संथाल गृह निर्माण कला के प्रभाव को स्पष्टत: देखा जा सकता है। इसके अलावा वहाँ कई कलाकारों एवं लेखकों की कृतियाँ संथाल या आदिवासी जीवन से प्रभावित रहे हैं। शाति निकेतन में संथाली भाषा को जो महत्त्व दिया गया यह भी इसका प्रमाण है। नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने 'दि अर्ग्यूमेंटिव इंडियन' में संकलित लेख 'टैगोर और उनका भारत' में लिखा कि 'शान्तिनिकेतन में भारतीय परम्पराओं के प्रति आग्रह के रूप में सशक्त स्थानीय प्रभाव थे' शांति निकेतन के माध्यम से टैगोर ने जाने या अनजाने बंगाली समाज में आदिवासी समाज के प्रति जिस रोमांसवाद को जन्म दिया वह आज भी बरकरार है। विभूतिभूषण, सुनील गंगोपाध्याय, कालकूट, बुद्धदेव गुहा, महाश्वेता देवी के अलावा इससे प्रभावित लोगों की देश-भर में एक लम्बी फेहरिश्त हैं। जयपाल सिंह के उक्त विचारों पर और गहराई से शोध, विचार किये जायें तो सम्भव है कि भारतीय सामाजिकता को समझने के लिए नये उपकरण और नये दृष्टिकोण प्राप्त किये जा सकते हैं। झारखंड निर्माण के बाद उनके खिलाड़ी रूप को महत्त्व तो दिया गया, लेकिन यह देखना निराशाजनक है कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, विकास, भाषा, संस्कृति आदि पर व्यक्त विचारों को आज भी समझा नहीं गया है। ऐसे में टैगोर जन्मशती की 150वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में जयपाल सिंह के नजरिए से रवीन्द्रनाथ टैगोर को जानना, देखना उनकी कृतियों एवं विचारों पर अध्ययन का एक नया आयाम खोल सकता है। क्योंकि जयपाल सिंह जब यह कह रहे थे कि 'शेष भारत टैगोर के बोलपुर के आस-पास के परिवेश से जीवन के लय पा रहे थे'— तो इसका अर्थ कई सन्दर्भों में निहित है। इस निहितार्थ को समझा जाय तो टैगोर और जयपाल दोनों के विचारों को विस्तार मिल सकता है, क्योंकि जहाँ एक व्यक्ति तब विश्व के श्रेष्ठतम शिक्षा संस्थान ऑक्सफोर्ड से शिक्षित था तो दूसरा भारतीय परिवेश में पलकर स्वाध्याय से देश, समाज को समझ रहा था। दोनों पश्चिम के अन्धभक्त नहीं थे, लेकिन वे पूर्व और पश्चिम के समन्वय के हामी थे। जहाँ कभी टैगोर, गांधी से असहमत होते थे वहीं जयपाल सिंह, नेहरू और उनके मन्त्रियों से बार-बार विकास, संस्कृति, भाषा, आदिवासी सवालों पर अपने गम्भीर, मौलिक विचार रखते थे। अपनी दूरदर्शिताओं के कारण आज के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सन्दर्भ में उनके विचार ज्यादा प्रासंगिक होते दिख रहे हैं।

दिनांक 04.05.2012 के प्रभात खबर माँय माटी में प्रकाशित

लॉरी बेकर—गृह निर्माण में देशज परम्परा के उद्धारक

आज से लगभग बीस बाईस साल पहले एक दिन इकॉनॉमिक्स टाइम्स उलट पुलट रहा था। अचानक एक लेख पर मेरी नजरें टिक गईं। देखा कि पारम्परिक तरीके से गृह निर्माण के बारे लेख था। साथ में कुछ रेखाचित्र भी थे। मैं इसे पढ़ा और तब पहली लॉरी बेकर के बारे जान पाया वे एक विदेशी आर्किटेक्ट हैं जो केरल में रहते हैं। अखबार में लॉरी बेकर द्वारा लिखित किताब के बारे में जानकारी भी थी। अतः पुस्तक मंगवा ली। पुस्तक पढ़कर जाना कि– लोग घर अपने लिए बनाते हैं। यह कहना गलत है कि वे अपनी संतानों के भविष्य के लिए घर बनवा रहे हैं। देखा गया है कि अधिकांश बच्चे अपने लिए घर बना लेते है और वे अपने पिता के द्वारा बनवाए घर में कम ही रहते हैं। क्योंकि जब तक बच्चे बड़े होते हैं तब तक घर के डिजाईन एवं लोगों की रहन सहन की जरूरतें और आदतें बदल चुकी होतीं हैं। ऐसी हालत में पुश्तैनी घर या कहें पिताजी द्वारा तीस चालीस साल पहले बनाए घर आउटडेटेड हो चुकी होती है। अतः उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि लोग अपनी सुविधा के लिए, अपने रहने के लिए घर बनाते है। उन्होंने प्रश्न किया था आप अपने पिता के घर में कितने दिन रहे? और आपके पिताजी अपने पिताजी यानी दादाजी के घर में कितने दिन रहे? जाहिर है अधिकांश लोग ताउम्र पिताजी के बनाए घर में नहीं रहते हैं। रोजी रोटी की तलाश में या अपनी भावी जरूरतों के लिए उन्हें घर छोड़ना पड़ता है या घर का नवनिर्माण करना पड़ता है। इसलिए उन्होंने सलाह दी थी कि आप अपने लिए घर बनाएँ और अपनी संतानों के लिए जमीन बचाएँ ताकि भविष्य की जरूरत के हिसाब से बच्चे अपने लिए घर बना सकें। फिर उन्होंने गृहनिर्माण के लिए प्रयोग किए जाने वाले सामग्री की भी चर्चा की थी। दीमक वाले इलाके में दीमक से बचने के लिए देसी तरीके का उल्लेख भी उस पुस्तक में था। मिट्टी का उपयोग कर घर को कैसे आरामदायक बनाया जा सकता है इसके बारे भी वर्णन था। अतः तथाकथित आधुनिक शिक्षा के कारण जैसा कि हम कई सारी गलत धारणाओं एवं कुंठा के शिकार हो जाते है, गाँव में मिट्टी के बने घर को लेकर मेरे मन में यही कुंठा थी। लेकिन मिट्टी के बारे उसके बहुउद्देश्य उपयोग के बारे में लॉरी बेकर की किताब में पढ़ने के बाद ही मिट्टी के घर एवं पुरखों के ज्ञान पर गर्व कर सका।

गांधी जी से लॉरी बेकर की एक संक्षिप्त मुलाकात 1945 में हुई थी। भारतीय आवश्यकता के अनुकूल पांच किलोमीटर के दायरे में उपलब्ध सामग्री से बने घर को गांधीजी ने आदर्श घर बताया था। इसका असर आजीवन बेकर के जीवन पर पड़ा। वे गृहनिर्माण के लिए स्थानीय सामग्री के उपयोग पर बल देते थे। सीमेन्ट एवं स्टील का प्रयोग कम से कम करते थे। अतः लॉरी बेकर के बनाए घर लागत मूल्य में काफी कम हैं। साथ ही वे वातावरण के अनुकूल गृह निर्माण के तकनीक पर भी बल देते थे। इसके लिए वे स्थान विशेष की भौगोलिक स्थिति का भी ख्याल रखते थे। वे गृह निर्माण के बारे कहा करते थे कि यह दस से पन्द्रह प्रतिशत तकनीक का ज्ञान है बाकी सब कॉमन

सेन्स पर निर्भर करता है। बेकर ने अपने घर को इस तरह बनाया कि वहाँ पंखे की आवश्यकता नहीं होती है। बेकर द्वारा बनाए घरों की खासियत यह थी कि वे सीमित बजट में ही तैयार किये जाते थे।

वे बर्मिंघम इंगलैंड में 1917 में पैदा हुए थे। लेकिन भारत में रहते 1988 में इन्हे भारतीय नागरिकता मिली। भारत सरकार ने उन्हें इसी वर्ष पद्म भूषण से सम्मानित किया। इसके अलावा उन्हे ढेर सारे देशी विदेशी सम्मान से भी नवाजा गया है। अँग्रेज होने के बावजूद वे कई मामलों में भारतीयों से ज्यादा भारतीय थे। विशेषत: गृह निर्माण कला के मामले में तो उसकी कोई सानी नहीं। उन्होंने दो हजार से अधिक घरों का डिजाइन एवं निर्माण किया। जिनमें अनेक संस्थानों के कार्यालयों के अलावा मछुआरों के लिए बनाए गए घर भी शामिल हैं। लेकिन उनका कहना था कि उन्होंने उच्च आय समूह या मध्यम आय समूह जैसे किसी वर्ग विशेष के लिए कोई घर नहीं बनाया बल्कि उनका कहना था कि उन्होंने किसी मैथ्यू, किसी वासुदेवन या किसी नैय्यर के लिए घर बनाया। यानी घर के माध्यम से वे व्यक्ति की पहचान को महत्व देते थे।

लॉरी बेकर की बड़ी विशेषता थी गृह निर्माण के लिए– स्थानीय ज्ञान, तकनीक एवं सामग्री को महत्व देना। कम–से–कम अपनी मृत्यु तक वे कुछ लोगों को इतना आश्वस्त तो जरूर कर सके कि गृह निर्माण की उनकी तकनीक भारत जैसे विकासशील देश के लिए प्रासंगिक है। अगर कोई चाहे तो वह लॉरी बेकर के कुछ तौर तरीकों को अपना कर, उसमें परिवर्तन, रूपान्तरण कर झारखंड में झारखंडी शैली के गृह निर्माण कला का विकास कर सकते हैं। इको–फ्रेन्डली घर बना सकते है। गृह निर्माण की नई शैली एवं कला विकसित कर सकते हैं। नवनिर्मित इस राज्य के लिए यह कला अपनी अलग पहचान भी दिला सकता है जिसके विकास की जबरदस्त संभावना झारखंड में है। कोई आजमाकर देखे तो!

सन् 2012

सूनामी हादसे का संदेश क्या था?

26 दिसम्बर 2004 की सुबह समुद्र में उठे जलजले ने पूरी दुनिया को हिलाकर रख दिया। कुछ मिनटों के अंदर लगभग दो लाख लोगों की मृत्यु, हजारों बच्चे अनाथ, लाखों बेघर। आशा निराशा के बीच लेकिन मनुष्य फिर से प्रकृति के इस हादसे से उबरने में जुट गया उजड़ी दुनिया को बसाने के लिए जुट गया एक दूसरे के आँसू पोछने के लिए आगे बढ़ गया। जिसे उसने कभी देखा नहीं है उसके लिए सहानुभूति पैदा हो गयी वह उसके रोटी, कपड़े के इंतजाम में लग गया। यही दुनिया है। जहाँ कभी हम ही लड़ते झगड़ते हैं जाति, धर्म, देश, भाषा, संस्कृति रक्षा के नाम और फिर कभी जुट जाते हैं अनजान लोगों की मदद के लिए। जिन्हें हम जानते पहचानते नहीं, जहाँ हम कभी गये

नहीं, उस जगह और उन लोगों के लिए आँखों में आँसू भर आते हैं। क्यों? शायद इसलिए कि मनुष्य चाहे जिस भी देश रहता हो वह प्रकृति से हमेशा जूझता ही रहता है। चाहे वह साधन हीन ध्रुव प्रदेश का एस्किमो हो, अफ्रीका के घने जंगलों को नीग्रो, गंगा किनारे बसा कोई भारतीय या विज्ञान एवं तकनीकी रूप से सबसे सक्षम जापान का कोई नागरिक हो या अमेरीका का कोई नागरिक। सभी किसी न किसी तरह हर पल प्रकृति से जूझते रहते हैं। यह उनके भोजन संग्रह की समस्या से सांस लेने की समस्या कुछ भी हो सकती है। लेकिन मनुष्य प्रकृति से हमेशा संघर्ष करता रहता है। कई बार वह प्रकृति को अपना गुलाम बनाता दिखता है। वह यह भ्रम पाल भी लेता है। ज्ञान विज्ञान के तकनीक जिसे अपनी सुविधाएँ बढ़ाने के लिए करना चाहिए उस ज्ञान से प्रकृति की सीमाओं का अतिक्रमण कर उसे चुनौती देता सा लगता है। यही वह बिन्दु है जहाँ मनुष्य हर प्रकार से ज्ञान विज्ञान की जानकारियों से लैस होने के बावजूद प्रकृति से प्राप्त सूनामी जैसी प्राकृतिक हादसों से हारता है। क्यों?

एक तो इसलिए कि ज्ञान विज्ञान की जानकारियों को वह विश्व बाजार में मुनाफा कमाने का सामान बना देता है या अपनी शक्ति प्रदर्शन का उपकरण। दूसरा इसलिए कि इस नशे में डूबा वह पारम्परिक ज्ञान की उपेक्षा करता है।

अगर भारत या अन्य सूनामी प्रभावित देशों के पास अग्रिम सूचना प्रणाली होती या वे प्रशान्त महासागर के सूनामी प्रभावित देशों द्वारा विकसित सूचना प्रणाली के सदस्य होते तो शायद उन्हें सूनामी की अग्रिम सूचना मिल जाती। या फिर वे अंडमान के आदिवासियों की तरह समुद्री हलचलों को देखकर, पशु पक्षियों के बदले व्यवहार को देखकर सूनामी आने के खतरे को पहचानने और पढ़ने का ज्ञान रखते तो शायद अन्य इलाकों के लोग भी बच जाते।

इसलिए जरा सोचें इस हादसे का संदेश क्या है? शायद यह कि मनुष्य आधुनिक ज्ञान विज्ञान की जानकारी रखने या उसे अपनाने के साथ साथ मनुष्य द्वारा प्राप्त अन्य पारम्परिक उपयोगी ज्ञान की भी जानकारी रखे, जो सीधे उसे प्रकृति से प्राप्त होते हैं। तब दोनों प्रकार के ज्ञान के समन्वय से मनुष्य को और ज्यादा सुरक्षित रखने की संभावना बढ़ सकती है।

सीबीएसई बोर्ड की किताबों में इस वर्ष से सूनामी के बारे में जानकारी सम्मिलित की जा रही है। किन्तु, क्या हमारी पारंपरिक ज्ञान की महत्ता के बारे भी सोचा जायगा? या सूनामी जैसी किसी और हादसे का चुपचाप इंतजार करें हम?

सन् 2005

भाषा, साहित्य, संस्कृति

आदिवासी साहित्य– चुनौतियाँ, दशा एवं दिशा

आदिवासी साहित्य के भविष्य की चर्चा करते सबसे पहले तो हमें इसके नाम के औचित्य को सिद्ध करना पड़ेगा। क्योंकि कई लोगों को यह साहित्य में आरक्षण की माँग लग सकता है। कई लोगों को जीवन के यथार्थ से कटा लग सकता है। तो सबसे पहले स्पष्ट कर दिया जाय कि जिस तरह हिन्दी, बँगला, अँग्रेजी, कोंकणी, मराठी, रूसी, जापानी, दलित या अश्वेत साहित्य आदि की चर्चा की जाती है उसी तरह आदिवासी साहित्य की चर्चा की जाय। चूँकि किसी भी भाषा समूह या समुदाय का साहित्य उसके समग्र जीवन का शब्दों द्वारा चित्र है और अगर यह भाषा, आदिवासी समुदाय से जुड़ी है तो निश्चय ही इस साहित्य का नाम अन्य साहित्य की तरह आदिवासी साहित्य होगा। इसमें किसी को कोई आपत्ति एवं संशय नहीं होनी चाहिए। जैसे कभी कोई साहित्य किसी भाषा समुदाय से जुड़कर बँगला साहित्य बन जाती है जबकि मुस्लिम या हिन्दू दोनों तरह के लेखकों द्वारा बँगला देश एवं भारत दो देशों के साहित्यकारों द्वारा में लिखी जा रही होती है। तो कभी यह समुदाय विशेष से जुड़कर दलित या अश्वेत साहित्य भी कहलाती है और किसी एक भौगोलिक क्षेत्र तथा भाषा विशेष में बँधी नहीं दिखती। किन्तु, एक विशेष जीवन शैली या मानसिकता की सूचक भी बन जाती है। लगभग इसी तरह आदिवासी साहित्य भी किसी एक भाषा या एक भौगोलिक सीमा मात्र से बँधी नहीं है। लेकिन ये एक विशेष मानसिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक सन्दर्भों में विशिष्ट जीवन-शैली के वातावरण में बँधे होने के कारण आदिवासी कही जाती है। इस विशेष परिवेश के कारण वह मानव जीवन की मुक्ति या जीवन के यथार्थ से कट नहीं जाती बल्कि अब तक उपेक्षित मानव-मुक्ति के संघर्ष को स्पष्ट रूप से देखने का प्रयास करती है। इसलिए आदिवासी साहित्य के बारे में संकीर्णता की बात करना गलत है। आदिवासी साहित्य भौगोलिक एवं भाषिक रूपों, आकारों में बंटी होने के बावजूद समुदाय विशेष की जीवन-शैली की एकरूप विशिष्टताओं के कारण हर जगह समान है। इसकी यही व्यापकता इसे आदिवासी समाज के विभिन्न समुदायों से जोड़ती है, जो भारत या विश्व में कहीं भी स्वयं आदिवासियों द्वारा या इनके हितैषियों द्वारा लिखी और पढ़ी जा रही है। चूँकि शिष्ट कहे जाने वाले साहित्य ने जीवन की समग्रता में मानव-मुक्ति की बात करते सिर्फ अपनी मुक्ति की चर्चा और अपनी तकलीफों का ही इजहार किया है। ऐसे में यह स्वाभाविक है कि जिस मनुष्य की बात साहित्य में नहीं की गयी है, वह अपना हक और हिस्सा माँगे। आदिवासी साहित्य इतिहास में, समाज में अपने अस्तित्व रक्षा के अतिरिक्त यह पूछ रहा है कि साहित्य में उसकी मुक्ति का संघर्ष कहाँ है? या साहित्य के दर्पण में उसका चेहरा कहाँ और कैसा है?

मानव के विकास के क्रम में किसी के द्वारा भिन्न परिस्थितियों में, भिन्न परिवेश में अलग तरह के जीवन-संघर्ष करने पड़ते हैं। इसलिए इनका नामकरण अलग नामों में किया जाना आवश्यक है ताकि परिवेशगत भिन्नता को पहचाना जा सके। वैसे साहित्य मूल रूप में मनुष्य के जीवन-यथार्थ एवं संघर्ष की ही कहानी कहता है। लेकिन हमारे कुछ मित्रों को आदिवासी, दलित, अश्वेत साहित्य आदि नाम देने से लगता है कि वहाँ मानव-संघर्ष नहीं हो रहा है या वहाँ जीवन का यथार्थ नहीं है। लेकिन क्या दलित, अश्वेत या आदिवासी उन विपरीत धारणाओं के खिलाफ संघर्ष नहीं कर रहे हैं जो परिस्थितियाँ उनके विरुद्ध हैं? या उन्हें हमेशा बौना या तुच्छ बनाने पर तुली रहती हैं! साहित्य को एक सीमित सभ्य ढाँचे में बाँधकर रखने से मानव की मुक्ति नहीं हो सकती उसे वहाँ ले जाना होगा जहाँ वास्तव में उसकी जरूरत है। इसे ऐसे समझा जा सकता है कि जिस तरह धान उगाने के तकनीक, मिट्टी, वातावरण आलू उगाने के तकनीक, वातावरण, मिट्टी से भिन्न होती है। इसलिए धान उगाने के तकनीकी-ज्ञान एवं अनुभव से आलू की फसल का या आलू उगाने के तकनीकी-ज्ञान या अनुभव से धान की फसल का मूल्यांकन नहीं कर सकते हैं। कुछ ऐसी ही समस्या शिष्ट और आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन या तुलना करने में है। अगर भारतीय या विश्व समुदाय, आदिवासी साहित्य की जरूरत अनुभव करता है तो वह उसकी बात करेगा, विचार-विमर्श करेगा। भारत के कोने-कोने में इस पर कार्य हो रहे हैं इसका अर्थ है कि कहीं कुछ तो ऐसा है जिसके कारण साहित्य सृजन के लिए आदिवासी विवश हुए हैं। अत: उन्हें साहित्य सृजन करने दीजिये। सभ्य कहे जाने वाले अपने ज्ञान या अनुभव संसार एवं संस्कार से इस साहित्य को मत तौलिये! क्योंकि यह मुट्ठी-भर रचनाकारों की साहित्यिक कुंठा का विस्फोट भर नहीं है जैसा कि इसके बारे में कुछ लोगों द्वारा आरोप लगाया जा रहा है। बल्कि समस्त मानव की मुक्ति का साधन भी है। यदि विश्व परिदृश्य में देखें तो स्पष्ट होगा कि समाज और देश तभी आगे बढ़ता है जब उसकी पारम्परिक धारणाओं में परिवर्तन आता है, चाहे वह कोई तकनीक हो, जीवन-शैली हो, नया विचार हो या ऐसा ही और कुछ। इसलिए साहित्य में नया अनुभव संसार जुड़ रहा है तो इससे मनुष्य की मुक्ति की आकांक्षाएँ ही स्पष्ट और विस्तृत होती हैं। आदिवासी साहित्य, अब तक के अनदेखे मानवीय संघर्ष, आकांक्षा, व्यथा के – रूप, रंग, आकार एवं मानव गन्ध को देखने, महसूसने की दिशा में अगला कदम है तो इसका स्वागत किया जाना चाहिए। चूँकि हम अपने सीमित भौगोलिक परिवेश में रहते हुए विशेष प्रकार के खान-पान या रहन-सहन या सोच के आदी हो जाते हैं और जब उससे अलग किसी प्रकार की वस्तु या अनुभव प्राप्त करते हैं तो उसे शंका एवं संकोच के साथ ग्रहण कर पाते हैं। जैसे सती-प्रथा, छुआछूत की समस्या या फिर आधुनिक सन्दर्भ में टी.वी., कम्प्यूटर या मोबाइल का समाज में प्रवेश। आरम्भ में नयी सोच, तकनीक या परिवर्तन को अपनाने में मनुष्य या समाज झिझक दिखाता ही है। फिर उससे परिचित हो जाने के बाद ग्रहण करता है। लगभग यही स्थिति आदिवासी साहित्य के साथ भी है। जिसे देखा नहीं, चखा

नहीं, खाया नहीं, वह अखाद्य हो गया है। लेकिन ये इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि जो आपके लिए अखाद्य है, वह दूसरे के लिए पुष्टिकारक नहीं हो सकता। बल्कि, इसका अर्थ यह है कि जिसे आपने देखा नहीं वह भी सुन्दर, कल्याणकारी और सत्य है। साहित्य, जीवन को देखने का अलग दृष्टिकोण एवं अनुभव देकर मनुष्य को दृष्टि-सम्पन्न ही बनाता है। आदिवासी साहित्य यही प्रयास कर रहा है लेकिन आदिवासी वातावरण में विकसित अपने नजरिये से, अन्तर यही है। जबकि सभ्य समाज इसे अपने बनाये मापदंड से मापना चाहता है, समस्या का आरम्भ यहाँ से होता है।

साहित्य अकादमी, रमणिका फाउंडेशन एवं अखिल भारतीय आदिवासी साहित्यिक मंच के प्रयासों से पिछले दो-तीन वर्षों से हिन्दी में आदिवासी साहित्य की चर्चा जरूर हो रही है। मई 2005 में राँची में आयोजित अखिल भारतीय आदिवासी साहित्य सम्मेलन से आदिवासी साहित्य को नयी दिशा मिलने की आशा है। कारण यहाँ पहली बार पूर्वोत्तर राज्यों सहित सम्पूर्ण भारत के आदिवासी साहित्यकार न केवल एक-दूसरे से परिचय प्राप्त कर रहे थे बल्कि एक-दूसरे के विचारों एवं कृतियों से भी रू-ब-रू हो रहे थे। यह आदिवासी समाज में एक नयी प्रेरक घटना है। विपरीत परिस्थितियों में आदिवासी भाषाओं में बहुत कुछ लिखा गया है और मुख्य धारा की पत्र-पत्रिकाओं में इनकी चर्चा भी आरम्भ हो चुकी है। जैसे सापेक्ष, पहल, आलोचना, अकार, हँस, कथादेश, वागर्थ, नया ज्ञानोदय, दस्तक, समकालीन जनमत, अरावली उद्घोष, समयान्तर, युद्धरत आम आदमी, कांची, ''झारखंडी भाषा सहित संस्कृति अखड़ा'' आदि पत्रिकाओं के अलावा राँची से प्रकाशित दैनिक प्रभात खबर ने या तो आदिवासी रचनाकारों की रचनाओं को स्थान दिया है या इसके बारे में समीक्षात्मक लेख आदि प्रकाशित किये हैं। अब राँची, झारखंड से प्रकाशित अन्य हिन्दी अखबारों ने भी आदिवासी रचनाकारों को स्थान देना आरम्भ कर दिया है। बँगला अखबार आजकाल (आजकल) अपने आरम्भिक दौर में आदिवासी लेखकों को जरूर छापा था। लेकिन सम्प्रति बँगला में ऐसा होता नहीं दिखता। लगभग यही हाल उड़िया का भी है। जबकि बंगाल एवं उड़ीसा में बँगला एवं उड़िया के काफी साक्षर आदिवासी इन अखबारों के पाठक हैं। लेकिन मराठी में प्रकाशित एक दैनिक सम्राट– दलित, आदिवासी समस्याओं, मुद्दों को केन्द्रित कर प्रकाशित हो रहा है। गुवाहाटी से प्रकाशित अँग्रेजी दैनिक दि सेंटीनल प्रत्येक शुक्रवार को एक बहुभाषी परिशिष्ट मल्टी लिंग्वल प्रकाशित करता है। जिसमें असमिया, बँगला, हिन्दी के अलावा बोडो एवं खासी जैसी आदिवासी भाषाओं में साहित्यिक रचनाएँ, सांस्कृतिक समाचार आदि प्रकाशित होते रहे हैं।

लेकिन इन प्रयासों के पूर्व वर्ष 1980 एवं 1981 के बीच दिनमान एवं धर्मयुग आदिवासियों की विभिन्न समस्याओं के प्रश्नों पर विशेषांक प्रकाशित कर चुके थे। बाद में साप्ताहिक हिन्दुस्तान का भी आदिवासी विशेषांक प्रकाशित हुआ। इस तरह नौवें दशक के आरम्भ होने के आस-पास हिन्दी की तत्कालीन तीनों प्रमुख हिन्दी साप्ताहिकों ने अपने स्तर से आदिवासी समाज को समझने का प्रयास किया था।

कमलेश्वर सम्पादित सारिका के समान्तर कहानी शृंखला की कुछ कहानियाँ आदिवासी समाज की झलकियाँ प्रस्तुत करती हैं। रविवार एवं चौथी दुनिया जैसे साप्ताहिकों ने आदिवासी जीवन को समझने के लिए निरन्तर रिपोर्ट, कहानियाँ आदि प्रकाशित होती रहीं। लेकिन ये इस समय प्रकाशित विभिन्न लेखों का स्वर इनके विरोधी-शक्तियों को समझना और इनकी विचित्र जीवन-शैली का चित्रण करना था। फिर भी इस बीच इन पत्रिकाओं में आदिवासी संघर्षों के रिपोर्ताज आदि ने साक्षर आदिवासी समाज को इतना बल तो दिया ही कि वह आगे शोषण, अन्याय, भेदभाव के विरुद्ध अपने संघर्ष को बढ़ाते रहे। ऐसा होने पर भी आदिवासी समाज की आन्तरिक ऊर्जा एवं शक्ति को जाँचने-परखने का काम अपेक्षाकृत कम ही हुआ है। आज आदिवासी समाज की ऐसी छवि बना दी गयी है जो वास्तविक नहीं है। उसे जंगल में माँदर या बाँसुरी बजाते एक निरीह, असहाय, खामोश आदमी के रूप में देखने का साँचा गढ़ लिया गया है, जो विस्थापित किये जाने पर गुस्से में कभी-कभी चीख-चिल्ला लेता है। लेकिन जैसे ही एक जुझारू आदिवासी इस साँचे से बाहर निकलता दिखता है, नस्लवादी लोगों की तकलीफें बढ़ जाती हैं।

दूसरी ओर आदिवासी समाज का अब तक का सबसे दुःखद एवं त्रासद पहलू यह है कि घर वापसी के बाद भी वह बेघर हो रहा है। इस तरह विस्थापन, धर्मान्तरण, शुद्धीकरण और फिर भूमंडलीकरण द्वारा सारी दुनिया से बेघर कर ठगे जाने, उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित किये जाने का दर्द सिर्फ आदिवासी समाज झेल रहा है। इसलिए उसकी स्थिति कई जगह बँधुआ मजदूरों से भी बुरी है। फिर भी वह जीवित है और जीवित रहेगा तो अपनी अदम्य जिजीविषा के कारण, जीवन के प्रति अपनी संघर्षशील क्रिया एवं आस्था के कारण। बार-बार तमाम तरह के सभ्य छल-प्रपंचों को दरकिनार करते अपने अस्तित्व रक्षा के लिए जमीन से, जीवन से जुड़े होने के कारण। सम्भवतः यही जुड़ाव उसके साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति है।

चूँकि हर समुदाय अपने से भिन्न परिवेश के लोगों के लिए एक अलग छवि गढ़ लेता है। और जैसे ही वह समुदाय उस छवि के फ्रेम से बाहर जाता है, उसे तकलीफ होती है। जैसे भिन्न संस्कृतियों में रची गयी चित्रकलायें कई बार एक-दूसरे की समझ के बाहर होती हैं। आदिवासी साहित्य के बारे सभ्य समाज का कष्ट यही है कि सभ्य समाज के अधिकतर लोग आदिवासी समाज को अपने रंगीन चश्मे से ही देखना पसन्द करते हैं। लेकिन ये आदिवासी रचनाकार स्वयं को कैसा देखना चाहते हैं? साहित्य में कैसा दिखना चाहते हैं? इस प्रश्न से जूझना आदिवासी साहित्य का संघर्ष है। ऐसे में आदिवासी रचनाकार की भूमिका, चुनौतियों से भरी पड़ी है कि वह आदिवासी समाज के किन सवालों को प्राथमिकता के आधार पर समझें और लिखें। इतिहास में आदिवासी की भूमिका तलाशें, विस्थापन की समस्या से जूझें, धर्म के ठेकेदारों से लड़े, भूमंडलीकरण के सवालों से दो-दो हाथ हो, अपने समाज की बुराइयों से जूझे, वर्ग एवं वर्ण-भेद की समस्याओं से लड़े, जमीन माफियाओं से अपनी जमीन बचाये, जंगल कटने से रोके,

कला संस्कृति और भाषा बचाये, भूख से मरते अपने भाइयों को बचाये या इस सामन्ती, पुरोहितवादी, सवर्णवादी, वर्चस्ववादी, साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, पूँजीवादी सामाजिक ढाँचे में अपने अस्तित्व व पहचान की रक्षा के लिए संघर्ष करे! क्या करे वह? इन प्रश्नों के प्रभाव-विस्तार, आदिवासी समाज को किस तरफ ले जा रहे हैं या ले जा सकते हैं, इससे आगाह करना आदिवासी रचनाकार के लिए एक महत्वपूर्ण चुनौती है।

वैसे अस्सी के दशक में उभरते कुछ हिन्दी कथाकारों ने आदिवासी जीवन को देखने का प्रयास किया। मेहरुन्निसा परवेज, शानी, राजेन्द्र अवस्थी, संजीव, शैवाल, विद्याभूषण, हेमन्त, मोहन राणा, अरविन्द चतुर्वेदी, नारायण सिंह, बासुदेव, रतन वर्मा आदि की रचनाओं में आदिवासी जीवन का चित्रण हो रहा था। पलामू में कार्यरत एक प्रशासनिक अधिकारी ने 'वनकन्या' नाम से उपन्यास लिखा तो एक बंगाली आई.ए.एस. अधिकारी सुधांशु कुमार चक्रवर्ती ने 'अरण्य कन्या' उपन्यास बँगला में लिखा। महाश्वेता देवी के उपन्यासों ने आदिवासी समाज में एक नयी चेतना का विकास किया। जंगल के दावेदार उपन्यास को साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त होने के बाद बिरसा मुंडा का जो अखिल भारतीय स्वरूप उभरा वह इसी का परिणाम है। मनमोहन पाठक का उपन्यास पलामू के आदिवासियों के जीवन पर गगन घटा घहरानी उपन्यास प्रकाशित हुआ, जो हिन्दी पाठकों के बीच सराहा गया। संजीव का झारखंड आन्दोलन को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास पाँव तले की दूब पाठकों का ध्यान ज्यादा आकर्षित नहीं कर सका, लेकिन आदिवासी समाज की ओर ध्यान देने का वातावरण जरूर बनाया। जंगल जहाँ से शुरू होता है थारू समाज पर लिखा उपन्यास संजीव का एक अन्य बेहतर प्रयास है। तेजिन्दर का उपन्यास काला पादरी जसपुर के उराँव जनजीवन को समझने प्रयास करता है। जहाँ ईसाइयत से प्रभावित आदिवासी समाज की मानसिकता एवं समस्याओं को लेखक ने स्पर्श करने का प्रयास किया है। श्रीप्रकाश मिश्र का जहाँ बाँस खिलते हैं मिजो आदिवासियों की समस्या को सामाजिक-राजनैतिक सन्दर्भ में देखने का प्रयास है। तो उड़िया उपन्यासकार प्रतिभा राय का बोंडा आदिवासियों पर लिखा उपन्यास आदिभूमि इधर चर्चित रहा है। विनोद कुमार का उपन्यास समर शेष है तथा राकेश कुमार सिंह का पठार पर कोहरा उपन्यास भी झारखंड आन्दोलन पर आधारित है। इसके अलावा कुछ उपन्यास जैसे मैला आँचल, परिशिष्ट आदि में आदिवासी पात्र उपस्थित हैं। अभी-अभी हरिराम मीणा के उपन्यास – आदिवासी जालियाँवाला कांड, धूणी तपे तीर प्रकाशित होने की सूचना मिली है।

इधर कुछ आदिवासी लेखकों के आत्मकथात्मक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त रामदयाल मुंडा, निर्मल मिंज, हरिराम मीणा, लक्ष्मण गायकवाड़, वाल्टर भेंगरा तरुण, शंकर लाल मीणा, रोज केरकेट्टा, इग्नाशिया टोप्पो, पीटर पॉल एक्का, शारदा प्रसाद किस्कू, बासुदेव बेसरा, महादेव हाँसदा, शिशिर टुडू, हैरॉल्ड एस. तोपनो, ग्रेस कुजूर, भुजंग मेश्राम, वाहरू सोनवणे, लटारी कवडू मडावी, मंगल सिंह मुंडा, परिमल हेम्ब्राम, वासवी, दयामनी बरला, निर्मला पुतुल आदि के विविधतापूर्ण लेखन कार्यों ने मुख्यधारा के

आलोचकों एवं बुद्धिजीवियों का ध्यान आकृष्ट किया है। लेकिन नाटक, कहानी, उपन्यास लेखन कार्य झारखंड में स्वयं आदिवासियों द्वारा काफी कम लिखा गया है जबकि इसकी असीम सम्भावना बनी हुई है। पूर्वोत्तर राज्यों के बोडो, मिजो आदि के अलावा अन्य आदिवासी भाषाओं के विभिन्न लेखकों द्वारा अपनी मातृभाषा और अँग्रेजी में पर्याप्त मात्रा में हर विधा पर लिखा गया है। जिसकी बानगी युद्धरत आम आदमी के पूर्वोत्तर आदिवासी साहित्य विशेषांक में देखी जा सकती है। जहाँ वे लोक-कथाओं का पुनर्लेखन मात्र नहीं कर रहे हैं बल्कि आधुनिक जीवन की बहुस्तरीय समस्याओं का विश्लेषण विभिन्न सन्दर्भों में कर रहे हैं। पूर्वोत्तर राज्यों के लगभग आधे दर्जन लेखकों को लेखन कार्य के लिए साहित्य अकादमी या पद्मश्री से पुरस्कृत, सम्मानित किया गया है। जबकि झारखंड में सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए सम्मानित मात्र दो व्यक्तियों जुएल लकड़ा एव चित्तू टुडू के नाम याद आते हैं। लेकिन हाल ही में संताली लेखक जदूमनी बेसरा को साहित्य अकादमी के पुरस्कार से सम्मानित किया गया है।

राँची की सांस्कृतिक संस्था अखड़ा ने प्रखर पत्रकार, चिन्तक स्व. हेरॉल्ड सैमसन तोपनो की स्मृति में झारखंड के उभरते सम्भावनाशील लेखक, पत्रकार या साहित्यकार को प्रतिवर्ष सम्मानित करने का निर्णय लिया। हेरॉल्ड सैमसन तोपनो स्मृति का पहला सम्मान संताली भाषा की चर्चित कवयित्री निर्मला पुतुल को राँची में आयोजित एक समारोह में प्रदान किया गया। निश्चय ही पुरस्कारों एवं सम्मानों से एक माहौल बनता है। इस समाज और भाषा का गौरव एवं आत्मविश्वास भी बढ़ता है। साथ ही नयी पीढ़ी के लोग उसमें शामिल होना चाहते हैं। निर्मला पुतुल का संताली से हिन्दी में अनूदित कविता-संग्रह नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित किया। एक विशेष योजना के तहत छह कवियों का एक सेट छापा जिसमें सबसे पहले निर्मला का संग्रह एक साल के अन्दर समाप्त हो गया। यह आदिवासी साहित्यकारों के लिए उत्साहवर्द्धक स्थिति है। क्योंकि इसके पूर्व जितनी भी रचनाएँ प्रकाशित हुईं वे या तो अचर्चित रहीं या गोदाम में पड़े-पड़े सड़ गयीं। निर्मला का एक अन्य कविता-संग्रह रमणिका फाउंडेशन द्वारा द्विभाषी रूप में मूल संताली के साथ हिन्दी में भी प्रकाशित किया गया है।

भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित 22 भाषाओं के अलावा तीस से अधिक भाषाएँ ऐसी हैं जिनके बोलने वालों की संख्या दस-दस लाख से अधिक है। इनमें से अधिकांश भाषाओं में आदिवासी साहित्य पर्याप्त मात्रा में लिखा जा रहा है। लेकिन ये ऐसा प्रतीत होता है इन भाषाओं में अभी कोई बड़ी और चर्चित कृति नहीं लिखी गयी है। किन्तु, इसके बारे में सुगबुगाहट आरम्भ हो चुकी है। कई अपनी रचनाओं से साहित्य-जगत में हलचल मचा चुके हैं। संताली, बोडो, मुंडा, उराँव, खड़िया, हो, तुलू, हल्बी, गोंडी, मिजो, खासी, कोकबरोक, राभा आदि भाषाओं के अलावा हिन्दी, अँग्रेजी, बँगला, मराठी, उड़िया, तमिल, कन्नड़, मलयालम, तेलुगू, गुजराती आदि भाषाओं में भी आदिवासी लेखकों ने अपनी उपस्थिति दर्ज की है और

विद्वत जनों को प्रभावित किया है। महाराष्ट्र में आदिवासी साहित्य आन्दोलन तेजी से उभरा है और यहाँ आदिवासी साहित्यकार सबसे अधिक एकजुट एवं सक्रिय हैं। उत्तर पूर्वोत्तर राज्यों में भी स्थिति अच्छी है। मध्य भारत में इसकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती। लेकिन ये अब यहाँ साहित्य सृजन की सुगबुगाहट को अनुभव किया जा सकता है। झारखंड एवं छत्तीसगढ़ के निर्माण के बाद पिछले कुछ वर्षों में पर्याप्त मात्रा में हिन्दी एवं आदिवासी भाषाओं में छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

फिलहाल आदिवासियों द्वारा लिखा जा रहा साहित्य मात्र समाजशास्त्रीय किस्म का लेखन या सब्लार्टन लेखन का विस्तार भर नहीं है, बल्कि कहा जा सकता है कि वंचितों, उपेक्षितों के मुँह खोलने से भारतीय समाज की अधूरी अभिव्यक्ति, अब पूर्णता प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हो रही है। जनतान्त्रिक देश में अपने भाषायी एवं सांस्कृतिक अधिकारों के अस्तित्व का संघर्ष एवं विचार-विमर्श तो होना ही चाहिए ताकि समाज के विभिन्न परतों को समझा जा सके और उनका विकास किया जा सके। आदिवासी साहित्य में तिरस्कार, शोषण, भेदभाव के विरोध एवं गुस्से का ही स्वर नहीं उभर रहा है बल्कि विकास के तथाकथित दैत्य से दो-दो हाथ हो लेने का जज्बा भी इसमें है। चूँकि भेदभाव से पूर्ण, असन्तुलित विकास का सबसे बुरा असर आदिवासी समाज में हो रहा है इसलिए इसकी सार्थक अभिव्यक्ति भी यहीं से होगी। क्योंकि आदिवासी समाज आज किसी भी भारतीय समाज के मुकाबले हर तरह से, जीवन के समस्त मोर्चे पर अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत है। इसलिए आदिवासी साहित्य में जितनी तरह के विविधतापूर्ण मानवीय समस्याओं एवं जिजीविषा के प्रश्न उठाये जा रहे हैं, उतने कहीं नहीं। आशा की जानी चाहिए कि आदिवासी साहित्यकार इन प्रश्नों, समस्याओं एवं मुद्दों को कलमबद्ध कर सकेंगे।

आज भाषा के आधार पर आदिवासी साहित्य तीन स्तर पर लिखे जा रहे हैं। पहला अँग्रेजी, दूसरा हिन्दी या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं और तीसरा आदिवासी भाषाओं में लिखे जा रहे हैं। किन्तु इसमें दो राय नहीं कि अपनी मातृभाषा में ही श्रेष्ठ लेखन किया जा सकता है। पाठकों की तलाश में मातृभाषा के अलावा जिस किसी भाषा में लिखना चाहे लिखे, किन्तु अपनी मातृभाषा का भी ख्याल रखे। वैसे आदिवासी साहित्य का भविष्य निराशाजनक नहीं है, क्योंकि इसमें जल, जंगल, जमीन, जीवन एवं जमीर से जुड़ी भावनाएँ, स्थानीयता को समझने की वैश्विक दृष्टिकोण एवं समझदारी तो देती है, इसके विपरीत वैश्विक दृष्टिकोण को समझने की स्थानीयता भी। इसलिए एक अनजान आदिवासी गाँव से चलकर पूरे विश्व में फैल जाने की विस्तृत मानवीय संवेदना, आकांक्षा और सम्भावना आदिवासी साहित्य में सिमटी है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

15 नवम्बर, सन् 2005 प्रभात खबर

पुस्तक मेलों का सांस्कृतिक-आर्थिक-पर्यावरण

भारत में रहकर मेलों के आनन्द से वंचित नहीं रहा जा सकता फिर वह मेला चाहे कुछ भी हो। धार्मिक मेलों से लेकर शिक्षा और कैरियर मेलों तक शायद ही कोई शहर ऐसा हो जो किसी मेले के आयोजन से बच पाता हो। लेकिन इतने मेलों के बावजूद अब भी अनेक शहर पुस्तक मेलों के आयोजन से वंचित हैं। विभिन्न प्रकार के मेलों के भीड़ में पिछले लगभग तीन दशक से पुस्तक मेलों का नाम जुड़ गया है। लेकिन भारतीय समाज का उभरता हुआ यह 'नया सांस्कृतिक उत्सव' हिन्दीभाषी क्षेत्रों में, समाज के हर तबके को अपनी गिरफ्त में नहीं ले सका है। कारण शिक्षा कहा जा सकता है। लेकिन पुस्तक मेले अधिकांशत: शहरों में आयोजित किये जाते हैं। शहर की लगभग अस्सी प्रतिशत जनता साक्षर समझी जाती है और अत्यन्त बुरी हालत में भी किसी भी शहर की 10 से 25 प्रतिशत तक की जनता प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा से जुड़ी होती है। तब भी पुस्तकों के प्रति आकर्षण क्यों नहीं? यह चिन्ता का विषय है।

पुस्तक मेले जैसे नये सांस्कृतिक उत्सव में लोगों का न आना सामाजिक, सांस्कृतिक सवाल खड़े करता है। वैसे पहला कारण हो सकता है पुस्तक मेले का प्रचार सही प्रकार से न किया गया हो। दूसरा कारण हो सकता है पुस्तकें जनता की सांस्कृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति न करती हों। जैसे पिछले दिनों राँची के पुस्तक मेले को देखकर लगा, मेला लगाने के लिए पुस्तक मेला लगा दिया गया है। उसके लिए पहले से कोई योजना नहीं बनायी गयी है। आयोजक एवं पुस्तक विक्रेताओं दोनों को न तो लेखकों के सम्मान का और न पाठकों की रुचि का कोई ख्याल है। क्योंकि यह ध्यातव्य है कि आप कहीं भी जायें पुस्तक मेले वहाँ ज्यादा सफल हैं जब उस प्रदेश विशेष या क्षेत्र, शहर विशेष से सम्बन्धित लेखकों या उस प्रदेश विशेष के बारे में किताबें उपलब्ध हैं। कोलकाता में बंगाली किताबें इसकी गवाह हैं, क्योंकि सफल बंगाली लेखकों में से सत्तर प्रतिशत कोलकाता के वासी हैं। अत: उनकी किताबें वहाँ बिकती हैं। भुवनेश्वर और कटक में ओड़िया की किताबें बिकती हैं क्योंकि ओडिया के अधिकांश लेखक इसी शहर के या इसके आस-पास के हैं। पटना पुस्तक मेला, राँची के मुकाबले ज्यादा सफल माना जाता है तो इसका एक कारण यह है कि कई बड़े प्रकाशकों द्वारा पटना, गया, भोजपुर, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, पूर्णिया, मुंगेर, भागलपुर और उसके आस-पास के क्षेत्र के लेखकों की किताबें इन प्रकाशकों ने छापी हैं। स्वाभाविक है वहाँ वे किताबें बिकेंगी। राँची पुस्तक मेले आते हुए प्रकाशक इस बात का ध्यान रखेंगे तो भविष्य में स्थिति सुधरते हुए देख सकते हैं। जैसे झारखंड निर्माण के बाद कुछ प्रकाशकों की किताबों की बिक्री अच्छी हुई थी। लेखक, प्रकाशक इस बिन्दु पर सजग रहें तो राँची में पुस्तकों की बिक्री और हो सकती है। क्योंकि राँची, जमशेदपुर, धनबाद, दुमका आदि शहरों या उसके आस-पास के कई लेखक, कवि, पत्रकार, सम्पादक, विद्वान, विशेषज्ञ हैं जिनकी किताबें राष्ट्रीय स्तर के प्रसिद्ध प्रकाशकों द्वारा भी प्रकाशित हैं। कुछ प्रमुख रचनाकारों आदि के नाम हैं– राधाकृष्ण, सिद्धनाथ कुमार,

किट्टू, दिनेश्वर, श्रवण कुमार गोस्वामी, हरिवंश, भारत यायावर, विद्याभूषण, खगेन्द्र ठाकुर, वीर भारत तलवार, बी.पी. केशरी, ऋता शुक्ला, ज्ञानेन्द्रपति, नारायण सिंह, अनवर शमीम, मृणाल, श्रीराम दूबे, प्रह्लाद चन्द्र दास, रामदयाल मुंडा, विनोद कुमार, पीटर पॉल एक्का, राकेश कुमार सिंह, गिरधारी राम गौंझू, मनमोहन पाठक, संजय बसु मल्लिक, विजय शर्मा, सी. भास्कर राव, गुरबचन सिंह, जयनन्दन, कमल, इग्नाशिया टोप्पो, मंगल सिंह मुंडा, अनिता रश्मि, रणेन्द्र, वासवी, महुआ माजी, अश्विनी कुमार पंकज, प्रियदर्शन, निर्मला पुतुल, कालेश्वर, वंदना टेटे, ग्लैडसन डुंगडुंग, कलावती सिंह सुमन, अशोक कुमार सेन, सुनील मिंज, शिरोमणि महतो, सरस्वती गागराई, श्याम सुन्दर घोष, पंकज मित्र, जेब अख्तर, अनामिका आदि। झारखंड के अधिकांश लेखकों की किताबों का राँची पुस्तक मेले में न होना दु:ख एवं शर्म का विषय है। जिस राज्य की राजधानी में पुस्तक मेला लगे और वहाँ के लेखकों की किताबें न हों। ऐसा क्यों? सांस्कृतिक नासमझी? या यहाँ के लेखकों, पाठकों एवं जनता की जान-बूझकर की गयी उपेक्षा! या प्रकाशकों की कोई व्यावसायिक मजबूरी? या कुछ और? या कोई साजिश? अपने राज्य की राजधानी के पुस्तक मेले में वहाँ के लेखकों, विद्वानों, पत्रकारों आदि की किताबें न मिलें इससे बड़ा दुर्भाग्य एक रचनाकार एवं पाठक का क्या हो सकता है? क्योंकि ऐसा देखा गया है कि क्षेत्रीय लेखकों की किताबें न हों तो पाठक या दर्शक कम आते हैं। इसे अधोलिखित कुछ उदाहरणों से और समझा जा सकता है।

हाल में गुवाहाटी में पन्द्रह दिनों के अन्तराल में दो पुस्तक मेले को देखकर यह बात और पुख्ता हुई कि पुस्तकों की बिक्री क्षेत्रीय अस्मिताओं और भावनाओं से काफी हद तक जुड़ी हैं। वहाँ असम के सामाजिक जीवन, भाषा, संस्कृति, इतिहास, अध्यात्म, विविध ज्ञानपरक किताबें थीं। अधिकांश लेखक गुवाहाटी, नगाँव, जोरहाट, डिब्रूगढ़ आदि शहरों के हैं। स्वाभाविक है गुवाहाटी में असमिया किताबें बिक रही थीं। कुछ गैर-असमी लेकिन पूर्वोत्तर के लेखकों की असमिया में लिखी किताबें भी उपलब्ध थीं जैसे– येसे दोरजी थांगची। 'लक्ष्मीनाथ बेजबरूआ की सम्पूर्ण रचनावली' एक झोले में प्रकाशक के मुद्रित नाम से उपलब्ध थी। चीनी प्रवासियों की समस्या पर रीता चौधरी की साढ़े पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यास 'माकाम' का पिछले छह महीने में छह संस्करण प्रकाशित हो चुका है। दिलचस्प तथ्य यह कि इस उपन्यास के आधार पर भारत सरकार ने चीनी प्रवासियों की समस्या पर ध्यान दिया। पिछले कुछ वर्षों से 'भवानी 'जैसे कुछ प्रकाशकों ने असमिया पुस्तकों की मुद्रणकला में अभिनव प्रयास किये हैं। इस प्रकाशक ने बड़े बाँधों पर अँग्रेजी और असमिया में एक ही जिल्द में और अरुणाचल प्रदेश पर सौम्यद्वीप दत्त की 'अपरूपा अरुणाचल 'सचित्र किताब उपलब्ध करायी है। अन्य प्रकाशकों की किताबें भी आकर्षक और सुमुद्रित हैं। फलत: पुस्तकों के प्रति लोगों की रुचि बढ़ी है। यहीं मेले में गोष्ठी आरम्भ होने के पहले ही ढाई-तीन सौ की सीटों का सभा कक्ष भर जाते देखा। लोगों को अपने प्रिय लेखकों, कवियों को ध्यानपूर्वक सुनते देखा। गुवाहाटी पुस्तक मेले से निकलते 80 से 90 प्रतिशत दर्शकों के हाथों में पुस्तकों

का पैकेट देखना असमिया लेखकों, प्रकाशकों के लिए सुखद है। लेकिन उससे ज्यादा सुखद यह देखना लगा कि चार-पाँच साल के बच्चों के हाथों में भी पुस्तकों के पैकेट थे। कई परिवारों की तीन पीढ़ियाँ एक साथ मेले में उपस्थित थीं।

लेकिन असम का एक अन्य पहलू भी है। सिलचर, आसाम में है। लेकिन दुर्गम्यता के कारण अब भी असमिया भाषा-संस्कृति के प्रभाव से अछूता लगता है। इसी नवम्बर महीने में आयोजित पुस्तक मेले में देखा गया कि वहाँ असमिया किताबें न के बराबर थीं। वहाँ अधिकतम किताबें बँगला में उपलब्ध थीं। वहाँ यह जान सका कि असमिया से ज्यादा बंगाली भाषा-संस्कृति का प्रभाव है। सिलचर और उसके आस-पास के शहरों से कुल चार बँगला अखबारों का प्रकाशन इस तथ्य की पुष्टि कर देता है। जबकि उन शहरों से असमिया के अखबार प्रकाशित नहीं होते। स्पष्ट है स्थानीय भाषा, संस्कृति का प्रभाव पुस्तक मेलों में होता है। मेले में बँगला किताबें ज्यादा मात्रा में उपलब्ध थीं।

किसी पुस्तक मेले में इस तथ्य की जब-जब उपेक्षा होती है तो यह अपने उद्देश्यों और प्रभाव में कमजोर ही साबित होती हैं। हिन्दी में क्षेत्रीय मुद्दों को जितना महत्त्व दिया जायेगा, सम्बन्धित क्षेत्र की पुस्तकों को मेलों में लाया जायेगा तो स्थितियाँ बदल सकती हैं। हिन्दी का सांस्कृतिक-भौगोलिक क्षेत्र इतना विशाल और विविधतापूर्ण है कि इसकी सांस्कृतिक आवश्यकता को पूरा करना प्रकाशकों के लिए एक जबरदस्त चुनौती है। हिन्दी में रोज नये प्रकाशकों का उभरना इसी ओर संकेत करते हैं। इसके अलावा हिन्दी प्रदेशों की बहुस्तरीय जीवन के रंग, स्वाद, गन्ध को समझना भी है। आधुनिकता से प्रभावित, उनके नये सामाजिक रुझानों को भी जानना है। वर्तमान में हिन्दी प्रदेशों में, स्थानीय सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, विरासतों, आधुनिक जटिलताओं को समझने के लिए जरूरी है कि मेलों में वैसी किताबें सहज ही उपलब्ध हों, तभी पुस्तक मेले, बाजार, विस्तार और शक्ति पा सकते हैं। हिन्दी अपने सीमित जातीय पूर्वाग्रहों को त्यागकर जनपदीय, स्थानीय जीवन को समझने का जितना उत्साह दिखायेगी उसे उतना ही लाभ मिलेगा। आत्ममुग्ध और कूपमंडूक मानसिकता के कारण अपनी जबरदस्त सामर्थ्य के बावजूद हिन्दी पुस्तकें जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने में समर्थ नहीं हो पा रही हैं। सवाल है, आखिर कोई किताब जब तक, एक पाठक की भावनाओं, आकांक्षाओं, सपनों, कल्पनाओं को स्पन्दित न करे, न छुये, न सहलाये, उसके ज्ञान का दरवाजा न खोले तब तक वह उस किताब में रुचि क्यों दिखायेगा ? आधुनिकता के विभिन्न आयामों से प्रभावित पाठकों के बदलते मानसिक भूख के पर्यावरण को हिन्दी लेखक, प्रकाशक एवं आयोजक समझने में कहीं चूक कर रहे हैं। इस पर जितनी जल्द चिन्तन, मनन और विश्लेषण किया जायेगा सबका भला होगा। क्योंकि अलग-अलग राज्यों और शहरों की सांस्कृतिक आवश्यकताएँ वहाँ के भोजन, मौसम, पहनावे की तरह ही अलग-अलग हो सकती हैं और उस मानसिकता के अनुकूल अच्छी किताबों की अधिक बिक्री होने की आशा बनी रहती है। उम्मीद है, भविष्य में राँची पुस्तक मेले में या अन्य स्थानों में आयोजक, प्रकाशक, लेखक, पाठक, बुद्धिजीवी, छात्र, सामान्य दर्शक और मीडिया के लोग उक्त तथ्यों का

ध्यान रखेंगे और पुस्तक मेले को एक बेहतर बौद्धिक, सांस्कृतिक उत्सव बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देंगे।

सन् 2010

आदिवासी पुस्तक मेले के बहाने

लगभग दो वर्ष पहले राँची पुस्तक मेले में उपस्थित था और एक प्रकाशक के इस टिप्पणी से आहत था कि 'राँची, झारखंड में साहित्य के पाठक नहीं हैं। उन्होंने उदाहरण दिया कि कैसे दिल्ली, लखनऊ, पटना में किताबें बिक रही थीं, लेकिन राँची में वे ही किताबें नहीं बिक रही हैं। यहाँ साहित्य को समझने वाले हैं ही नहीं।' गुस्सा आया उनकी बातों को सुनकर। उनकी किताबें क्यों नहीं बिक रही हैं इसका कारण बताते यह भी लिखा कि भविष्य में किन लेखकों और प्रकाशकों की किताबें राँची, झारखंड में क्यों बिकेंगी। जहाँ लेख भेजा उन्होंने इसे छापा नहीं। फिर कुछ मित्र मेरा वह लेख पढ़ने ले गये लेकिन, वह कहीं छपा नहीं। खैर उस अप्रकाशित लेख की चर्चा इसलिए कि झारखंड के उन तमाम लेखकों के बारे वहाँ बताया था कि यदि वे पुस्तक-विक्रेता इनकी-इनकी किताबें लाते तो किताबें जरूर बिकतीं। क्योंकि भारत में दिल्ली छोड़कर कहीं भी चले जाइये जब तक आप स्थानीय, भाषा, साहित्य, संस्कृति, इतिहास या स्थानीय लेखकों या उस क्षेत्र के लेखकों को महत्त्व नहीं देते विश्व का सर्वकालीन श्रेष्ठ साहित्य मौजूद रहने पर भी सामान्य पाठकों के बीच उनकी बिक्री कम देखी गयी है।

कोलकाता का उदाहरण देख लीजिये— 60 से 80 प्रतिशत बंगाली लेखक एवं पाठक कोलकाता महानगर या उसके आस-पास के इलाकों से हैं। अत: किताबों की बिक्री भी वैसी ही है। बाकी किसी भाषा के लेखक, पाठक एक ही महानगर या उसके आस-पास के इलाकों में इतनी बड़ी संख्या में नहीं हैं। इसके विपरीत अन्य तमाम भारतीय भाषाओं के लेखकीय-क्षेत्र, पाठकीय-क्षेत्र या विक्रय-केन्द्र कोलकाता की तरह एक ही शहर में सीमित नहीं हैं। हाँ, मलयालम एक छोटे राज्य में सीमित होने के कारण वहाँ भी लेखक या किताब को लेकर बंगाल जैसी ही स्थिति उत्पन्न जरूर होती है। लेकिन ये इसमें उस राज्य के शत-प्रतिशत साक्षर होने को भी श्रेय जाता है। स्वाभाविक है कि वहाँ किताबें बिकती हैं, पढ़ी भी जाती हैं। लेकिन किसी किताब या किसी लेखक के लिए जो एक अनुकूल-वातावरण या जैसा विक्रय-केन्द्र कोलकाता में बन पाता है वैसा अन्यत्र कम ही है।

इसके विपरीत हाल ही में राँची में 'आदिवासी साहित्य सम्मेलन एवं पुस्तक मेले' का आयोजन किया गया और प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता, आयोजकों एवं स्वयं पाठकों के लिए यह नया अनुभव रहा। आयोजक, पुस्तक-विक्रेता इससे खुश थे कि तीन दिनों के उस छोटे से आयोजन में तीन लाख से अधिक मूल्य की किताबें बिकीं।

राँची में जन्मे, पले-बढ़े पत्रकार उदय वर्मा ने बताया कि आदिवासी युवाओं में पुस्तक पढ़ने की ललक देखकर उन्हें खुशी हुई है। उन्होंने हजार, दो हजार से अधिक मूल्य की किताबें खरीदते कई पाठकों को देखा। उन्हें यह देखकर आश्चर्य भी हुआ कि वहाँ किताब खरीदते वक्त कई लोग कोई मोल-भाव नहीं कर रहे थे और किताब उलटने-पलटने के बाद विक्रेता द्वारा बताये मूल्य पर किताबें खरीद रहे थे। इसी तरह प्रभाकर तिर्की ने जोश एवं उत्साह से बताया कि इस मेले में आदिवासी परिवार के कई लोग हजार-हजार से अधिक मूल्य की किताबें खरीद रहे थे।

यह एक छोटा-सा उदाहरण है कि किस तरह यदि कोई सही किताबों के साथ, सही जगह पहुँचे तो वहाँ किताबें जरूर बिकेंगी। लेकिन ये ऐसा लगता है हमारे हिन्दी प्रकाशक, किताबों की मार्केटिंग को लेकर पारम्परिक पाठकों से बाहर किसी और के लिए कोई योजना नहीं बनाते। नये पाठकों तक किस तरह की पुस्तकों के साथ कहाँ और कैसे पहुँचना है इसके बारे में भी ज्यादा होमवर्क नहीं करते या व्यावसायिक-कूटनीति के तहत असली मुद्दों का खुलासा नहीं करते।

बात कुछ भी हो लेकिन यह स्पष्ट है कि भविष्य में झारखंड में पाठकों की संख्या में लगातार वृद्धि होगी। अपनी भाषा, संस्कृति, इतिहास आदि के प्रति जितनी जागरूकता आयेगी उन विषयों से सम्बन्धित, किताबें, शब्दकोश आदि की बिक्री और बढ़ेगी। ऐसी आशा इसलिए भी बनती है कि झारखंड राज्य बनने के बाद अनेक किताबें– झारखंड की भाषा, संस्कृति, राजनीति, विकास, पर्यावरण, इतिहास, भूगोल, धर्म को लेकर प्रकाशित हुई हैं और लोग उन्हें खरीद रहे हैं। प्रकाशक उन्हें कम कीमत पर छापें तो वे और अधिक पाठकों के करीब जा सकते हैं। फिलहाल लोगों ने विशेषत: आदिवासियों के बीच उभरे मध्यवर्ग ने पुस्तक के प्रति रुचि, उत्साह और गम्भीरता दिखाकर अपनी छवि थोड़ी-सी बेहतर बनाने की चेष्टा जरूर की है। यह पाठक वर्ग निश्चय ही बहुत ही सीमित और छोटा है, लेकिन हर अच्छे काम के समर्थक एक ही बार में हजारों, लाखों नहीं होते। हर अच्छा काम धीरे-धीरे ही आगे बढ़ता है। आशा है भविष्य में झारखंड की भाषा, संस्कृति, इतिहास, भूगोल के अलावा यहाँ के पेड़-पौधों, पशु, पक्षियों, औषधियों, नदियों, झील, झरनों, पहाड़ों, नृत्य, लोक-गीत, वाद्य-यन्त्र, लोक-कलाओं के अलावा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं पर भी गम्भीर किताबें देखने को मिलेंगी। नये राज्य की बेहतरी के लिए विद्वानों, लेखकों, चिन्तकों, प्रकाशकों के समक्ष यह चुनौती नहीं, जिम्मेवारी है।

प्रभात खबर 27.07.2012 में प्रकाशित

कैसे हो पुस्तक संस्कृति का विकास

पुस्तक प्रकाशन के मामले में हिन्दी समस्त भारतीय भाषाओं में एक नम्बर पर है, किन्तु ऐसा बताया जाता है कि इसके पाठक सबसे कम हैं। रोज कस्बों, छोटे शहरों से लेकर

महानगर तक छोटे–बड़े प्रकाशक कोई–न–कोई पुस्तक प्रकाशित करते रहते हैं। पिछले आठ–दस सालों से हिन्दी प्रदेशों में पुस्तक मेले के आयोजनों की संख्या भी बढ़ी है। कई प्रकाशकों ने पुस्तक क्लब बनाकर पाठकों को आकर्षित भी किया है। साथ ही कई प्रकाशकों ने पुस्तकों के पेपरबैक निकालकर कम कीमत में किताबें पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास किया है। फिर भी प्रकाशकों को शिकायत है कि किताबें नहीं बिकती हैं।

किताबें और उदार हिन्दी पाठक

प्रश्न उठता है किताबें क्यों नहीं बिकतीं ? या तो किताबें सही पाठकों तक नहीं पहुँच रही होंगी या उनका प्रसार–प्रचार नहीं किया गया होगा या किताबें पाठकों के लिए उपयोगी नहीं हैं या पाठक जो पढ़ना चाहता है लेखक वह नहीं लिख रहा और प्रकाशक वह नहीं छाप रहा है। तो फिर रोना क्यों ? रोना शायद इसलिए कि यह आज हमारी आदत में शुमार हो चुका है। लेकिन यह रोना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि सात–आठ सौ पृष्ठों के कई उपन्यास या अन्य किताबों के साल में कम–से–कम एक संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं और उनमें से कई के अब तक बीस से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। ज्ञानपीठ से प्रकाशित कुछ किताबें जैसे– छावा, मृत्युंजय, गुनाहों का देवता के लेखक शिवाजी सावन्त तथा धर्मवीर भारती के अलावा शिव प्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, महाश्वेता देवी आदि की किताबें भी बहुत बिकती हैं। एक समय हिन्दी में विमल मित्र की किताबें बहुत बिका करती थीं और कई पाठक उन्हें हिन्दी का ही लेखक मानते थे। एक तथ्य यह भी उभरकर आता है कि हिन्दी पाठकों ने बहुत ही उदारतापूर्वक अनुवादों को हाथोंहाथ अपनाया है जबकि अन्य भारतीय भाषाओं में इतनी उदारता नहीं देखी गयी है। जाहिर है हिन्दी के पाठकों ने जो भी, जहाँ से भी अच्छा मिला उसे अपनाने में हिचकिचाहट नहीं दिखायी। इसके विपरीत बँगला के पाठक तो हिन्दी साहित्य के बारे में पूरी अज्ञानता ही व्यक्त करते हैं और इन्हें निराला, पन्त, अज्ञेय मुक्तिबोध आदि को नहीं जानने में कोई संकोच नहीं होता। किन्तु भाषा बन्धन बँगला मासिक पत्रिका के प्रकाशन से इस क्रम को तोड़ने का प्रयास किया गया है।

किताबों की पर्याप्त तो नहीं किन्तु काफी जानकारी अब सुलभ

जब किताबों के बारे में हिन्दी पाठकों में इतनी उदारता एवं उत्सुकता है तो यह कहना कि किताबें नहीं बिकतीं कहीं पर अटपटा लगता है। पिछले पन्द्रह–बीस वर्षों में दैनिक सहारा, जनसत्ता के अलावा अन्य दैनिकों ने भी पुस्तकों की जानकारी अखबारों में देना आरम्भ किया है। इसके अलावा इंडिया टुडे एवं जागरण उदय जैसे साप्ताहिकों ने नियमित रूप से पुस्तकों की चर्चा करना और जानकारी देने का सराहनीय प्रयास किया है।

क्या साहित्य का पाठक ही पाठक है?

लेकिन ये ज्ञान के भूखे कुछ पाठकों को यह जानकारियाँ भी अधूरी लग सकती हैं। कारण, पाठक सिर्फ साहित्य ही नहीं पढ़ता। हिन्दी में पाठक का अर्थ मात्र साहित्य का पाठक माना जाता है। जबकि पाठक कई तरह के हो सकते हैं और उनकी आवश्यकता एवं रुचि भिन्न हो सकती हैं। किन्तु, हिन्दी अखबारों, पत्रिकाओं में साहित्य के अतिरिक्त अन्य किताबों की जानकारी बहुत ही कम दी जाती है। अन्य विषयों से सम्बन्धित किताबों की चर्चा करने या उस विषय से सम्बन्धित विद्वानों का साक्षात्कार शायद ही भूले-भटके ही प्रकाशित की जाती हैं। ऐसे में ज्ञान का भूखा पाठक अँग्रेजी की ओर मुड़ने के लिए विवश हो जाता है। तब निश्चय ही उसे स्टेटसमैन, हिन्दू आदि अखबारों को पढ़ने के लिए विवश होना पड़ता है, जहाँ उसकी मानसिक भूख शायद शान्त होती है। दरअसल, साहित्य के पाठक के अलावा सामान्य पाठक हल्की-फुल्की सामग्री ही पढ़ना चाहता है, ऐसी सोच से सम्पादक, प्रकाशक और शायद लेखक भी मुक्त नहीं हैं। इसलिए एक औसत पाठक की जरूरत के अनुरूप सामान्य विधि, आधुनिक तकनीक, बैंकिंग, बीमा, पर्यावरण, अन्तरराष्ट्रीय समाचार विश्लेषण, संविधान, श्रम-कानून, उपभोक्ता-संरक्षण जैसे जनोपयोगी विषयों पर बहुत कम जानकारी दी जाती है या ऐसी सामग्री के प्रकाशन में रुचि नहीं दिखाई जाती है।

पाठक ही अखबार नहीं बनाते अखबार भी पाठक बनाते हैं।

अखबारों के बारे में प्राय: कहा जाता है कि पाठक ही अखबार बनाते हैं। किन्तु मुद्दे का यह एक ही पहलू है। अखबार की भी यह कहीं पर जिम्मेदारी है कि वह पाठकों में नये संस्कार डालने का प्रयास करे।

समीक्षा की चर्चा

बँगला अखबार आनन्द बाजार का साप्ताहिक कॉलम, जनसत्ता, दैनिक सहारा, का साप्ताहिक कॉलम, इंडिया टुडे, जागरण उदय, आउटलुक (हिन्दी) साप्ताहिक सहारा समय के अलावा सैकड़ों लघु-पत्रिकाओं में समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं। समीक्षा नाम से पत्रिका ही प्रकाशित हो रही है। कुछ ही दिन हुए दिल्ली में विश्व पुस्तक मेला, कोलकाता पुस्तक मेला के अतिरिक्त कई राज्यों की राजधानियों में पुस्तक मेले आयोजित किये गये, क्या वहाँ मात्र साहित्य की किताबों की ही खरीददारी हुई? शायद नहीं, साहित्य की किताबें बिकीं जरूर मगर ज्ञान का साहित्य भी पर्याप्त बिका, जिसकी चर्चा करने की कोई कोशिश नहीं की जाती। अखबारों में इन किताबों की चर्चा न कर शूद्रों जैसा व्यवहार किया जाता है। जो समाज के विकास के लिए उचित नहीं।

स्टेटसमैन व हिन्दू का उदाहरण

प्रभात खबर ने जंगल गाथा के माध्यम से एक नया पाठक वर्ग पैदा किया और

अब कम्प्यूटर पर नियमित कॉलम प्रकाशित कर हिन्दी पाठकों में एक नया संस्कार डाल रहा है। हो सकता है यह कइयों को उपयोगी प्रतीत नहीं होता होगा। फिर भी बदलते तकनीकी एवं सामाजिक माहौल में ऐसा करना आवश्यक है।

सन् 2000

परिवेश और शब्दों के जीवन

झारखंड जहाँ अपनी खनिज–सम्पदाओं के लिए विश्व प्रसिद्ध है वहीं अपनी सांस्कृतिक एवं भाषिक विविधता के लिए भी यह एक अनूठा क्षेत्र है, जहाँ भारत की तीन प्रमुख भाषा परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। हर भाषा अपनी ध्वन्यात्मक सौन्दर्य तो है ही। इसके अलावा इन भाषाओं की अपनी सामाजिक, भौगोलिक, दार्शनिक स्थितियों को व्यक्त करने की विशेष क्षमता भी है। सभ्य समाज के अधिकांश बुद्धिजीवी मानते हैं कि आदिवासी भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं और लिपि के अभाव में इन भाषाओं का भविष्य अन्धकारमय है। एक आँकड़े के अनुसार प्रति पन्द्रह दिनों में विश्व की कोई–न–कोई भाषा मर जाती है। एक रिपोर्ट में बताया गया है कि यह संकट आदिवासी भाषाओं पर अधिक है। लेकिन ये कोई भी भाषा क्या सचमुच पिछड़ी होती हैं? इसका उत्तर है नहीं। वास्तव में भाषा विज्ञान की नजर में दुनिया की कोई भी भाषा बड़ी या छोटी नहीं है और इन्हें सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ ही बड़ी या छोटी बनाती हैं। क्योंकि हर भाषा एक विशेष भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पर्यावरण में जीती, पलती और विकसित होती है और अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकता को व्यक्त करने में पूरी तरह सक्षम होती है। दैनन्दिन आवश्यकता के अनुरूप नयी स्थितियों या सामाजिक परिवर्तनों से यदि समाज में कोई नया शब्द आता है तो उसे अपना लेने में कोई परहेज नहीं करती है।

परिवेश भिन्नता के कारण अर्थ समझने में कठिनाई

यह सही है कि दुनिया की किसी भी भाषा में विश्व की सभी स्थितियों या ज्ञान को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं है, क्योंकि हर भाषा भिन्न परिवेश में जीती है, फिर चाहे वह विश्व में सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा मेंड्रिन चायनीज हो या कम्प्यूटर के लिए सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध की जा चुकी भाषा संस्कृत या विश्व भाषा समझी जाने वाली अँग्रेजी। सभी भाषाएँ विश्व की हर प्रकार की स्थितियों को व्यक्त करने में सक्षम नहीं हैं और यह किसी भी भाषा समुदाय की विवशता होती है कि नयी स्थिति आने पर वह जिस भाषा समुदाय से ज्ञान या स्थिति विशेष के लिए आयी है उसे उसी तरह या कोई नया शब्द अपना लेता है। जैसे आदिवासी इलाकों में एयरोप्लेन के लिए उड़नबाज का प्रयोग किया जाता रहा है। इसी तरह आदिवासी इलाके

में प्रयुक्त पेय विशेष हँड़िया, इली या डियंग के लिए ताड़ी नहीं कहा जा सकता न अँग्रेजी का बियर। शायद इसीलिए ऑक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्नर इंगलिश डिक्शनरी के पाँचवें संस्करण में भारतीय उपमहाद्वीप में प्रयुक्त साढ़े तीन हजार शब्दों की एक विशेष अनुसूची भी सम्मिलित की गयी है जिसमें हँड़िया शब्द भी शामिल है। जिसके बारे में लिखा गया है– ए टाइप ऑफ कंट्री लिकर मेड फ्रॉम राइस। लेकिन ये जब आप लिकर का अर्थ देखेंगे तो पता चलेगा कि लिकर को वाष्पीकृत (डिस्टिल) कर बनाया जाता है जबकि सभी आदिवासी जानते हैं कि हँड़िया, इली या डियंग को वाष्पीकृत या डिस्टिल नहीं किया जाता है। इसी तरह इसी डिक्शनरी में घी का अर्थ बताते लिखा गया है– ए टाइप ऑफ लिक्विड बटर यूज्ड इन इंडियन कुकिंग। यहाँ भी सभी भारतीय जानते हैं कि मक्खन और घी में कितना अन्तर है और मौसम के तापमान के अनुसार यह तरल या नरम ठोस रूप में परिवर्तित हो सकता है और यह तरल मक्खन नहीं है। लेकिन ये परेशानी यही है कि अँग्रेज को समझाने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं हैं। यह एक छोटा–सा उदाहरण मात्र है कि कैसे भिन्न स्थिति के कारण शब्दों को और इसके वास्तविक अर्थ को कैसे तोड़–मरोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार की कठिनाई के कारण झारखंड में ईंदपीड़ी, हिन्दपीड़ी हो जाता है थोलकोबा:, थोलकोबाद हो जाता है दुरङदअः, डोरंडा हो जाता है। एक और उदाहरण लें। टेलीविजन के लिए हिन्दी में दूरदर्शन शब्द सीधे अँग्रेजी के टेलीविजन के शाब्दिक अनुवाद के कारण बना है किन्तु, हमारे पड़ोसी देश श्रीलंका में इसके लिए सिंहली भाषा में जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है वह है रूपवाहिनी।

हर भाषा में अपने परिवेश के विशेष शब्द

यह देखना रोचक है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि में विश्व की सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा चीनी या अंडमान निकोबार के मुट्ठी–भर ओंगे या आदिवासियों द्वारा बोली जाने वाली भाषा दोनों समान हैं। हर भाषा अपने एक विशेष भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक पर्यावरण में पलती और बढ़ती है और अपने परिवेश की ज्ञान क्षमता को अभिव्यक्त करने में सक्षम होती है। लेकिन ये कई बार वह अपनी इस सीमा का विस्तार चाहे जिस कारण या दवाब से भी करना चाहती है तभी उसे नये शब्दों की आवश्यकता होती है। तब एक भाषा की विवशता हो जाती है कि वह अपनी भाषा से भिन्न परिवेश के तकनीक, खान–पान, पहनावा, धार्मिक विश्वास या व्यापारिक लेन–देन आदि को अपनाने के साथ ही दूसरी भाषा के शब्दों को ग्रहण करे। इस सन्दर्भ में 'ऑक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्नर डिक्शनरी' के पाँचवें संस्करण को देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वहाँ भारतीय उप–महाद्वीप में प्रयुक्त लगभग 3500 शब्द विशेष अनुसूची में शामिल हैं और बहुत सारे भारतीय शब्दों– घेराव, लाठी, मन्त्र, गुरु, चमचा, अन्त्योदय, हलवा, नमाज, सिन्दूर, लंगर, किला, चावल, भद्रलोक आदि के अलावा झारखंड में प्रयुक्त हल्का नशीला पेय हँड़िया भी शामिल है। यह एक छोटा–सा उदाहरण है कि अँग्रेज नयी दुनिया से जब

परिचय प्राप्त करता है और इस परिचय के क्रम में जो भी शब्द लेने जरूरी होते हैं वह चुपचाप ले लेता है और संकोच नहीं करता है कि यह शब्द कहाँ से आया। इस कारण अँग्रेजी दूसरी संकोची भाषाओं के मुकाबले समृद्ध होती जाती है। जापानी भाषा का हाराकिरी हो या स्वाहिली भाषा का हटारी या सफारी या झारखंड का हँड़िया या बिहार, उत्तर प्रदेश का सत्तू या बंगाल का भद्रलोक या रसगुल्ला या दक्षिण भारत का दोसा। जो उसे आवश्यक लगता है, वह उसे बिना संकोच के अपना लेता है।

लेकिन इसके विपरीत हिन्दी या भारतीय भाषाएँ विदेशी भाषाओं से शब्द ले तो लेती हैं लेकिन उनका संकलन शब्दकोशों में वर्षों बाद भी नहीं होता है भले जनता एवं प्रबुद्ध वर्ग उसका धड़ल्ले से प्रयोग कर रहे होते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि हिन्दी या भारतीय भाषाओं में शब्दकोशों को शीघ्र ही अद्यतन बना लेने का प्रयास अत्यन्त धीमा है। इस कारण हिन्दी और भारतीय भाषाएँ समय के साथ-साथ विकसित होने में पिछड़ती लगती हैं जबकि यह सच नहीं है।

कुछ और उदाहरण– जीवन-दर्शन

हर भाषा-भाषी अपनी भौगोलिक परिवेश से भी प्रभावित होता है। राजस्थान में रेत का जो महत्त्व है वह बंगाल से भिन्न है और जो महत्त्व बंगाल में तालाब का है वह राजस्थान में दूसरा है। इसी तरह जंगल का जो महत्त्व एक आदिवासी के लिए है वह मैदान में रहने वाले वासी के लिए नहीं है। भौगोलिक भिन्नता के कारण न केवल भोजन में अन्तर हो जाता है बल्कि परिवेश एवं वातावरण को समझने के ज्ञान में भी अन्तर आ जाता है। इससे भाषा भी प्रभावित हो जाती है। जंगल में निवास कर रहे अधिकांश आदिवासी भाषाओं में काटना शब्द के दो से सात शब्द तक हैं। हिन्दी में साग काटने, धान काटने, फल काटने के लिए एक ही शब्द काटना का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु, उराँव भाषा में इसके लिए क्रमश: मोचना, खोयना एवं खंडना शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार मुंडा आदि भाषाओं में भी काटने की भिन्न क्रियाओं के लिए भिन्न शब्द हैं। इसी प्रकार गंगा के किनारे रहने वाला तैरना जानता है और हिमालय की ऊँचाई में रहने वाला भूटिया या नेपाली पहाड़ पर चढ़ने की कला स्वाभाविक रूप से जानता है। इसी तरह उसका परिवेश उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के ज्ञान को भी प्रभावित करेगा। गंगा के किनारे या उत्तरी बिहार के मैदानी भागों में रेल लाइन पर बिछी पत्थरों का जो महत्त्व है वह मध्य भारत में रहने वाली आदिवासी जातियों के लिए नहीं है। इंडोनेशिया के आस-पास रहने वाले घूमन्तु खानाबदोश मोरेन जाति के लोग पानी की गहराइयों में खुली आँखों से जितनी कुशलता से देख सकते हैं उतना विश्व के और लोग नहीं। क्योंकि उन्हें अपना अधिकांश जीवन पानी में ही बिताना पड़ता है। केन्या के लोग लम्बी दूरी के दौड़ के विश्व चैम्पियन होते रहे हैं। अत: भौगोलिक परिवेश की भिन्नता के कारण एवं आवश्यकता अनुसार प्रकृति से भिन्न प्रकार के संघर्ष एवं संसर्ग के परिणामस्वरूप उसके ज्ञान एवं प्रकृति को देखने का नजरिया एवं शारीरिक क्षमता तथा ज्ञानेन्द्रियाँ भी भिन्न

प्रकार से अनुकूलित एवं विकसित हो जाती है। जैसे मैदानी क्षेत्र के आदमी को जंगल एवं पहाड़ में रहने वाले जंगली लगते हैं क्योंकि जंगल का अर्थ उसके मन में बचपन से नकारात्मक ढंग से बिठा दी गयी है। उसके परिवेश के कारण वह उन्हें हीन समझता है। क्या किसी प्रजातान्त्रिक देश में यह दृष्टिकोण सही है कि हम अपने देश के लोगों के बारे में भी सही ढंग से न जानें? इसी प्रकार सभी अपनी अपनी श्रेष्ठता ग्रन्थि से ग्रसित हैं। अपनी भाषा, संस्कृति एवं परिवेश पर गर्व करना अच्छी बात है किन्तु, अपने से भिन्न भाषा, संस्कृति या परिवेश के लोगों को हीन एवं दोयम दर्जे का समझना किसी भी समझदार नागरिक के लिए गलत है। भारत के सन्दर्भ में चाहे जो भी कारण हों यह कमी है और शिक्षा के आरम्भिक स्तर से इसे दूर करने का प्रयास किया जाना आवश्यक है और इस स्तर पर समझना-समझाना भी आवश्यक है ताकि हम विभिन्न प्रकार की संकीर्णताओं से मुक्त हो समाज को, व्यक्ति को देखने का एक व्यापक और उदार दृष्टिकोण विकसित कर सकें।

1991

साहित्य चर्चा में उभर रहा है हाशिये का आदमी

पिछले लगभग दस-पन्द्रह वर्षों से हिन्दी साहित्य में दलित आदमी उभरकर आया है और इससे सम्बन्धित अनेक प्रकार का साहित्य, पत्रिकाओं एवं पुस्तक रूप में छप चुके हैं। इसी तरह पिछले तीन-चार वर्षों में खासकर झारखंड एवं छत्तीसगढ़ जैसे आदिवासी बहुल कहे जाने वाले राज्यों के गठन के बाद में साहित्य एवं पत्रकारिता के जगत में एक परिवर्तन दिखाई पड़ रहा है और परिवर्तन ये हैं कि कई पत्रिकाओं एवं अखबारों में आदिवासी साहित्य, इतिहास, कला और सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याओं को गम्भीरतापूर्वक गहराई से समझने का प्रयास किया जा रहा है। यह संयोग है या सम्पादक की उदारता या समय को पहचान लेने की उनकी पैनी दृष्टि या बहती गंगा में हाथ धो लेने का अवसर का उपयोग? या कुछ और? ठीक-ठीक कहना कठिन है। या शायद यह अब तक हाशिये में रहे आदमी को समझने की यह सार्वभौमिक आकांक्षा का एक हिस्सा भी हो सकती है। क्योंकि कई बार विश्व के कई लोग भाषा, परिवेश एवं देश से भिन्न रहने के बावजूद वैचारिक स्तर पर एक ही तरह के परिवर्तन से प्रभावित होते दिखाई पड़ते हैं।

जैसे पिछले दिनों दि टाइम्स (लन्दन) में फ्रांस के लेखकों के बारे एक लेख छपा है जिसमें बताया गया है कि पेरिस में रहने वाले लेखकों के उपन्यासों के मुकाबले क्षेत्रीय (प्रोवीन्शियल) कहे जाने वाले लेखक– क्रिस्चियन सिग्नॉल, क्लॉड मिफ्लेट, ज्याँ एंगलेद, मिशेल पेराम्पुर आदि के उपन्यास अधिक बिक रहे हैं। ये लेखक शहरों से दूर कस्बों के रहने वाले लोग हैं और इनका कहना है कि इनके पास कहने के लिए काफी कुछ है। सही भी है क्योंकि पेरिस में रहने वाले एलीट लेखक अधिकांशतः दर्शन एवं मनोविज्ञान

से प्रभावित जटिल उपन्यास लिखने में व्यस्त हैं। कस्बों के इन लेखकों को जमीनी लेखक (लैंड राइटर) कहा जा रहा है जिनमें से अधिकांश लेखकों की पचास हजार से अधिक प्रतियाँ बिक रही हैं, जो राजधानी पेरिस में रहने वाले लेखकों के लिए ईर्ष्या के कारण बन गये हैं। इन लेखकों की रचनाओं को थॉमस हार्डी की रचनाओं के समान माना जा रहा है, जहाँ ग्रामीण परिवेश की छानबीन एवं जमीन की महक बिखरी है। इन जमीनी लेखकों का कहना है कि उनके पास कहने के लिए बहुत कुछ है। ये अपने गाँव, कस्बों और वहाँ के आम लोगों की जिन्दगी के बारे लिख रहे हैं। जहाँ ये उपन्यास जीवन की उष्णता को खट्टे, मीठे एवं तीखे अनुभवों एवं विविध रंगों के साथ फ्रांस के अब तक अनचीहने ग्रामीण दुनिया को पाठकों के समक्ष ला रहे हैं। फलत: कई समीक्षक इनके बारे में यह अनुमान लगा रहे हैं कि ये फ्रेंच साहित्य का न केवल परिदृश्य बदल रहे हैं बल्कि इसका कायान्तरण करने में भी समर्थ हो सकते हैं।

लगभग यही बात कई विशेषज्ञ पिछले कुछ वर्षों से लिखे जा रहे दलित एवं आदिवासी साहित्य के बारे कह रहे हैं। इनकी बातों में कितना दम है यह कहना कठिन हैं किन्तु जिस तीव्रता एवं आवेग के साथ दलित एवं आदिवासी साहित्य समस्त भारतीय भाषाओं में आकार ले रहा है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में वे भारतीय भाषाओं के पाठकों के समक्ष न केवल चुनौती प्रस्तुत कर रहे हैं बल्कि नये अनुभवों, अनदेखी दुनिया को ला खड़ा कर रहे हैं और कई ऐसे प्रश्नों को भी बहुत ही प्रभावी ढंग से उठा रहे हैं जिससे कि अब तक का सभ्य एवं शिष्ट समझा जाने वाला साहित्य बचता रहा है। वे देश, समाज, साहित्य, मनुष्य, विकास, आधुनिकता, प्रगति, इतिहास, संस्कृति, भाषा, कला आदि से जुड़े कई सवाल भी उठा रहे हैं जो इन सभी विषयों को नये सिरे से, नये दृष्टिकोण से भी समझने, देखने एवं प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं, जिससे सभ्य विद्वत समाज अपने को असहज अनुभव कर रहा है। इनके कुछ विचारों और दृष्टिकोणों से कई लोगों को इसका एहसास हो चुका है कि भविष्य में इस साहित्य के माध्यम से भारतीय समाज के कई अन्तर्विरोध, समस्याएँ एवं जटिलताएँ दूसरे रूप में उभरकर आ रही हैं। यही कारण है कि वे साहित्य के हाशिए से बाहर रहे आदमी को पहचानने उसके सुख-दु:ख को पहचानने का कार्य आरम्भ कर चुके हैं। जहाँ दलित साहित्यकार काफी सक्रिय हैं वहीं आदिवासी साहित्य की चर्चा कुछ कम है। आज हर साहित्यिक पत्रिकाओं में दलित साहित्य के पक्ष-विपक्ष में कुछ-न-कुछ पढ़ने को मिल जाता है। इसके अलावा दलित साहित्य पर हिन्दी की अनेक लघु पत्रिकाओं के मोटे-मोटे विशेषांक भी प्रकाशित हो चुके हैं। वहीं आदिवासी साहित्य, आदिवासियों के स्वभाव के अनुकूल संकोच के साथ धीरे-धीरे उभर रहा है। (आज से दस वर्ष पूर्व जब आदिवासी साहित्य की चर्चा और भी संकोच के साथ किया जाता था प्रभात खबर आदिवासी साहित्य पर परिचर्चा प्रकाशित कर चुका है —सम्पादक) कुछ वर्ष पहले-'पहल' में मराठी साहित्यकार एवं विचारक वाहरू सोनवणे का आदिवासी साहित्य पर आलेख छपकर चर्चित हो चुका है। पुनर्प्रकाशित 'आलोचना' के एक अंक

में छह ऐसे उपन्यासों की विस्तृत चर्चा की गयी है जो आदिवासी जीवन के बारे में हैं। 'हंस' मासिक में आदिवासी जीवन पर लिखे विभिन्न कृतियों की विस्तार से चर्चा की जा चुकी है। जहाँ झारखंड के आदिवासी जीवन से सम्बन्धित रचनाओं को प्रमुखता से समझने का प्रयास किया गया है। इसके अलावा 'युद्धरत आम आदमी' के दो अंक आदिवासी साहित्य पर केन्द्रित रहे और प्रथम अंक को दुबारा छापना पड़ा। सम्भवत: हिन्दी में ऐसा पहली बार हुआ कि किसी पत्रिका ने आदिवासी लेखकों को साहस के साथ छापने का जोखिम लिया। 'अकार' में आदिवासी कवियों को विशेष महत्त्व देते हुए उन्हें प्रकाशित कर चुका है। साहित्य अकादमी, दिल्ली में भी आदिवासी साहित्य के बारे में सम्मेलन आयोजित किया गया है। इसके अलावा महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश एवं असम में आदिवासी साहित्य के विशाल आयोजन किये जा चुके हैं। उदयपुर से प्रकाशित 'अरावली उद्घोष' एवं हजारीबाग से प्रकाशित 'युद्धरत आम आदमी' के अंकों में आदिवासी साहित्यकारों की रचनाएँ प्रकाशित तो होती ही हैं उन पर वैचारिक विमर्श का भी प्रयास किया जाता है। वाणी प्रकाशन, दिल्ली से एक संग्रह 'आदिवासी स्वर एवं नयी शताब्दी' नाम से प्रकाशित किया है। हाल में जमशेदपुर से प्रकाशित पत्रिका 'दस्तक' ने आदिवासी अंक प्रकाशित किया है जहाँ कई ऐसे आदिवासी, गैर-आदिवासी लेखकों के साक्षात्कार एवं विचार प्रकाशित हैं। जिन्हें पढ़कर अनुभव होता है कि वे असमानता, भेदभाव, शोषण, अत्याचार, अपमान से मुक्ति चाहते हैं और उसके लिए वे वैचारिक रूप से समाज के भीतर संघर्षशील भी हैं। इसके लिए वे महाभारतकालीन इतिहास के साथ-साथ आधुनिक इतिहास की कई मान्यताओं, स्थापनाओं, अवधारणाओं को चुनौती भी दे रहे हैं। इसके अलावा अपने समाज की कुरीतियों की आलोचना करने से भी नहीं चूक रहे हैं। हालाँकि यह प्रयास अभी कम लगता है किन्तु इनकी सामाजिक, सांस्कृतिक हालातों को देखकर सन्तोष किया जा सकता है कि वे सभ्य साहित्य को नयी चुनौती देने में शीघ्र ही सक्षम हो जायेंगे और नयी शताब्दी में हाशिए में डाल दिये गये मनुष्य के समृद्धि एवं विकास के सन्दर्भों से जुड़े न केवल आर्थिक, सामाजिक अनदेखे एवं अनछुए तथ्यों को तलाशेंगे बल्कि जहाँ सम्भव है वहाँ इसका समाधान भी ढूँढ़ेंगे। शायद अपने दलित लेखक मित्रों की तरह, फ्रांस के जमीनी (लैंड) लेखकों की तरह, अमरीका के अश्वेत लेखकों का तरह या अफ्रीकी लेखकों की तरह या शायद उनसे बेहतर? लेकिन ये इसके पूर्व उन्हें स्वयं साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की परिभाषा एवं व्याख्या के नये मापदंड निर्धारित करने होंगे।

यह देखना दिलचस्प होगा कि साहित्य के दर्पण में वे अपना कैसा प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। आधुनिकता एवं पश्चिमी सभ्यता के रंग में रँग रही नयी आदिवासी युवा पीढ़ी साहित्य से विमुख लगती है, फिर भी ऐसे कई नवजवान हैं जिनमें साहित्य को एक नया कलेवर दे सकने की जबरदस्त क्षमता है। बस जरूरत है गहरे आत्ममन्थन की, दृष्टिकोण को बदल समाज एवं दुनिया को देखने की और बेझिझक कलम उठा लेने की। तब शायद हाशिये में जबरन डाले गये आदमी के स्वाभिमानी, जुझारू पुरखों

की धुँधली तस्वीरें, नयी चुनौतियों, नये दृष्टिकोणों के साथ ससनदिरी से, मसना से, कब्रगाहों से, पहाड़ों-जंगलों, खेत-खलिहानों से आकार लेती हुई, उठती अवश्य दिखाई देंगी। यह आशा इसलिए भी और पुख्ता होती है जैसा कि प्रसिद्ध सम्पादक एवं कथाकार राजेन्द्र यादव ने अपने एक आलेख "हिन्दी साहित्य की शुद्धतावादी अब रिजेक्ट हो रही है" में लिखा है 'जहाँ एक दुनिया जो मध्यवर्गीय, शुद्धतावादियों बूढ़ों की है, खत्म हो रही है और उनके नौवजवान कैरियर, साइन्स, बिजनेस, टेक्नोलॉजी में खप गये, बूढ़े निरर्थक हो गये लेकिन दूसरी दुनिया जो दलितों, स्त्रियों, अल्पसंख्यकों, आदिवासियों की है जहाँ साहित्य-सृजन के आवश्यक तत्त्व– संघर्ष, सपने, जोश और नयी दुनिया से साक्षात्कार का एडवेंचरिज्म भी है, अब शुरू हो रही है। (शब्दकर्म विमर्श, कोलकाता अंक 5, पृष्ठ 77)'

सन् 2004

संस्कृति-कर्म, झारखंड और झारखंड से बाहर—कुछ अनुभव

विद्वान एवं विशेषज्ञ मानते हैं कि हिन्दी प्रदेश साहित्य, संस्कृति और कला के मामलों पर कभी गम्भीर नहीं रहे। एकमात्र मध्य प्रदेश में ही साहित्य संस्कृति के मुद्दों को लेकर गम्भीर दिखती है। जबकि उत्तर-पूर्व के आदिवासी बहुल कहे जाने वाले अनेक राज्य भी इस मामले में हिन्दी प्रदेशों से ज्यादा जागरूक और संवेदनशील हैं। फलतः वे राज्यों में क्षेत्र विशेष की साहित्य, कला-भाषा, संस्कृति के पक्ष में कुछ-न-कुछ करती दिखाई देती हैं। कोहिमा में दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में विश्वविख्यात हॉर्नबिल मेला आयोजित किया जाता है। इसके लिए एक विशाल हेरिटेज विलेज का निर्माण स्थायी रूप से किया गया है, जहाँ न केवल हर ट्राइब के निवास स्थल के नमूने आदि बनाये गये हैं बल्कि नृत्य, नाटक आदि के कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए मंच भी निर्मित हैं। इसके अलावा विविध नगा भोजन, वेशभूषा आदि को बहुत ही गरिमापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने की व्यवस्था भी है। नॉर्थ ईस्ट के प्रायः हर छोटे-बड़े सरकारी या गैर-सरकारी आयोजनों में देशज खान-पान विशेष रूप से प्रदर्शित करने की आकर्षक व्यवस्था की जाती है। यहाँ पारम्परिक पेय से लेकर आधुनिक भोजन तक उपलब्ध होते हैं। इसी तरह गुवाहाटी में शंकरदेव कला क्षेत्र है जहाँ पूर्वोत्तर के समस्त एथनिक समुदाय द्वारा प्रयुक्त वेश-भूषा, वाद्य यन्त्र, जीने के लिए जरूरी साज-सामानों के नमूने संग्रहित हैं। इसे देखने के लिए न केवल बाहर से बल्कि स्थानीय लोग भी आते रहते हैं। 'डॉ. भूपेन हजारिका संग्रहालय' इस कला क्षेत्र का एक और आकर्षक केन्द्र बन गया है। इस संग्रहालय में डॉ. हजारिका द्वारा प्रयुक्त वस्तुओं के अलावा प्राप्त पुरस्कार, ट्रॉफी आदि का गौरवशाली संग्रह है। ग्वालपाड़ा में दिसम्बर महीने में शाल वृक्षों के बीच निर्मित खुले मंच में आयोजित नाट्य समारोह को देखना एक अदभुत अनुभव है।

हाल ही में राँची में 'झारखंड सरकार' के सहयोग से 'झारखंडी भाषा-साहित्य संस्कृति अखड़ा' ने तीन दिवसीय दलित आदिवासी नाट्य समारोह एवं सेमिनार का आयोजन किया। जहाँ मणिपुर, राजस्थान, महाराष्ट्र, दिल्ली एवं तमिलनाडु की नाट्य मंडलियों ने भाग लिया। मुख्यमन्त्री जी ने इस आयोजन का नगाड़ा बजाकर उदघाटन किया और घोषणा की कि हर जिले में थियेटर का निर्माण होगा। मुख्यमन्त्री जी इसके लिए बधाई एवं धन्यवाद के पात्र हैं कि कम-से-कम उन्होंने या उनकी सरकार ने झारखंड में साहित्य, संस्कृति, कला आदि के विकास के लिए कुछ तो सोचा। निश्चय ही इस आयोजन से हिन्दी प्रदेशों में और खासकर झारखंड में साहित्य, संस्कृति और कला-कर्म को आगे बढ़ाने में एक माहौल बन सकता है। पूर्वोत्तर का एक और उदाहरण– कुछ दिनों पहले आसाम सरकार ने एक सौ कलाकारों को प्रतिवर्ष फेलोशिप देने की घोषणा की। अन्तरराष्ट्रीय व्यक्तित्व पद्मश्री रामदयाल मुंडा जी के संस्कृति कर्म का सम्मान करते उनकी याद में कुछ ऐसा किया जा सकता है जिससे झारखंड के साहित्य, संस्कृति, कला को बढ़ावा मिले। उक्त नाटक समारोह के पहले दिन 'जेवियर समाज सेवा संस्थान प्रेक्षागृह' से जब लोग रात के दस बजे तमिल नाटक देखकर हॉल से यह कहते हुए निकले कि– 'नाटक देखने के लिए तमिल को समझने की जरूरत नहीं है' या अगले दिन मणिपुरी नाटक देखकर लोग कहें– 'अरे! यह तो हमारी कहानी है' तो इसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। ऐसे प्रयासों से राष्ट्रीय संस्कृति के अलग रंग देखने को मिलेंगे ही। लोग एक-दूसरे की समस्याओं को समझने में संवेदनशील भी बन सकते हैं। साथ ही झारखंड राज्य की संस्कृति, भाषा, कला आदि की विशिष्टता, विविधता को भी नयी पहचान और दिशा दी जा सकती है। हमारे झारखंडी फिल्मकारों एवं खिलाड़ियों की तरह जब उनके कार्यों को भी राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय सम्मान मिलेगा तो निश्चय ही हर झारखंडवासी उन पर गर्व करेगा। आशा है, सरकार इस ओर, और ध्यान देगी तथा जनता, मीडिया, कलाकार, संस्कृतिप्रेमी एवं युवा– भविष्य में इसके लिए, एक-दूसरे का ध्यान रखते, आपसी सहयोग, समझदारी, उत्साह एवं संवाद बनाये रखेंगे। कला, साहित्य आदि के क्षेत्र में छिपे धोनियों को अवसर देना, प्रोत्साहन देना, सम्मान देना सरकार एवं जनता दोनों का कर्तव्य है। क्योंकि एक राज्य का गौरव– कला, साहित्य एवं अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों हेतु कृत प्रयासों से भी बढ़ता है।

सन् 2012

कोलकाता के कॉन्वेन्ट स्कूल में निर्मला पुतुल की कविता

कुछ दिनों पहले मेरे दोस्त की बिटिया सुजन तोपनो मेरे घर आयी, जिसे घर में मुनू के नाम से पुकारा जाता है। मुनू कोलकाता में पैदा हुई है और यहीं एक प्रसिद्ध अँग्रेजी

माध्यम कॉन्वेन्ट स्कूल की नौवीं कक्षा में पढ़ रही है। मेरे दोस्त का ससुराल रांची में हैं। वे सिमडेगा के निवासी हैं। वे बराबर रांची आना जाना करते हैं। विशेषत: गर्मी और क्रिसमस की छुट्टियों में। उनका प्रयास रहता है कि बच्चे अँग्रेजी माध्यम में पढ़ें जरूर लेकिन इतनी अंग्रेजियत न ओढ़ लें कि गाँव घर के थोड़े ग्रामीण परिवेश में स्वयं को एडजस्ट न कर सकें। इसलिए वे जब भी रांची जाते हैं अपने बच्चों को गाँव जरूर ले जाते हैं। उनके इस प्रयास का मैं हमेशा प्रशंसक रहा हूँ। शायद यही कारण रहा है कि बिटिया कभी कभी आदिवासी इतिहास, भाषा, परम्पराओं या रीति रिवाज के बारे कुछ-कुछ पूछ लिया करती है।

इस बार भी जब वह आई तो मुझे उम्मीद थी औपचारिक बातों के बाद शायद कुछ पूछे। अनुमान सही निकला। लेकिन, उसने जिस बात की चर्चा की वह मेरे लिए आह्लादपूर्ण नहीं बल्कि विस्मयकारी थी। कारण बिटिया इस बार न मुझसे इतिहास पूछ रही थी और न किसी रीति रिवाज के बारे, इस बार आश्चर्यजनक रूप से मुझसे कविता की मांग कर रही थी– वह भी हिन्दी कविता! अँग्रेजी माध्यम के बच्चे वैसे भी हिन्दी को उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखते हैं। इसलिए बिटिया के द्वारा हिन्दी कविता की माँग करना मेरे लिए अचरज भरी लेकिन सुखद अनुभूति से कम न थी। फिलहाल कई कविता पुस्तक छाँटने के बाद कहा 'ऐसा करो तुम निर्मला पुतुल की कविताएँ पढ़ो। यही उपयुक्त होगा।'– यह सलाह दे तो दी किन्तु मन में संशय था, पता नहीं कॉन्वेन्ट के बच्चे एवं शिक्षक इन कविताओं के बारे के क्या सोचेंगे! सबसे बड़ी बात समझेंगे क्या? किन्तु, विश्वास था यदि टीचर में कविता के भाव को समझने की थोड़ी भी समझदारी होगी तो उसे कविता जरूर अच्छी लगेगी। फिलहाल तीन-चार कविताएँ पढ़कर उसे सुनाया और 'माँ के लिए, ससुराल जाने से पहले' कविता पढ़ते, देखा और अनुभव किया कि कविता खत्म होने तक हम सभी के आँखों में आँसू छलछला गए थे। यह कविता कई बार पढ़ा था लेकिन तब पढ़ने के लिए पढ़ा था। बिटिया को यह कविता पढ़कर सुनाते समय उस पीड़ा को पहली बार झेल रहा था। 'आँगन में टूटे झाड़ू सा' और 'गोहाल में गोबर फेंकने के डलिये में सटे गोबर की तरह' या 'जंगल से लायी लकड़ियों के गट्ठर में बँधी रस्सी की तरह बँधी रह जाऊँगी तुमसे' जैसी कुछ पंक्तियों ने मन में एक अजीब सा दर्द भर दिया। लगा जैसे इन पंक्तियों ने झिंझोड़ दिया हो। लेकिन यहाँ शायद यह कहना उपयुक्त होगा कि कविता की ने हमें नुकीले तीरों से जैसे 'बींध' दिया था।

बिटिया 'नगाड़ों की तरह बजते हैं शब्द' किताब ले गई और कुछ दिनों बाद किताब वापस भी कर आई। मैंने उत्साहपूर्वक पूछा कैसी रही कविता पाठ? उसने बताया 'ठीक ही। लेकिन, पता नहीं मैम को पसन्द आई या नहीं कह नहीं सकती।'– दरअसल कविता सुनने के बाद मैम ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं दी थी। मुझे लगा गलत जगह, गलत कविता का पाठ हो गया। फिर सोचा बन्दर क्या जाने, अदरक का स्वाद! और यह बात भूल गया।

करीब दस-पन्द्रह दिनों बाद बिटिया फिर आई और 'नगाड़ों की तरह बजते हैं

शब्द' कविता संग्रह फिर ले गई। मैंने इस बार कुछ कहा नहीं। कविता के बारे कोई अच्छी प्रतिक्रिया नहीं पाकर मन निराशा से भर गया था। कविताओं का कुछ नहीं होनेवाला, सोचता गुस्से में अन्दर-ही-अन्दर घुटता रहा, खौलता रहा। चुपचाप खुद पढ़ो और रोओ या गाओ! बस! किसे पढ़ाने और सुनाने की जरूरत है? और क्यों? किसकी कविताएँ कोई पढ़ेगा और कोई क्यों सुनेगा!

बिटिया को पुस्तक देने की बात मैं भूल गया। इन कविताओं के बारे कुछ दिनों तक सोचने का प्रयास भी नहीं किया। फिर एक दिन पत्नी के आग्रह पर सुजन बिटिया के घर पहुँचे। तब तक शायद पन्द्रह दिन और गुजर गए थे। सभी ने घर में अतिरिक्त उत्साह से हमारा स्वागत किया। वैसे तो हम जब भी वहाँ जाते हैं वे गर्मजोशी से हमारा स्वागत करते ही हैं। लेकिन उस दिन घर में सभी के चेहरे पर एक खास मुस्कान बिखर रही थी। ऐसा लगा वे कोई खुशखबरी सुनाने ही वाले हैं। अनुमान सही निकला। हमारे बैठने के बाद ही सुजन की माँ ने मुस्कराते बताया 'कविता पाठ में, मुनू फर्स्ट आयी है। 'मूनु यानी सुजन।' मैंने पूछा 'कौन सी कविता?' उसने बताया 'जो आपने बताया था– माँ के लिए, ससुराल जाने से पहले।'

यह सुनकर मन खुशियों से भर गया। कविताओं के प्रति विश्वास फिर पुख्ता हो गया। नई पीढ़ी को जमीन से अलग होता देखने की तकलीफ झेलता रहा हूँ। इसलिए लगा वह कष्ट इस छोटे से प्रयास से कहीं तो कम हुई।

बिटिया से पूछा तो उसने बताया कि– कविता पाठ करने के पहले निर्मला के बारे संक्षिप्त जानकारी दी। फिर बताया कि कविता मूलतः संथाली भाषा में लिखी गई है, संथाली कविताओं का हिन्दी अनुवाद भारत की प्रमुख साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्था भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है और इसका पहला संस्करण अब समाप्त हो चुका है।'

दोस्त की पत्नी ने बिटिया को कुछ इशारा किया और बिटिया ने एक प्रमाणपत्र मुझे दिखाया, जिसमें बांयीं तरफ कोने में किसी धातु का मेडल जैसा कुछ लगा था। निर्मला पुतुल की कविता पाठ कर सुजन स्कूल में प्रथम आई थी।

मैंने अनुभव किया अपने परिवेश को शिद्दत से, ईमानदारी से समझने को कोशिश में लिखी कविताएँ चाहे जहाँ भी पढ़ीं जायं अपनी पहचान बना ही लेती हैं। एक गाढ़ा असर मन में छोड़ जातीं हैं– जाति, धर्म, भाषा, भूगोल की विविधताओं और दूरियों से परे– वे हृदय की अथाह गहराईयों को छू ही लेती हैं।

झारखंड धारा, सन् 2003

पूर्वोत्तर की आदिवासी कहानियाँ पढ़कर

जब से गुवाहाटी आया इच्छा थी कि पूर्वोत्तर के आदिवासी लेखकों की कहानियाँ पढ़ूँ लेकिन पेंग्विन अंग्रेजी एवं नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा कुछ किताबों को ही पढ़ सका, इनमें

किसी एक भाषा की ही रचनाएँ थी। चाहता था कि अधिक से अधिक आदिवासी कथाकारों की रचना पढ़ सकूँ। जो किताबें उपलब्ध थी वे असमिया भाषा में थीं, साहित्यिक निबंध आदि तो समझ में आ जाते हैं लेकिन मूल असमिया में कविता या कहानी पढ़ना और समझना अभी थोड़ा कठिन लगता है।

लेकिन इस कमी की पूर्ति अचानक कुछ दिन पहले हो गई जब वासवी जी ने अपनी गुवाहाटी यात्रा के दौरान रमणिका गुप्ता द्वारा संपादित और नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित कहानी संग्रह पूर्वोत्तर की आदिवासी कहानियाँ दी। कहानियाँ दो बैठक में पढ़ गया। पढ़कर काफी अच्छा लगा कि पूर्वोत्तर का आदिवासी लेखक अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषिक परंपरा के प्रति काफी सजग और जागरूक है। वे विषम परिस्थिति में जीवन जीते, विभिन्न समस्याओं को अपनी जमीनी संवेदनाओं से समझने, समझाने का प्रयास कर रहे हैं। इन कहानियों में समाज की परंपरा, आस्था, नैतिक-सामाजिक मूल्यबोध, आशा, निराशा, आक्रोश, गुस्सा और जीवन को बचा लेने के आग्रह आदि को देखा जा सकता है। अधिकांश कहानीकारों की सबसे बड़ी ताकत कहानी को मजे लेकर कहने की कला है। वे कई तकलीफों को मजे लेकर कहते हैं। शायद यह कहानी कहने की उनकी मौखिक परंपरा के कारण है। झारखंड में इतना कुछ हो रहा है लेकिन आदिवासी रचनाकारों की रचनाएँ उस मात्रा एवं व्यापकता में प्रकाशित नहीं हो रहीं हैं। आधुनिक विद्रूपताओं से जुड़ने की आकांक्षा भी कम नजर आती है राजनीतिक हलके में जैसी सरगर्मी है वैसा माहौल भाषा या साहित्य के मैदान में नहीं है।

आदिवासी जीवन पर कहानियाँ प्रकाशित हो रही हैं लेकिन स्वयं आदिवासी रचनाकारों की सृजनशीलता की मात्रा में काफी कम है। हाँ संताली रचनाकार इसके अपवाद जरूर लगते हैं लेकिन वहाँ भी पद्य लेखन ज्यादा है, गद्य लेखन कम, इसके विपरीत पूर्वोत्तर के रचनाकार अपनी जीवन की हर मुद्दे एवं समस्या जूझते, लड़ते संघर्ष करते नजर आते हैं। अपनी भावनात्मक दुनिया के अलावा भाषिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, मानसिक विडंबनाओं को गहरे और क्षेत्रीय संदर्भों से भी जोड़ने को उत्सुक नजर आते हैं। कई कहानियों का अंत आदर्शवादी ढंग से है जो उनकी सामाजिक जरूरत के अनुकूल है जहाँ बुराई पर अच्छाई की विजय या अपनी गलती का एहसास करके पश्चाताप करना भी है। शराबखोरी से बरबाद होते नायक की कहानी भी है। सत्ता के नशे में चूर और ऐय्याश आदिवासी नेता की भी कहानी है और तो और वे अपनी मौखिक रचनाओं, मिथक कथाओं की रक्षा में प्रयासरत हैं साथ ही वे अपनी वर्तमान जीवन के बारे में कहानियों उपन्यासों के माध्यम से कह रहे हैं। ममंग दई, येसे दोरजे थोंगचीं, समीर तांती, अनंत तांती, रोंग बोंग तेरांग, विजोया सावियान, डेस्मंड एल. चारमाओप्लांग, डॉ. मंगल सिंह जाजोबारी, मधुराम बोरो, रामदास बोरो, बिदोर सिंह क्रो, राजेन्द्रनाथ बरदलै, एल. इबीमचा, ख्यालकुंगी नेचुरियाजो चुचा, स्नेहमय राय चौधुरी के अलावा अनेक नाम हैं जो अपनी मातृभाषा के अलावा हिन्दी, असमिया,

बंगला या अंग्रेजी में लिख रहे हैं। इनमें वह नई पीढ़ी भी है जो मात्र अंग्रेजी में लिख रही है। कार्बी समुदाय के पद्‌मश्री रोंग बोंग तेरांग असमिया व कार्बी में लिखते हैं और संप्रति, असमिया साहित्य सभा के अध्यक्ष है। हिन्दी में किसी आदिवासी को ऐसा सम्मान मिलना अभी शेष है। आदिवासी कला साहित्य के क्षेत्र में, संभवतः मध्यप्रदेश को छोड़कर किसी हिन्दी प्रदेश में कहीं भी सरकारी स्तर पर अनुकूल माहौल नहीं है। वैसे भी असमिया साहित्य सभा की कार्यशैली एवं विस्तार, हिन्दी या अन्य भारतीय भाषा से काफी अलग है। संग्रह का संपादकीय, दर्द का रिश्ता कायम करती पूर्वोत्तर की कहानियाँ पूर्वोत्तर को समझने की दृष्टि को विस्तार देता है, जहाँ आदिवासी समाज की कई अच्छाइयों, मातृभाषा, सामूहिक जीवन शैली, सरलता, जीवटता, सादगी, संघर्षशीलता, शांतिप्रियता, महिलाओं के प्रति आदर, जिजीविषा, परिश्रम आदि का उल्लेख किया गया है। संपादकीय में वर्णित तथ्य, एक बेहतर गाइड की तरह संग्रह की कहानियों के बारे सहज, स्वाभाविक विषय-प्रवेश कराती है।

'भूमिपुत्र' कहानी का नायक नेडयू कुछ शरारत करते पुलिस द्वारा पकड़े जाने पर इतना सताया जाता है कि वह सोचता है काश वह सचमुच वह एनएससीएन का सदस्य होता लेकिन युद्धविराम के बाद उसे शांति की आशा है वह सोचता है–शायद कल मुझसे बेहतर सलूक किया जाएगा यही मेरी कामना है, आशा और प्रार्थना है। अनजाने में यह पूरे देश में शेषित उत्पीड़ित लेकिन शांतिप्रिय आदिवासियों की यह आवाज बन गई प्रतीत होती है। जड़ें कहानी में विलिएन्यू विदेश से पढ़कर घर लौटे युवक की कहानी है जो अपने समाज की रिवाजों को बकवास बताता है। बड़ों का आदर करना, एक दूसरे की सहायता करना अपनी मातृभाषा में बात करना उसे बेकार लगता हैऔर वह दिल्ली चला जाता है। शुरू में वहाँ सब कुछ ठीक लगता है लेकिन एक बार संकट में आने पर कोई उसकी मदद नहीं करता, न सहानुभूति के दो शब्द कहता। तब उसे अपने गाँव की सहयोगी भावना याद आती है। सूर्यास्त कहानी में शराबखोरी की बुराई पर सब कुछ खोते मिसोर की कहानी है। शिक्षक कहानी में ऐसे अवसरवादी लोगों के प्रयास को दिखाया गया है जो कार्बी भाषा के उत्थान के लिए संघर्षरत है लेकिन अच्छी नौकरी पाकर वह अपनी भाषा के बदले अंग्रेजी का समर्थन करता है। काउबॉय लाबेले जीन्स एक ऐसे बालक की कहानी है जो पिता द्वारा अच्छे कपड़े खरीद न पाने के कारण गलत रास्ते में भटक जाता है। रंग अबीर का पड़ा फीका कहानी में परंपरा की रक्षा के लिए एक दंपति के संघर्ष को चित्रित किया गया है। इस तरह सभी कहानियाँ आदिवासी समुदाय की उन तकलीफों, आकांक्षाओं, परंपराओं, आनंद, निराशाओं, दुखों, आक्रोश, गुस्सा, घृणा, प्रेम के पक्षों को सादगी के साथ कहा गया है, जोकि प्रायः कहे जाने से बची रह जाती है। कुछ कहानियों में ईसाई धर्म एवं बाईबल पर की गई टिप्पणियाँ रोचक हैं। भारत जैसे प्रजातांत्रिक देश में विभिन्न समुदायों को समझाने के लिए ऐसी किताबों का अपना सामाजिक, सांस्कृतिक महत्व है। आशा है हिन्दी जगत इसका स्वागत करेगा। साथ ही झारखंड या हिन्दी क्षेत्र के नए लेखकों को पूर्वोत्तर की

आदिवासी कहानियाँ कुछ सार्थक लिखने के लिए अवश्य प्रेरित करेगा। रमणिका गुप्ता को यह संकलन तैयार करने एवं नेशनल बुक ट्रस्ट को पुस्तक प्रकाशित करने के लिए सराहना अवश्य की जानी चाहिए।

सन् 2012

कोलकाता पुस्तक मेला और हिन्दी पुस्तक, प्रकाशक एवं पाठक

भारत मेलों का देश कहा जाता है। पशु मेला से शिशु मेला तक यहाँ हर दिन कोई न कोई मेले लगे ही होते हैं। दूर भीड़-भाड़ से अलग शांत आदिवासी गाँवों से लेकर महानगर की चकाचौंध तक तरह तरह के मेले देश के कोने कोने में लगते रहते हैं। लेकिन इन सबसे अलग कोलकाता पुस्तक मेले को देखना या उसमें शरीक होना सचमुच में एक अदभुत अनुभव है। कारण यहाँ हम मात्र मनोरंजन के लिए नहीं आते और मान लीजिए मनोरंजन के उद्देश्य से भी आते हों तब भी यहाँ हम जो कुछ अर्जित करते हैं वह और मेला स्थलों पर शायद ही कर पाते हों। कारण विभिन्न पुस्तक स्टॉलों पर किताबों की सुगंध को अनुभव करना अपने आप में एक अवर्णनीय अनुभव है। आश्चर्यमिश्रित खुशी होती है यह देखकर कि आज के टेलीविजन एवं कम्प्यूटर युग में भी किताबों के लिए लोगों के मन में इतनी जगह बची है। इससे साबित यह होता है कि लोगों के मन में किताबों के संकट का जो भ्रम फैलाया गया वह या तो झूठ है और ऐसा संकट कभी था ही नहीं। खुशी यह देखकर भी होती है कि जिस नई पीढ़ी को पुस्तक से विमुख माना जा रहा था वह भी आज सक्रिय है। इतना ही नहीं यह पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के प्रति भी उत्सुक दिखी।

हिन्दी स्टॉल

पाँच सौ से अधिक बुक स्टॉलों के बीच हिन्दी के लगभग दस स्टॉल थे। छोटे प्रकाशकों एवं लघु पत्रिकाओं के लिए अलग स्टॉल थे जो एक ही जगह थे। प्रसिद्ध हिन्दी प्रकाशकों में राजकमल, राजपाल, ज्ञानपीठ, पुस्तक महल के स्टॉल के अलावा स्थानीय विक्रेता राज, आनन्द, हिन्दी सेन्टर आदि के अतिरिक्त नेशनल बुक ट्रस्ट, चिल्ड्रेन बुक ट्रस्ट आदि कुछ सरकारी संस्थाओं में भी हिन्दी किताबें उपलब्ध थीं। पुस्तक मेले में जहाँ तरह-तरह की किताबे बिक रहीं थीं वहीं 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान' द्वारा प्रकाशित हिन्दी से बंगला सिखानेवाली पुस्तक भी खूब बिकी और संस्थान वालों को किताब दुबारा मंगवानी पड़ी। जाहिर है किताबें उपयोगी और क्रय क्षमता के अन्दर हों तो बिकतीं हैं इसमें कोई संदेह नहीं। अधिकांश प्रकाशक साहित्य की किताबें बेचते नजर आये किन्तु पाठकों ने स्वास्थ्य, सामान्य ज्ञान, कम्प्यूटर के अतिरिक्त धार्मिक किताबों में भी अपनी रुचि दिखायी।

हिन्दी शब्दकोशों के विकल्प

पिछले कुछ वर्षों से देखा जा रहा है कि हिन्दी प्रकाशकों ने कई प्रकार शब्दकोश कई कई आकारों में बाजार में उतारा है। राजपाल, साहनी आदि प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित तीस चालीस रुपये में उपलब्ध छोटे हिन्दी शब्दकोशों के अलावा पांच सौ रु. मूल्य तक के शब्दकोश आज हिन्दी पाठकों के लिए उपलब्ध हैं। वरना पहले भार्गव या ज्ञानमण्डल के अलावा हिन्दी पाठकों के पास और कोई विकल्प नहीं होते थे। हिन्दी के सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि आज हिन्दी शब्दकोश बिक रहे हैं और उनके पास 'अरविन्द कुमार' के 'समांतर कोश' के अतिरिक्त भी कई बेहतर शब्दकोशों के चयन का विकल्प मौजूद है। अत: यह कहना अनुचित नहीं होगा कि हिन्दी के सामान्य पाठक अपने घरों में मात्र अँग्रेजी के ही शब्दकोश रखते देखे जाते हैं। हाँ, हर शब्दकोशों की अपनी कुछ खूबियाँ या खामियां हो सकतीं हैं। फिर भी कहना होगा कि आज हिन्दी पाठकों के पास शब्दकोश के लिए दस पंद्रह साल पूर्व से बेहतर विकल्प उपलब्ध हैं। आश्चर्य नहीं कि पुस्तक मेले में कई लोग हिन्दी शब्दकोश भी ढूँढ़ते मिले।

पुराने लेखकों की किताबें

फिर भी प्रेमचंद, शरत एवं रवीन्द्रनाथ की किताबें अब भी खूब विकतीं है। 'राजकमल' ने क्लासिक किताबों की एक सीरीज जारी की जो पचास से सत्तर रुपये तक में बिक्री के लिए उपलब्ध थी। अन्य भाषाओं से अनूदित किताबों के अलावा कई नए पुराने हिन्दी लेखकों की किताबें भी बिकती देखी गईं। 'समकालीन सृजन' के स्टॉल पर कुछ लघु पत्रिकाएँ भी देखी गईं। 'ज्ञानपीठ' ने सदस्यता अभियान भी चलाया था जहाँ इसका सदस्य बना जा सकता था और किताबों पर 25 प्रतिशत की छूट प्राप्त की जा सकती थी। बंगला प्रकाशक आनन्द में हमेशा ही पाठकों की लम्बी पंक्ति देखी गई। वहीं किसी हिन्दी स्टॉल में प्रवेश के लिए पंक्ति नहीं देखी गई। 'आनन्द' वालों ने मेले के अवसर पर एक सौ नई किताबें जारी की। उसके मुकाबले हिन्दी में गिनती की किताबें जारी की गई। बच्चों की किताबों के लिए बंगला स्टॉलों में भारी भीड़ देखी गईं। सामान्य ज्ञान की किताबों के अतिरिक्त बंगला में बच्चों के लिए भूतों के कहानियों का मोटी किताबें भी काफी संख्या में बिकतीं दिखीं। एक परेशान अभिभावक से भी मुलाकात हुई जो अपने बेटे के लिए रोंगटे खड़ी कर देनेवाली भूत वाली कहानी किताब के लिए चिंतित था। दरअसल बेटे को शिकायत थी कि पिताजी ऐसी किताबें नहीं लाते हैं जिसे पढ़कर रोंगटे खड़े हो जायें। वहीं अँग्रेजी प्रेमी बच्चे हैरी पोटर की किताबों के दीवाने थे। हिन्दी पाठकों के बच्चे जो इक्का-दुक्का दिखे वे कॉमिक्स या सामान्य ज्ञान की किताबें ही खोजते दिखे।

एक नई प्रवृति का उभार

पुस्तक प्रकाशन जगत में इधर एक नई प्रवृति उभरती नजर आई है और वह है

दलित, आदिवासियों से सम्बन्धित किताबों का प्रकाशन। जहाँ कई बड़े लेखकों, सम्पादकों ने दलित, आदिवासी समस्याओं पर अपनी किताबें प्रकाशित कीं। वहीं इन समस्याओं पर पूर्व प्रकाशित पुस्तकों के नये संस्करण भी प्रकाशित किये गये। अचानक झारखंड पर ढेर सारी मोटी, पतली किताबें देखी गयीं। बिरसा मुंडा पर लिखा 'महाश्वेता देवी' का उपन्यास 'जंगल के दावेदार', 'डॉ. कुमार सुरेश सिंह' का 'बिरसा मुण्डा और उनका आन्दोलन', 'डॉ अमर कुमार सिंह' का 'जोहार झारखंड' के अतिरिक्त 'उर्मिलेश' तथा 'विद्याभूषण' द्वारा झारखंड पर लिखी किताबें के अतिरिक्त सम्भवत: पहली बार दिल्ली के प्रकाशक द्वारा स्वयं आदिवासियों द्वारा लिखी किताबें प्रकाशित की। 'प्रकाशन संस्थान' ने 'डॉ. रामदयाल मुण्डा ' एवं 'डॉ. इग्नेशिया टोप्पो ' की किताबों को छापने का साहस दिखाया वहीं पहली बार एक बड़े प्रकाशक 'वाणी' ने सिर्फ आदिवासियों की लिखी रचनाओं को 'रमणिका गुप्ता' के सम्पादकत्व में 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी ' के नाम से प्रकाशित किया है, जिसमें आदिवासी भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में लिख रहे मात्र आदिवासी रचनाकारों की रचनाओं को हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। 'प्रभात खबर, सम्पादक 'हरिवंश' के सम्पादकत्व में 'राजकमल' से झारखंड पर एक महत्वपूर्ण किताब 'झारखंड : दिसुम मुक्तिगाथा और सृजन के सपने' के नाम से आई है जिसमें स्थानीय लेखकों, पत्रकारों, विद्वानों के शोधपरक लेख आदि सम्मिलित किये गये हैं। 'सईल रकब पुथि सेन्टर' जैसे एक पुस्तक विक्रेता के पास झारखंड और आदिवासी इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से सम्बन्धित किताबें हिन्दी, अँग्रेजी, बँगला के अतिरिक्त संताली, मुंडारी, कुड़ुख, खड़िया भाषाओं में भी उपलब्ध थीं। जहाँ देशी विदेशी विद्वानों की कई दुर्लभ किताबें भी बिक रही थीं तो बिलकुल नये लेखकों की किताबें भी पाठकों को चुनौती दे रहीं थीं। पिछले कई वर्षों से 'सईल रकब पुथि सेन्टर', कोलकाता पुस्तक मेले में भाग ले रहा है और इसने एक खास पाठक वर्ग के बीच अपनी उपस्थिति का एहसास कराया है।

एक सवाल

कहने को तो हिन्दी में आज सभी विषयों पर किताबें उपलब्ध हैं। किन्तु, ज्ञान विज्ञान पर लिखी गई मूल हिन्दी किताबों का अभाव अब भी बना हुआ है। इतिहास, समाज-विज्ञान, पर्यावरण, अर्थ शास्त्र आदि विषयों के अलावा खेल, सिनेमा पर भी गिनी चुनी किताबें ही हैं। क्या कारण है कि हिन्दीभाषी विद्वान साहित्येतर किताबें अँग्रेजी में लिखना पसन्द करते हैं? जबकि कई अहिन्दीभाषी विद्वान अपनी मातृभाषा में भी किताबें लिखते है – बंगला, मराठी आदि इसके उदाहरण हैं। आखिर ज्ञान विज्ञान की किताबें मूल हिन्दी में क्यों नहीं लिखीं जातीं? परीक्षा उपयोगी, कामचलाऊ किताबों का आसरा और सहारा और कब तक? प्रकाशक, लेखक, पाठक आखिर कौन ऐसी किताबें हिन्दी में नहीं चाहता? आज के सन्दर्भ में यह सवाल पूछा जाना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी पाठक किसी गहरी साजिश का शिकार है या उसे स्वयं ही ऐसी किताबें हिन्दी में पढ़ने

की रुचि नहीं ? हर साल लगते पुस्तक मेलों के बीच ऐसे प्रश्न क्यों नहीं पूछ जाते ? बेहतर किताबों के लिए ऐसी अनिच्छा और उदासीनता का माहौल क्यों ?

जनवरी 2003

भविष्य आदिवासी साहित्य का

आज से लगभग तेरह वर्ष पूर्व जब आदिवासी साहित्य का विकास कैसे हो ? विषय पर परिचर्चा आयोजित किया था तो समकालीन भारतीय साहित्य के तत्कालीन सम्पादक शानी जी को भी पत्र लिखा था। पत्र लिखने के कुछ दिनों बाद उनका जवाब भी आया। चूँकि वे बस्तर में रह चुके थे। अत: आशा थी कि वे आदिवासी साहित्य के बारे में अवश्य कुछ कहना चाहेंगे। लेकिन पत्र में जो कुछ बातें थीं मेरे लिए उत्साहवर्द्धक नहीं थीं। लेकिन साहित्य अकादमी द्वारा राँची में आयोजित अखिल भारतीय आदिवासी साहित्य सम्मेलन तत्कालीन उदासीनता को अब दूर कर रहा है। खैर तब काफी प्रयास के बाद तीन लोगों के विचार प्राप्त हो गये थे, जिनमें कर्मेन्दु शिशिर, संताली लेखक बासुदेव बेसरा एवं हिन्दी के चर्चित कथाकार संजीव जी के विचार शामिल थे। मैंने कोशिश की कुछ और लोगों के विचार भी शामिल करूँ, किन्तु ऐसा हो न सका। इन्हीं तीन लोगों के विचार ही तब (प्रभात खबर में) प्रकाशित किये जा सके। मैं नहीं जानता किसी ने चर्चा की या नहीं, इसके लिए मुझे कहीं से कोई समर्थन भी नहीं मिला। लेकिन, जिस तरह के साहित्यिक माहौल थे, समाज एवं राजनीति में परिवर्तन के हलचल हो रहे थे उससे लगता था अगले दस-बारह वर्षों के बाद आदिवासी साहित्य की चर्चा राष्ट्रीय स्तर पर होने लगेगी। और अनुमान सही निकला।

आदिवासी साहित्य की चर्चा पत्र-पत्रिकाओं में

सापेक्ष के एक अंक (सम्भवत: लोक-साहित्य अंक) में कुछ बातें आदिवासी साहित्य के बारे हलकी-सी कही गयी थीं। इसी तरह वर्तमान साहित्य के कविता विशेषांक में नारायण सुर्वे ने आदिवासी कविताओं के बारे में चर्चा की थी। इस बीच कुछ कविताएँ आदिवासी जीवन का स्पर्श करती कहीं-कहीं प्रकाशित होती रहती थीं। किन्तु, जनसत्ता के एक अंक में मराठी कवि भुजंग मेश्राम की कविता छपने के बाद आलोचकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। अरावली उद्‌घोष इस सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ प्रकाशित कर रहा था। पहल में बाहरू सोनवणे का एक लम्बा आलेख आदिवासी साहित्य के बारे में छपा। लेकिन हिन्दी क्षेत्र में राजस्थान के आदिवासी साहित्यकार ही सक्रिय थे। झारखंड में जिस प्रकार की आँच राजनीति में रही वैसा उत्ताप आदिवासी साहित्यकारों में कम रहा या कहें इसकी चर्चा कम की गयी। लेकिन, यह उत्ताप आदिवासी भाषाओं में उभर रहा था। जंगल पहाड़ों की पीड़ा को गीतों के माध्यम से हमारे लोकगायक व्यक्त रहे थे।

इससे अलग आदिवासी साहित्य पर छोटे–बड़े लेख विभिन्न पत्रिकाओं में स्थानीय एवं राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में छपने लगे थे। इसी प्रकार का एक लेख हंस में विद्याभूषण का साहित्य में आदिवासी जीवन के बारे छपा जिसमें आदिवासी, गैर–आदिवासी लेखकों की विभिन्न रचनाओं का विवेचन किया गया था। लेकिन आदिवासी साहित्य पर गम्भीर चर्चा युद्धरत आम आदमी द्वारा दो विशेषांक प्रकाशित किये जाने के बाद ही हिन्दी साहित्य–जगत में चर्चा हो सका। इसी तरह आदिवासी जीवन पर लिखे उपन्यासों के बारे वीरेन्द्र यादव का एक विस्तृत आलेख पुनर्प्रकाशित आलोचना (अंक 6) में भी प्रकाशित हुआ। गिरिराज किशोर सम्पादित अकार (अंक 5) में आदिवासी कवियों की कविताएँ प्रेम सिंह की टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुए। इसके बाद राघव आलोक के सम्पादकत्व में प्रकाशित दस्तक में आदिवासी साहित्य पर आदिवासी, गैर–आदिवासी लेखकों को प्रमुखता के साथ छापा गया। कथादेश में आदिवासी साहित्य के बारे में विश्लेषणात्मक टिप्पणी प्रकाशित हुई। अरावली उद्घोष में आदिवासी में निरन्तर आदिवासी साहित्य के बारे प्रकाशित किया जाता रहा है। प्रभात खबर जैसे स्थानीय अखबारों ने समय–समय पर आदिवासी साहित्य पर महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित किया है। इस तरह हम देखते हैं कि पिछले कुछ वर्षों से लगातार आदिवासी साहित्य के बारे में देश की छोटी–बड़ी पत्रिकाओं में चिन्तन–मनन होता रहा है। यानी पूरे हिन्दी–जगत में आदिवासी साहित्य के प्रति उत्सुकतापूर्ण विचार विमर्श आरम्भ हो चुका है। साथ ही देश की राजधानी सहित देश के कई हिस्सों में आदिवासी साहित्य के बारे कई विचारगोष्ठी एवं सम्मेलन आयोजित किये गये हैं।

आदिवासी साहित्य, साहित्य की पूर्णता की खोज में उठाया गया एक सशक्त कदम

फिर भी लोग पूछते हैं आदिवासी साहित्य क्यों? जैसा कि कोई भी नया विचार आने पर ऐसे लोग अक्सर पूछते हैं इसकी जरूरत क्यों? उत्तर है मनुष्य विकासशील है। वह अपने हर तरह के विकास के लिए तरह–तरह के आविष्कार करता रहता है। जीवन को सुखमय बनाने के लिए विभिन्न कल–पुर्जों से लेकर अनेक तरह के तीव्रगामी उपकरण जो उसे सुविधापूर्वक जीने की सहूलियत प्रदान करते हैं। आप देखते हैं कि इन उपकरणों का आविष्कार उन स्थानों में होता है जहाँ इसकी आवश्यकता होती है यानी उस उपकरण के आविष्कार से उस समुदाय विशेष को तरक्की करने में सहायता मिलती है। हमारा काम 60–70 किमी. से चलने वाले वाहन से हो सकता है, लेकिन 300–400 किमी. की गति से चलने वाले वाहन से लेकर बैटरी या सौर ऊर्जा से चलने वाले 30–40 की गति वाले वाहन भी उपलब्ध हैं। इन सबकी उपयोगिता अलग–अलग तरीके से विभिन्न स्थानों में होते हैं। लगभग इसी तरह समाज में भी हर स्तर पर लोग भिन्न भौगोलिक, सांस्कृतिक, भाषिक, सामाजिक परिस्थितियों में रह रहे होते हैं। इन्हें अपनी–अपनी जरूरतों के अनुसार अलग–अलग खान पान, रहन–सहन, जीने के तरीके, भाषा

अपनाने होते हैं। चूँकि सभ्य या शिष्ट कहा जाने वाला साहित्य आदिवासी जीवन एवं समस्याओं के बारे अन्तरंगता एवं आत्मीयता से देख नहीं पाता, क्योंकि वह उस परिवेश से परिचित नहीं होता। अत: स्वाभाविक ही है वह कई प्रकार के पूर्वाग्रहों से ग्रसित हो आदिवासी समाज को देखता और उसी प्रकार चित्रित भी करता है। ऐसे में समय आ चुका है कि आदिवासी साहित्यकार अपने संसार को और सभ्य कहे जाने वाले संसार को देखे और समझे। क्योंकि साहित्य-सृजन का यह प्रयास एक नया आविष्कार करने जैसा है जो वैचारिक तकनीक का नया उपकरण समाज को देता है जिससे समाज के अन्तर्विरोधों को हम बारीकी से देख पाते हैं। मानसिक रूप से एक कदम और ऊँचे होते हैं। नये एवं बेहतर ढंग से जीना सीखते हैं। साहित्य इन विभिन्न स्थितियों का आकलन करता है और आदिवासी साहित्य भी यही कर रहा है। समाज को, देश को, दुनिया को बेहतर बनाने की आकांक्षा इस साहित्य में भी है।

इसका एक दूसरा पक्ष भी है जब कोई पढ़-लिखकर प्रगति करता है तो वह वैचारिक रूप से भी खुद को व्यक्त करना चाहता है। जैसे समाज में किसी प्रकार के परिवर्तन होने के कारण किसी समाज में कई प्रकार के वैचारिक परिवर्तन होते हैं। परिवर्तन का यह दबाव समाज में नये विचार एवं नये साहित्य को जन्म देता है। आज आदिवासी साहित्य की बात की जा रही है तो यह भी इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही है। क्योंकि एक आदिवासी आज देखता है कि साहित्य के दर्पण में उसकी तस्वीर है ही नहीं। अगर कहीं पर है तो उसकी एक धुँधली आकृति-भर। अगर साहित्य के दर्पण में वह अपनी पूरी झलक देखना चाहता है तो इसका उसे अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार सजे-सँवरे और अपने केश-विन्यास की काट-छाँट करे, चेहरे पर रंग-रोगन करे और अपने-आपको विभिन्न ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक, भाषिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्थितियों में देखे कि वह कहाँ है, कैसे है और क्यों है? संक्षेप में कहें तो इन्हीं प्रश्नों से जूझना आदिवासी साहित्य का भविष्य है।

आदिवासी साहित्य के बारे में चर्चा विलम्ब से क्यों?

कुछ वर्षों पहले से दलित-साहित्य की चर्चा की जा रही है। विश्व के पैमाने पर देखें तो नीग्रो साहित्य की व्याख्या प्रस्तुत की गयी। इसी तरह आप देखें कि आधुनिक भारतीय भाषा के साहित्य का विकास पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से पुराना नहीं है। स्पष्ट है जब एक समुदाय साक्षर होता है, सजग होता है तब वह कई तरीके से कई समस्याओं आदि के विषय में सोचना आरम्भ करता है। आदिवासी समाज चूँकि अन्य समाजों के मुकाबले कहीं पर देर से साक्षर हुआ, अत: इस समाज के साहित्य की चर्चा भी देर से ही सही लेकिन हो रही है।

आदिवासी साहित्य के विरोधी कौन हैं? इसका जवाब क्या है?

कई लोग न केवल आदिवासी साहित्य या दलित साहित्य बल्कि साहित्य में

उभरती किसी भी नयी प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। यह उनका सीमित नजरिया है। लोकतन्त्र, समग्र समाज का विकास चाहता है। अतः तमाम तरह के विचारों को खुले मन से देखने-परखने की आवश्यकता है। आदिवासी साहित्य लोकतन्त्र के एक सार्थक पहलू के रूप में भी उभर रहा है। क्योंकि आदिवासी साहित्य आत्मसम्मान का संघर्ष मात्र नहीं है। इसमें विकास से विस्थापित, जीवन के आँसू या दर्द-भर नहीं है बल्कि विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितियों से उपजे अन्याय और उत्पीड़न के प्रति विरोध है, संघर्ष की चेतना है। विकास, विस्थापन, कहीं पर पिछड़ जाने या हार जाने के बावजूद धूल झाड़कर उठ लेने के बाद पुनः संघर्ष करने की प्रबल आकांक्षा भी है। जीवन को हर तरीके से बेहतर बनाने की जबरदस्त ललक है। जंगल, पहाड़ की हरियाली, खेत-खलिहान के अन्न बचाने, नयी परिस्थितियों में खुद को खोजने एवं परिभाषित करने की आकांक्षा इसमें समाहित है। जन, जल, जंगल, जमीन, जमीर के प्रश्नों को अपने लिए सीमित न कर देश, दुनिया से आदिवासी साहित्य ने जोड़ा है। फिर इसकी दृष्टि संकुचित कैसे हो सकती है? अतः कहा जा सकता है आदिवासी साहित्य अपनी व्यापकता में अपने जीवन-शैली की सीमा से परे उन हर मानवीय पक्षों, संघर्षों एवं संवेदनाओं को जगाता है, झिंझोड़ता है, ललकारता है, जो किसी कारणवश जबरन सुला दिये गये हैं, दबा दिये गये हैं या उपेक्षित कर दिये गये हैं। अतः इसमें हर अमानवीय और असंवैधानिक पहलुओं के हनन के प्रति स्वतःस्फूर्त विरोध है।

किसी भी साहित्य की आरम्भिक रचनाएँ उस भाषा के लोकगीत हैं। अतः आदिवासी साहित्य का एक हिस्सा लोकगीतों के माध्यम से गाँवों में माँदर की थापों के साथ जीवित रह सकता है और दूसरा हिस्सा शहरीकरण से प्रभावित आज की तरह शीत-ताप नियन्त्रित सभा कक्षों में बहस का मुद्दा बन विकास कर सकता है। साहित्य सृजन के ये दोनों प्रयास जिस दिन जिस बिन्दु पर मिलेंगे उसी दिन से आदिवासी साहित्य का विकास अपनी चरम की ओर जायेगा। अगले पाँच से तीस वर्षों तक आदिवासी साहित्य के विकास गति काफी तीव्र होगी और सम्भव है विश्व-स्तर पर भी चर्चित हो। लेकिन सबसे बड़ी बात है कि जैसे ही आदिवासी साहित्यकार को अपनी अन्तर्शक्ति का ज्ञान होगा वह बहुत तेजी से जीवन से जुड़ी ऐसी रचनाएँ समाज को, देश को देगा जो आज तक लिखी नहीं गयी हैं, इस बारे में पूरी तरह आश्वस्त हुआ जा सकता है। अतः आदिवासी साहित्य की भले अभी चर्चा न हो, लेकिन निकट भविष्य में तमाम उपेक्षाओं के बाद भी यह साहित्य में चर्चा का प्रमुख केन्द्रबिन्दु अवश्य बनेगा। अपने वैचारिक प्रश्नों के लिए भी उसे जूझना पड़ेगा। यहाँ मैं एक शब्द जंगल और एक घटना सूनामी की चर्चा आदिवासी जीवन-सन्दर्भ में करना उपयुक्त समझ रहा हूँ। जंगल जो आदिवासियों का घर है इनके जीवन का अनिवार्य अंग है आश्चर्य है कि उसका नकारात्मक पक्ष ही सभ्य समाज ने विकसित कर दिया है और आज हम भी जंगल के उसी सभ्य अर्थ का प्रयोग कर रहे हैं। प्रश्न है क्या आदिवासी भी जंगल शब्द का वही

अर्थ अपनायें जो सभ्य समाज ने विकसित किया या जंगल शब्द का सम्मानजक अर्थ तलाशें? दूसरा शब्द है सूनामी। आप सभी ने देखा कि कुछ महीने पहले आधुनिक संचार सूचनाओं से लैस समाज सूनामी के कहर से बचने के लिए कुछ नहीं कर सका और हजारों लोगों की मौत हुई। लेकिन, क्या इस बीच आपने एक समाचार पर ध्यान दिया? जिसमें बताया गया कि सूनामी के कहर से अंडमान के आदिवासियों की कोई मौत नहीं हुई और वे सभी जीवित हैं। पता करने पर मालूम हुआ कि सूनामी आने के पहले वे समुद्र एवं समुद्री जीवों के बदले व्यवहार को तथा अन्य प्राकृतिक हलचलों से जान गये कि खतरा आने वाला और वे दूर अन्दर के जंगलों में चले गये और अपनी जान बचायी। भले आधुनिक संचार सूचनाओं से आदिवासी लैस नहीं थे, लेकिन वे प्रकृति को पढ़ पाने का ज्ञान रखने के कारण अपनी जान बचाने में सफल हुए। ऐसे ही बहुत सारे अनुभव आदिवासियों के पास हैं, जिनसे देश-दुनिया को परिचित कराया जा सकता है। वैसे आदिवासियों को सदा अज्ञानी ही माना जाता रहा है। एकलव्य का अँगूठा काट लिया गया, लेकिन उनके वंशज आदिवासियों ने तीर चलाने का नया तरीका ढूँढ़ लिया। अक्षर-ज्ञान के अभाव में वे जरूर अज्ञानी कहे गये हैं। लेकिन अब वे कलम से भी तीर चलाना सीख रहे हैं और बहुत जल्द वे इस कला में भी पारंगत हो जायेंगे। अत: सम्भव है दलित साहित्य में अनुभव की प्रामाणिकता का जो प्रश्न उठाया जाता है यहाँ भी उठाया जाय। बहुत सम्भव है पहला सवाल ही लोग पूछें कि आदिवासी साहित्य की बात ही क्यों की जा रही है? दूसरा सवाल पूछा जा सकता है आदिवासी साहित्य किसे माना जाय? इन सवालों का जवाब अधोलिखित कुछ बिन्दुओं पर निर्भर करेगा कि–

1. आदिवासी समाज में साक्षरता के साथ अपने अस्तित्व के प्रति कितनी संवेदनशीलता बढ़ेगी।
2. आदिवासी लेखकों को चाहे वे मूलत: आदिवासी भाषाओं में या आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिख रहे हैं, उन्हें समाज किस तरह अपनाता है या वे समाज में अपनी कितनी उपयोगिता सिद्ध कर पाते हैं।
3. आदिवासी भाषाओं की किताबें अपने कितने पाठकों तक पहुँचती हैं। (इसके लिए आवश्यक है किसी बड़े प्रकाशक की प्रतीक्षा किये बगैर अपना प्रकाशन आरम्भ करने की सोचें और किताबों का नियमित प्रकाशन सहयोगिता के आधार पर करें। किताबों की कीमत आरम्भ में दस से पचास रुपये के बीच रखें।)
4. बिना सरकारी अनुदान के यदि कोई साहित्यिक सांस्कृतिक संस्था चलायी जा सके तो ऐसे कितने प्रयास किये जा सकते हैं।
5. आदिवासी साहित्यकार जल, जंगल जमीन, जमीर से आगे के सवालों से आगे भी देखने में कितना समर्थ होंगे?
6. देश-भर की विभिन्न आदिवासी भाषाभाषी लेखक संगठन एकजुट होकर अपनी अस्मिता रक्षा हेतु कितना सक्रिय रह पाते हैं।

आदिवासी साहित्य, आदिवासी समाज के कठिन एवं विपरीत स्थितियों से जुड़ी जीवन से सम्बन्धित है अत: स्वाभाविक है मात्र मनोरंजन की गुंजाइश कम और निरन्तर विभिन्न परिस्थितियों से जूझते रहने का चित्रण अधिक होगा। जैसे भिन्न भौगोलिक एवं पर्यावरण की परिस्थिति में पेड़-पौधे एवं जीव-जन्तु जीवित रहते हैं और अपने भौगोलिक क्षेत्र या पर्यावरण से अलग करने पर वे या तो मर जाते हैं या उनके रूप या आकार में परिवर्तन हो जाते हैं। उसी तरह साहित्य से जुड़े प्रश्न भी हैं। हर भाषा या समाज का साहित्य इसी तरह अपने भूगोल एवं मानसिक पर्यावरण में विकसित होता है। जो बाद में अपने से भिन्न परिवेश के साहित्य से संवाद स्थापित कर देश-दुनिया को कुछ कदम आगे ले जाने का भी कार्य करता है। चूँकि आदिवासी साहित्य अपने आदिवासी वातावरण में विकसित होगा इसलिए इसके वे ही उपयुक्त रचनाकार हो सकते हैं, जो खुद उस परिवेश से हैं या उस परिवेश से परिचित है। अत: यह प्रश्न नहीं पूछा जाना चाहिए कि आदिवासी साहित्य में किसे शामिल किया जाय और किसे नहीं। क्योंकि–

इतिहास तुम्हारा
इतिहास के पन्नों पर
गढ़ा नहीं शब्दों में
ना ही दर्ज हो सका है ग्रन्थों में
तुम्हारी विजय गाथाओं और संघर्षों के गवाह
पेड़ हैं, नदियाँ हैं, चट्टानें हैं
पुरखों की आत्माएँ हैं
ससनदिरी हैं
जाहेरथान हैं
तुम्हारे लोकगीत हैं
लेकिन
इन सबकी गवाही
उन्हें नहीं है मंजूर
इसलिए तुम इतिहास के ग्रन्थों में
हाशिये पर डाल दिये गये हो
या कर दिये गये हो उससे बाहर
इससे पहले कि वे पुन: तुम्हारा
अपने ग्रन्थों में दस्यु, राक्षस,
बन्दर, भालू या किसी अन्य जानवर
के रूप में करें वर्णन
तुम्हें अपने आदमी होने की

तलाशनी होगी परिभाषा
उनके सिद्धान्तों, स्थापनाओं के विरुद्ध
उनके बर्बर वैचारिक हमलों के विरुद्ध
रचने होंगे स्वयं ग्रन्थ!

आदिवासी साहित्य के भविष्य के प्रति बेहद आशावान हूँ। और पता नहीं क्यों बार-बार ऐसा महसूस होता है कि भविष्य में साहित्य का नोबेल पुरस्कार अगर भारत के किसी लेखक को मिलेगा तो इसकी सम्भावना अधिक है कि वह कोई आदिवासी या दलित ही होगा, यानी हाशिये पर धकेल दिया गया उपेक्षित समाज का कोई लेखक। यह इसलिए कि आदिवासी साहित्य या इसी प्रकार का लेखन, जीवन की समग्रता में आदमी होने की नयी परिभाषा की खोज कर रहा है।

अप्रैल 2005

भाषा की विभिन्न ग्रन्थियों में उलझे लोगों को देख, सुन और पढ़कर

हिस्ट्री चैनल हिन्दीते केनो शीर्षक से प्रसिद्ध बँगला लेखक सुनील गंगोपाध्याय ने आनन्द बाजार पत्रिका के रविवारीय अंक दिनांक 20.04.04 में अपने विचार व्यक्त किये जिसका हिन्दी अनुवाद प्रभात खबर के 28.04.04 में प्रकाशित किया गया। बँगला लेख के मुख्य अंश में बताया गया कि इतिहास एवं ज्ञान-विज्ञान विषयक अनेक कार्यक्रम विदेश से आते हैं। इनका हिन्दीकरण रीति के अनुसार गलत है। इनका बँगलाकरण भी गलत है। यानी ऐसे कार्यक्रम अँग्रेजी में रहें तो ठीक।

अगर लेख का शीर्षक होता हिस्ट्री चैनल अँग्रेजी में रहने दें यानी अँग्रेजी चैनल अँग्रेजी में रहने दें जैसा कुछ शीर्षक रहता तो शायद कुछ कहना उचित नहीं होता। चूँकि शीर्षक है हिस्ट्री चैनल हिन्दी में क्यों? तो इस पर प्रसंगवश कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त करना और कुछ तकलीफें बताना आवश्यक हो गया है ताकि विकसित कही जाने वाली इन भाषाओं के सन्दर्भ में उन भाषा-भाषियों के कष्टों को भी समझा जा सके, जिसके बोलने वाले कम हैं और आधुनिक भारतीय भाषाओं की गिनती में न होकर असभ्य या पिछड़ी भाषा नहीं, बोली मानी जाती हैं। लेकिन, पहले उन सन्दर्भों की चर्चा कर ली जाय।

गंगोपाध्याय जी की अँग्रेजी अच्छी है, वे हिन्दी भी जानते हैं और उत्तर भारत में अपना काम हिन्दी में चला लेते हैं जैसा कि उन्होंने अपने आलेख हिस्ट्री चैनल हिन्दीते केनो में बताया है। निश्चय ही इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। मेरे लिए ईर्ष्या के पात्र भी हैं, क्योंकि वे अँग्रेजी जानते हैं। मेरे लिए हर अँग्रेजी जानने वाला कौतुक का विषय

है। चूँकि मैं हिन्दी किसी तरह सीख पाया हूँ और अब भी हिन्दी लिखने या बोलने में घबराहट ही होती है। स्वाभाविक है कि मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। लेकिन बिहार, छत्तीसगढ़ में निवास कर रहे अनेक आदिवासियों की तरह मेरी भाषा भी हिन्दी मान ली गयी है या कहें मनवा ली गयी है, यह अलग बात है। स्कूल में हिन्दी मुश्किल से ही लिख पाता था और अब भी कठिनाई का अनुभव करता हूँ। लेकिन हिन्दी लिखता हूँ। अँग्रेजी टूटी-फूटी बोल लेता हूँ। बँगला निजी प्रयास से कामचलाऊ सीख लिया है। कुछ आदिवासी भाषाएँ जानता हूँ। एक तो अपनी मातृभाषा होने के नाते और कुछ उस परिवेश के प्रभाव से सीखना पड़ा। साहित्यिक उड़िया, थोड़ी-बहुत समझ लेता हूँ। लेकिन ये दुर्भाग्य से अँग्रेजी इतनी नहीं जानता कि साइन्स व टेक्नोलॉजी से सम्बन्धित वे सारी बातें समझ सकूँ जैसा गंगोपाध्याय जी समझ लेते हैं। हिन्दी में डब कार्यक्रमों को देख मुझे भी गुस्सा आता है। लेकिन, उससे ज्यादा इन लोगों पर गुस्सा आता है जिन्होंने हिन्दी और भारतीय भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करने लायक नहीं मानते और न इस दिशा में प्रयास करते हैं और जो थोड़े-बहुत कार्य हो रहे होते हैं उसका समर्थन करने के बदले उनकी आलोचना करने में अपनी अँग्रेजी ज्ञान का दम्भ दिखाते हैं। मैं अपनी अज्ञानता के कारण हिन्दी में कभी-कभी चुने कार्यक्रम देखने का प्रयास करता हूँ। लेकिन ये अफसोस जहाँ मैं रहता हूँ अनेक आग्रह के बावजूद डिस्कवरी, नेशनल ज्योग्राफिक और हिस्ट्री चैनल जैसे चैनलों के कार्यक्रम हिन्दी में नहीं दिखाये जाते। अत: ऐसे कार्यक्रम अँग्रेजी से कम और तस्वीरों के सहारे समझने का प्रयास करने के लिए विवश हूँ। जैसा कि बता चुका मेरे लिए हिन्दी या अँग्रेजी समान रूप से कठिन है। फिर भी हिन्दी सीखने एवं सिखाने का प्रयास करता हूँ। चूँकि मेरी भाषा में कई विचित्रताएँ हैं, जैसे मेरी मातृभाषा में ईश्वर एवं पुरुष जाति को छोड़कर सभी प्राणी स्त्रीलिंग पुकारे जाते हैं। अत: मेरी कठिनाई एक बँगलाभाषी से अधिक कौन समझ सकता है? क्योंकि बँगला में भी कुछ इसी तरह की कठिनाइयाँ हैं जहाँ संज्ञा तथा सर्वनाम के लिंग के अनुसार क्रिया नहीं बदलती। ऐसी कई तरह की कठिनाइयाँ हैं जिसमें मैं अभी पाठकों को उलझाना और भटकाना नहीं चाहता। बँगला भाषा में 80 से 90 प्रतिशत शब्द संस्कृत मूल के हैं। हिन्दी में भी ऐसा है, क्रियापद भी समान हैं। मेरी मातृभाषा द्रविड़ भाषा परिवार की बतायी जाती है। यह मैं जान-बूझकर इसलिए बता रहा हूँ कि एक बँगला भाषी, हिन्दी नहीं समझने का दावा करता है तो दूसरी तरफ एक हिन्दी भाषी, बँगला नहीं समझने का, जबकि दोनों, भाषा परिवार की दृष्टि से एक ही परिवार की भाषाएँ हैं और क्रियापदों के भिन्न व्यवहार से दोनों में ज्यादा अन्तर नहीं है। फिर भी मुझे यह देखकर दु:ख एवं आश्चर्य होता है कि दोनों भाषाभाषी एक-दूसरे की भाषा नहीं समझने या कम समझने का दावा करते रहते हैं। जबकि मैं बँगला भी समझ रहा होता हूँ। भारत में मुझ जैसे करोड़ों लोग हैं जिनकी मातृभाषा आधुनिक भारतीय भाषाएँ नहीं हैं। वे कैसे इन भारतीय भाषाओं को समझते हैं या उन्हें इन भाषाओं को समझने में कठिनाई नहीं होती। उनकी इन समस्याओं को

विकसित भारतीय भाषाओं को बोलने वाले कभी ध्यान ही नहीं देते, कष्टकर एवं असह्य स्थिति यह है और अपनी ही सुनाते रहते हैं।

बँगला भाषा मुझे बचपन से अच्छा लगता रहता रहा है। सौभाग्य से बँगला के कुछ प्रमुख हस्तियों से थोड़ा-बहुत परिचय है। अत: बँगला पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है। जब भी अवसर मिलता है बँगला पढ़ने का, जानने-समझने का प्रयास करता रहता हूँ और बँगला अखबार उलट-पुलट लेता हूँ। इसी तरह 21.03.04 को आनन्द बाजार पत्रिका का रविवारीय अंक देखने को मिला जहाँ लिखा था– अबंगाली ऋतुपर्ण– यह शीर्षक देख मुझे तकलीफ हुई। एक बंगाली को अबंगाली क्यों कहा जा रहा है? यह मुझे अच्छा नहीं लगा। जब पूरा इंटरव्यू पढ़ा तो समझ में आया कि उसे अबंगाली क्यों कहा गया? हिन्दी के प्रति ऋतुपर्ण के झुकाव के कारण। क्योंकि अखबार में ऋतुपर्ण का 'रेनकोट' फिल्म के लिए लिखा गया गीत भी बँगला लिपि में प्रकाशित है। इंटरव्यू में फिल्म के अलावा भाषा के बारे में भी बात की गयी है। ऋतुपर्ण ने वहाँ बँगला भाषा की विशेषताओं का उल्लेख किया, साथ ही इसकी भी चर्चा की है कि कैसे उसे बँगला के कुछ वाक्यों के हिन्दी अनुवाद में कठिनाई हुई है। पहला– 'आच्छा तोमाके, रकोम डिप्रेस्ड लागछे केनो?' दूसरा वाक्य है 'मेये होले तो जन्मालो ना महेश दा' ऋतुपर्ण ने इन दोनों वाक्यों के हिन्दी अनुवाद में आयी समस्या के बारे में विस्तार से बताया है। अनुवादक के अनुवाद से वे सन्तुष्ट नहीं रहे। लेकिन इंटरव्यू के अन्त में जो कुछ ऋतुपर्ण ने कहा है शायद वह बंगाली भद्रलोक को मानसिकता वाले साक्षात्कारकर्ता को अच्छा नहीं लगा होगा। उन्होंने राजकाहिनी को हिन्दी में बनाने की भी इच्छा व्यक्त की। क्योंकि इसका परिवेश या कहें सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हिन्दी क्षेत्र है। अन्त में साक्षात्कारकर्ता ने पूछा है– 'जब हिन्दी में कार्य कर रहे हैं तो यह नहीं लगता कि सूक्ष्मता खो गयी है?' इसका उत्तर ऋतुपर्ण ने 'नहीं' में दिया और बताया कि 'भारतीय संस्कृति में कई चीजें कॉमन हैं'। और साक्षात्कार के अन्त में जो कुछ उन्होंने कहा वह ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा– 'असल में हम हिन्दी को एक इन्फीरियर भाषा के रूप में देखते आये हैं। इसे मजदूरों की भाषा मानते हैं, यह कल्चरल सुपीरियारिटी एक फंडामेंटालिस्ट नजरिया जैसा है। बँगला जानना ही असली बात है और वे कुछ नहीं जानते हैं, यह कहना उचित नहीं है।' सम्भवत: इस उत्तर की अपेक्षा साक्षात्कारकर्ता को नहीं रही होगी।

ऋतुपर्ण के इंटरव्यू की चर्चा इसलिए कि उस बँगला अखबार की मानसिकता को समझा जा सके। ऐसा लगता है हिन्दी का प्रशंसक या जानकार होने या इस ओर झुकाव होने से उदार या बर्हिमुखी बंगाली को अबंगाली मान लिया जाता है। यह मानसिकता अखबार के उक्त शीर्षक से भी प्रकट होता है। फिर इसके बाद सुनील गंगोपाध्याय के लेख को पढ़ने से भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह अखबार बंगाली बाजार में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए बीच-बीच में हिन्दी को या इसके समर्थकों को इन्फीरियर साबित करने के मुद्दे उछालता रहता है। शायद यह मध्यवर्गीय बंगाली बुद्धिजीवी के लिए एक आवश्यक मानसिक खुराक देने जैसा है। कुछ उसी तरह जैसे पाकिस्तान एवं

भारत के हुक्मरानों को अपनी गद्दी बचाये रखने के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध बीच-बीच में ऊँगली उठानी पड़ती है। इसी तरह इस बँगला अखबार को बीच-बीच में हिन्दी और हिन्दुस्तानियों (बंगाल में हिन्दी भाषियों को हिन्दुस्तानी कहा जाता है) के लिए कुछ-न-कुछ कहना पड़ता है और वहाँ हिन्दी के लिए प्रशंसा रहे तो बंगाली बुद्धिजीवी के लिए वह अबंगाली हो जाता है। यह कैसा विधान?

आधुनिक भारत का विकास पूर्वी एवं उत्तरी क्षेत्र में कोलकाता के माध्यम से हुआ जिसमें सर्वाधिक लोग बँगला भाषी रहे। क्योंकि अँग्रेजी के माध्यम से आधुनिक ज्ञान, तकनीक सभी बंगाल के माध्यम से देश के उत्तरी एवं पूर्वी क्षेत्रों में प्रवेश कर सके अत: उनका अँग्रेजी ज्ञान स्वाभाविक है। दूसरी ओर हिन्दी भाषी प्रदेशों के लोग अँग्रेजी शिक्षा से वंचित रहने के कारण कोलकाता में बाबू की नौकरी के बदले शारीरिक श्रम से जुड़े कार्यों को अपनाया। आज भी कमोबेश यही स्थिति है। बंगाली के लिए हिन्दीभाषी या तो मजदूर, टैक्सीवाला, ठेलेवाला, चूड़ा-भूँजा बेचने वाला या बहुत हुआ तो पीयून, चपरासी की नौकरी करने वाला हिन्दुस्तानी है या फिर बिजनेस करने वाला मारवाड़ी। दोनों उसकी मानसिकता के विपरीत हैं। इन हिन्दी भाषियों की संख्या कोलकाता में 55 प्रतिशत बतायी जाती है। ऐसे में प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर या बाजार की माँग के अनुसार कोलकाता में ज्ञान-विज्ञान के चैनल हिन्दी में चलाये जाते हैं तो इसमें कोई बुराई नहीं है। हाँ, कोलकाता के आस-पास के इलाकों में जहाँ बँगला भाषी अधिक हैं वहाँ उनकी इच्छानुसार कार्यक्रम होने चाहिए। दूसरे कोलकाता में देखा जाय कि नयी बंगाली पीढ़ी उदारतापूर्वक हिन्दी सीख रही है और पुरानी पीढ़ी के मुकाबले स्वयं को बदल रही है।

ज्ञान-विज्ञान को भारतीय भाषाओं में पढ़ाया जाना चाहिए, इस पर बहसें होती रही हैं और आगे भी होती रहेंगी। लेकिन क्या कभी हमने इस ओर ध्यान दिया है कि हम जो डॉक्टर, आई.टी. इंजीनियर पैदा कर रहे हैं वे विदेशों में एक सफेदपोश कुली ही बन रहे हैं, गोरों के सस्ते मजदूर, जैसा हमारे देश के पुरखे थे। लेकिन क्यों और किसलिए? सिर्फ अपने अँग्रेजी ज्ञान के कारण! मेहरबानी करके इस कड़वे सच को भी जानने का प्रयास करें और भाषाई स्वाभिमान की स्थिति के बारे भी सोचें! इसके बाद अँग्रेजी में ज्ञान-विज्ञान समझते रहें, समझाते रहें किसे आपत्ति होगी? लेकिन इस तरह हिन्दी, अँग्रेजी, बँगला आदि के बहस में देश के 10 करोड़ आदिवासी या अन्य भाषायी अल्पसंख्यक किस भाषा को अपनायें? क्या कभी सभ्य कहे जाने वालों भाइयों ने इस समस्या की ओर भी सोचा है? हिन्दी, बँगला की समस्या की बातें करते कृपया इस मुद्दे को भी पहचानें, समझें। हिन्दी और बँगला के 90 प्रतिशत से अधिक शब्द एक जैसे हैं, उनका क्रियापद का मूल रूप भी समान है तब भी आश्चर्य है कि दोनों एक-दूसरे को न समझने का रोना रोते हैं, यह एक दु:खद पहलू है। जबकि कई आदिवासी जिनकी भाषाओं की शब्दावली, उच्चारण, व्याकरण, परिवेश भी अँग्रेजी या भारतीय भाषाओं से अलग है वह सभ्यता एवं तथाकथित विकास की दौड़ में शामिल होने के लिए कौन

सी भाषा अपनायेगा? किस ओर जायेगा? क्या यह अन्य तमाम तरह के उत्पीड़नों की तरह ही उत्पीड़न का दूसरा रूप नहीं है? देश की भाषायी समस्या को कृपया इस दृष्टि से भी आँकने का प्रयास करें तथा भाषाई सामर्थ्य को किसी की प्रतिभा से न जोड़ें। बंगाल में हिन्दी भाषियों की पीड़ा के बारे डॉ. रामविलास शर्मा (भाषा और समाज) से लेकर कोलकाता के हिन्दी विद्वान अनय (जनसत्ता) एवं डॉ. अमरनाथ (प्रभात खबर में हिकारत की हद शीर्षक लेख में) तक अपनी दु:खद भावनाएँ व्यक्त कर चुके हैं। बँगला भाषियों की व्यथा सुनील गंगोपाध्याय जैसे विद्वान, सम्पादक करते रहते हैं। ऐसे में कृपया बतायें एक आदिवासी या अन्य भाषाई अल्पसंख्यक के ज्ञान की भाषा क्या होगी? और वह क्यों बन्धुआ मजदूरों की तरह सभ्य जनों को पढ़ता रहेगा? सभ्यता के मुख्यधारा में शामिल होने के लिए? या अपने मन में हीन भावना लाने के लिए? या आपके तथाकथित ज्ञान के सागर में डूबकी लगाने के लिए? या अपनी योग्यता की परीक्षा देने के लिए? किसलिए?

भाषा के मामले में हम अब भी कई तरह की संकीर्णताओं से ग्रसित हैं और स्वयं को उदार एवं परिपक्व नहीं कर सके हैं, वे चाहे हिन्दी भाषी हों या अहिन्दी भाषी। दरअसल, आज हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं को बदलते सामाजिक सन्दर्भों, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक सन्दर्भों में नहीं देखते और इसके लिए बस अँग्रेजी के आगे नतमस्तक रहते हैं। यह ठीक है अँग्रेजी का ज्ञान हमें कई प्रकार की उपयोगी जानकारियाँ एवं विवरण उपलब्ध कराता है, किन्तु इसके आगे हम इतने नतमस्तक क्यों हो जाते हैं? क्योंकि हम मानते हैं कि ज्ञान-विज्ञान के पठन-पाठन अँग्रेजी में ही सम्भव हैं! यह सोच भारतीय भाषाओं को बौना तो साबित करता ही है भारतीय आवश्यकताओं के अनुकूल हमारी वैज्ञानिक चेतना को भी दूषित करता है। परिणाम सामने है कि हम अपने वातावरण के अनुकूल महत्त्वपूर्ण तकनीकी या वैज्ञानिक उपलब्धि हासिल करने के लिए भी पश्चिम की ओर ताकते हैं। इस गम्भीर स्थिति को हम नहीं समझते। यह हमारे भाषायी स्वाभिमान को तो मारता ही है। साथ ही इस भाषा से जुड़े ज्ञान एवं अनुभव से भी हमें वंचित कर देता है। अत: भाषिक समस्याओं को आदिवासी, दलित जीवन से जोड़कर न सही भारतीय समाज के ग्रामीण एवं अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों की तकनीकी आवश्यकता के अनुकूल देखना और कुछ कर दिखाना आवश्यक हो गया है, क्योंकि देश की आधी से अधिक आबादी इन्हीं क्षेत्रों में रहती है। यह कार्य हमारी समझ को विस्तृत दृष्टि भी दे सकता है और हम अपने सीमित नजरिये से ऊपर समस्त भाषाओं के रूपाकारों को, उन भाषाओं के ज्ञान एवं अनुभव को समझने में अधिक समर्थ हो सकते हैं। समस्त भाषाओं की आकांक्षाओं को समझ सकते हैं। सब कुछ हमारा ही श्रेष्ठ है जैसी हठधर्मिता किसी भी भाषा को संकीर्ण ही बनाती है। लेकिन ये जब हिन्दी एवं बँगला के विद्वान इस तरह का नजरिया रखने लगते हैं तो किसकी ओर किस उम्मीद से देखा जाय?

मार्च 2005 यु. आम आदमी

सन्ताली रंगमंच : आदिवासी समस्याओं को समझने का सार्थक प्रयास

'नुक्कड़ नाटक' आदिवासी समाज को चेतनशील बनाने मे कितना सार्थक माध्यम हो सकता है, यह अनुभवगत चौदह अप्रैल को करणडीह, जमशेदपुर में 'छठा अखिल भारतीय सन्ताली नाटक प्रतियोगिता' देखकर हुआ।

प्रतियोगिता का सफल आयोजन कर रहे हैं 'आदिवासी यूथ क्लब', करणडीह के कुछ उत्साही नवजवान पिछले छह वर्षों से लगातार इतना बड़ा आयोजन निश्चय ही प्रशंसनीय है।

प्रतियोगिता मे तीन राज्यों बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा से कुल पन्द्रह नाट्य दलों ने हिस्सा लिया जबकि कुल प्रविष्टियाँ चालीस के लगभग थीं। रात्रि दस बजे से प्रात: छह बजे तक लगातार इन पन्द्रहों नाटकों को तीन हजार से अधिक दर्शकों द्वारा पूर्णत: शान्त मुद्रा में देखना जहाँ एक ओर सुखद अनुभव रहा वहीं दूसरी ओर यह तय भी उभरकर सामने आया कि आदिवासी बुद्धिजीवी वर्ग निश्चय ही अपने समाज की बुराइयों के खिलाफ लड़ रहा है एवं उसके विरुद्ध जनमत तैयार कर रहा है। प्रतियोगिता में शामिल सभी नाटक अपने स्वरूप एवं चरित्र में नुक्कड़ नाटक के ज्यादा करीब रहे। मंच चारों ओर से खुला था और कलाकार दर्शकों से चारों ओर मुखातिब होते थे। सभी नाट्य मंडलियों की अपनी वाद्य मंडली भी थी और नाटक के बीच में किसी स्थिति को नृत्य के माध्यम से दर्शाया जाता था। साथ ही नाटक का सन्देश या उपसंहार भी नृत्य एवं गीत के माध्यम से प्रस्तुत किया गया।

निश्चय ही सभी नाटक आदिवासी जीवन से सम्बन्धित थे और उन्हीं की समस्याओं पर केन्द्रित थी। नाटकों में जहाँ एक ओर आदिवासी समाज की बुराइयों पर तीखा प्रहार था वहीं दूसरी ओर आदिवासियों के गौरवपूर्ण, लड़ाकू स्वाभिमानी, स्वतन्त्रता प्रेमी एवं जुझारू इतिहास को भी नाटकों के माध्यम से दर्शाया गया। पहले प्रकार के नाटकों में प्रथम पुरस्कार प्राप्त नाटक 'आर्खारञ हांडी' (बेचा जाने वाला हड़िया) सहित 'घारोच बैरी' (घर का शत्रु) 'खाला : लाडू ते जाति बोडे' (एक दोनों लड्डू से जाति की बदनामी) जैसे नाटक 'हंड़िया' से समाज में होने वाली बुराइयों को सफलतापूर्वक दिखाती है एक युवती 'हंड़िया' बेचते किसी तरह चारित्रिक पतन के गर्त में गिर जाती है। यह विषय था नाटक 'आर्खारञ हांडी' का। इसी तरह 'घारोच बैरी' नाटक में एक शराबी पिता की कहानी है, जो शराब की बुरी लत के कारण अपनी सारी सम्पत्ति से हाथ धो बैठता है जब उसका इकलौता पुत्र मरणासन्न अवस्था में पड़ जाता है तब उसकी आँखें खुलती हैं।

दूसरे वर्ग में 'हूल सेंगेल' (क्रान्ति की मशाल) एवं 'हिड़ीग बोयहा किन' (खोये हुए दो भाई) जैसे नाटक थे। 'हूल सेंगेल' में सिद्धू-कान्दू के अँग्रेजों के खिलाफ संघर्ष की प्रस्तुति थी। दूसरे नाटक 'हिड़ीग बोयहा किन' में दो भाइयों के विद्रोह की कहानी

है। ये दोनों भाई डीबा और किसुन सरायकेला के राजा, जो उन पर अँग्रेजों के इशारे पर जुल्म ढा रहा था– के विरुद्ध वीरतापूर्ण लड़ाई लड़ते हैं और आदिवासियों को शोषण एवं जुल्म के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए संगठित करते हैं।

आदिवासी कितने स्वाभिमानी रहे हैं, इसका उदाहरण प्रस्तुत किया द्वितीय पुरस्कार प्राप्त नाटक 'लाज् चे सेंणा इज्जोत' (पेट बड़ा कि इज्जत) ने। गाँव का मुखिया धन के लालच में आकर अँग्रेजों से मिलकर अपने प्रभाव से गाँववालों को विवश करता है कि वे उनकी गुलामी स्वीकारें। किन्तु एक परिवार उनकी बात नहीं मानता और अपने स्वाभिमानी एवं जुझारू व्यक्तित्व के कारण सारे समाज को इज्जत से जीने की सीख देता है।

''खाला: लाडू ते जाति बोडे'' में पूरे 'बोल्डनेस' के साथ बहुत ही कड़वी बातें दर्शकों के समक्ष रखी गयीं। गाँव के पुजारी की बेटी यौन-व्यापार में लिप्त है। इसी से उत्पन्न अनेक समस्याएँ समाज में आती हैं जिसके दुष्परिणामों की ओर इशारा इस नाटक का उद्देश्य था।

नाटक ''जूरी खातिर'' (प्रेमिका के लिए) में यह कहने का प्रयास किया गया कि आदमी किस तरह औरत के मायाजाल में फँसकर अनेक दुर्गुणों का शिकार हो जाता है।

प्रतियोगिता के सभी नाटकों को देखकर यह तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि सन्ताल नाटककार अपने धर्म, संस्कृति एवं भाषा के लिए साहित्यिक भूमि पर पूरी तरह सजग हैं। उनमें यह चेतना पूरी तरह विकसित हो चुकी है। प्रतियोगिता के अधिकांश नाटकों में 'हंड़िया' की बुराई देखते मेरे एक सन्ताल मित्र ने कहा था– ''यह ठीक है कि हमें हंड़िया के खिलाफ लड़ना चाहिए। लेकिन कोई नाटककार यह बताने का प्रयास आखिर क्यों नहीं कर रहा है कि हमारी माताएँ-बहनें हड़िया बेचने को मजबूर क्यों हैं?'' यह एक वाजिब प्रश्न था। इसका उत्तर एवं इसी तरह के अन्य अनेक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास आदिवासी नाटककारों को अवश्य ही करना चाहिए।

एक प्रश्न मेरी तरफ से भी कि क्या ऐसे उदाहरण से आदिवासी समाज की अन्य समुदाय भी प्रेरणा ग्रहण करेंगी?

सन् 1983

गीत संगीत

लोकगीतों में बारिश और जनभावनाएँ

बारिश का मौसम केवल हिन्दी फिल्मों में हीरो-हीरोइनों को भीगते, नाचते-गाते दिखाने के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि सम्पूर्ण भारत में कृषि-कार्यों को आगे बढ़ाने में भी इसकी अहमियत है। हर छोटी-बड़ी भाषाओं में बारिश को लेकर अनेक गीत लिखे गये हैं। मराठी भाषा, में बारिश को लेकर अनेक गीत हैं तो बँगला में 'बृष्टि पोड़े टापर टुपूर' से हिन्दी क्षेत्र के लोग अनजाने नहीं हैं। शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जहाँ बारिश को लेकर कुछ गीत न गुनगनाया गया हो। झारखंड में बारिश को लेकर अलग रोमांच है। धान कटने के बाद 'कोड़ा राजी' गये ग्रामीण गाँव लौटने लगते हैं और बारिश का मौसम आने से पहले ही धान की खेती के लिए जुट जाते हैं। पहले बड़ी संख्या में ग्रामीण, धान कटने के बाद खाली समय में मजदूरी के लिए कोलकाता, बनारस, इलाहाबाद के ईंट भट्ठों से लेकर बंगाल, आसाम के चाय बागानों में कार्य करने चले जाते थे। निश्चय ही इन ग्रामीणों में आदिवासियों की संख्या सबसे अधिक हुआ करती थी। झारखंड के लोकप्रिय नागपुरी गायक 'मधु मंसूरी हँसमुख' के प्रसिद्ध गीतों में से एक 'कोड़ा मइत जाबे चाँदो' में जिस 'चाँदो' को 'फागु' कोड़ा जाने से रोकता है, इस मौसम में वह उसका इन्तजार कर रहा होता है। उसकी वापसी पर उसने अपने भावों को प्रकट करते क्या गीत गाये होंगे। कहा नहीं जा सकता, लेकिन एक नागपुरी लोकगीत के इन दो पंक्तियों में जो कुछ कहा गया है, वही जरूर कहा होगा– 'बरसो रे काली बदरिया, बरसो के मना करय। आयो न मना करय, बाबा न मना करय। बरसो, के मना करय' (बरसो रे काले बादल तुम्हें बरसने से कौन मना करता है। न माँ मना करती है और न पिताजी। बरसो! तुम्हें बरसने से कौन मना करता है) आदिवासी भाषाओं के लोकगीतों में बहुत कम शब्दों में बहुत ही सरल ढंग से विभिन्न मन:स्थितियों को कहा गया है। एक उराँव गीत में बारिश ने क्या कहर ढाया। बानगी देखे– 'परता मईंया पाड़कन जुड़ी, खेखेल किइया मेन्देरा का मला? मेन्देरा हूँ मेन्देरा, मला हूँ मेन्देरा, आसिम का ने दुरो बाचअन। (पर्वत के ऊपर मैंने गाना गाया, हे प्रिय, नीचे तुमने सुना या नहीं? मैं सुनी भी और नहीं भी सुनी, वही है या कोई और? मैं यही सोचती रही) कारण यही लगता है कि तेज बारिश की वजह से वह, अपने प्रिय की आवाज पहचान न सकी। देखा आपने। बारिश ने बेचैन प्रेमी पर कैसे कहर ढाया।

सरलता के अलावा कई गीतों में शुद्ध देसी तुलना भी गजब है। बारिश के आते ही मछलियाँ ऊपर के इलाकों में चढ़ने लगती हैं–

एका कोंड़ा नू चेंप पूईंया लगी, झिला इंजो अरेगा लगी।
पोठी इंजो बझेरा लगी

पूरब कोंड़ा नू चेंप पोंईया लगी पूठी इंजो बझेरा लगी
झिला इंजो मल्ली, पूठी इंजो मल्ली यो
निंग खेड़ो मलकारनिम बरआ लगी।

(किस कोने में बारिश हो रही है, झिला मछली ऊपर जा रही है। पोठी मछली फँस रही है। पूरब कोने में बारिश हो रही है। पोठी मछली फँस रही है। यह झिला मछली नहीं है। पोठी मछली नहीं है माँ। यह तो आपकी बहू है जो लहराती हुई आ रही है) यहाँ नवविवाहिता (बहू) की तुलना मछली से की गयी है जो बारिश शुरू होने पर बेचैनी से अपने पिया के घर जा रही है।

सन् 2010

बचेगा माँदर, तो बचेंगी सुरीली आवाजें, बचेगी भाषा

एक उराँव लोकगीत में माँदर की महत्ता का वर्णन करते भाव व्यक्त किया गया है कि माँदर का फूट जाना, अपनी प्रियतमा की मृत्यु होने जैसे असह्य दुःख के समान है। लेकिन आज के सीडी/कैसेट की सबसे बड़ी मार लोकगीतों एवं माँदर पर ही पड़ी है। शहरी क्या अब कस्बेनुमा गाँवों में भी अभिभावकों को इतनी फुरसत नहीं है कि बच्चों को ढोल, माँदर, बाँसुरी का महत्त्व बतायें। वे तो अपने बच्चों को 'शीला जवान हो गयी' या 'मुन्नी बदनाम हो गयी' गानों पर थिरकता, नाचता देख खुश हैं। अतः आज के उन शहरी आदिवासी युवाओं को माँदर के बारे इस भावना को समझने में कठिनाई है। उन्होंने उधार के गीतों एवं धुनों पर किसी तरह नाचना और थिरकना सीख लिया है। पारम्परिक गीतों में गायक-लीडर द्वारा एक-एक पंक्ति गाना और साथी नर्तक-गायकों द्वारा गीत की पंक्तियों को दुहराते हुए धीरे-धीरे माँदर, ढोल, नगाड़ों के ताल पर सामूहिक रूप से झूमते हुए, कदम मिलाते, बीच-बीच में चुहल भरे जोशीले विचित्र किलकारियों को सुन सकने का अनुभव उसे नहीं है।

पद्मश्री रामदयाल मुंडा कहा करते थे– 'जे नाची, से बाँची' यानी जो नाचेगा, वह बचेगा। लगता है आदिवासी युवा पीढ़ी ने इसका अक्षरशः पालन कर लिया। वह सीडी पर बजते गीतों पर नाचकर, गाना और बजाना भूल रहा है। दरअसल, मुंडा जी के उक्त विचार का मतलब यह था– 'जो नाचेगा, बजायेगा और गायेगा वह बचेगा।'

वैसे माँदर, नगाड़ा, बाँसुरी कुछ परिवर्तन के साथ विश्व के हर महादेश में उपलब्ध हैं। जापान में नगाड़ों का आज भी विभिन्न समारोहों में उपयोग किया जा रहा है। ढोल, माँदर आदि का अभिन्न रिश्ता आदिवासी जीवन से है। असमिया संस्कृति में ढोल का लगभग यही महत्त्व है। ढोल बजते ही जैसे बिहू गीत झरने लगते हैं, वैसे ही माँदर बजते ही जीवन की अनेक भावनाएँ गीतों के माध्यम से बह निकलती हैं। लेकिन ये आज आधुनिकता के प्रभाव से उसके कंठ से निकलते सुरीले गीत गायब हो रहे हैं। लोकगीत

गायब हो गये हैं। अब सीडी के माध्यम से बजते गीतों पर थिरकने का आनन्द तो है लेकिन गाने का आनन्द नहीं है। ऐसे में लगता है गले से छिन रही आवाज आने वाले संकट की शुरुआत है। किसी भाषा के मारने के लिए धीमा जहर देने जैसी प्रक्रिया है यह।

ऐसे में क्षेत्रीय एवं जनजातीय भाषा विभाग से जुड़े तमाम प्राध्यापकों एवं छात्रों के अलावा संगीतप्रेमियों, संस्कृतिकर्मियों का तथा संवेदनशील, जागरूक प्रबुद्ध युवाओं का यह कर्तव्य बनता है कि वे गले से गायब होती अपनी मातृभाषाओं के गीतों को बचाने के सार्थक पहल करें। वर्तमान में युवावर्ग को सीडी-कैसेट के गीतों पर, मुँह से बिना एक शब्द निकाले सुन्दर गुड़ियों की तरह कतारबद्ध और मूक थिरकते देख लगता है वे बेजुबान रोबोट बनते जा रहे हैं। फलत:, भावनाएँ एवं विचार कुन्द हो रहे हैं। सम्भवत: इसीलिए आदिवासी युवा अब ज्यादा यान्त्रिक ढंग से सोचने लगा है। लोग किसी के धुनों पर नाच रहे हैं और धुन के बन्द होने पर उनके कदम भी रुक जा रहे हैं। ऐसे में सवाल है क्या भविष्य में 'माँदर' और पारम्परिक अन्य वाद्य यन्त्र बचे रह पायेंगे? क्या गले की सुरीली आवाजें बची रहेंगी? फलत: नाचते हुए कुछ गीत बना लेने की प्रतिभा भी कुंठित हो रही है।

आधुनिक तकनीक हमें जहाँ बहुत कुछ देता है वहीं दूसरी ओर हमसे बहुत कुछ छीन भी लेता है। जैसे मोबाइल फोन के आने से चिट्ठी लिखने जैसी सुन्दर कला गायब हो गयी। इसी तरह राँची और आस-पास के ग्रामीण एवं आदिवासी इलाकों में पहले कैसेट और अब सी.डी. के धुनों पर त्योहारों, शादी-ब्याह में लोगों को मात्र नाचते, झूमते देख लगता है कि अब गीत गाने का जमाना नहीं रहा। 'तथाकथित आधुनिक नागपुरी गीतों' के प्रभाव से 'पारम्परिक नागपुरी गीत' एवं 'अन्य आदिवासी/क्षेत्रीय भाषाओं के गीत', प्रयोग में और बाजार में कम हो गये हैं। झारखंड में यह एक नया चिन्ताजनक पहलू है।

इसलिए इस खतरे से वाकिफ लोगों के समक्ष अपनी मातृभाषाओं के गीतों को बचाने की चुनौती खड़ी हो गयी है। वे गिटार बजायें, ड्रम बजायें या ढोल, नगाड़ों के साथ माँदर की थाप पर गायें, नाचें। वे असमंजस में न होकर अधिकांश नकली आधुनिकता के साथ हैं। आधुनिकता के कहर से स्वर्णरेखा, मयूराक्षी, कोयल, दामोदर, कारो, शंख, कन्हर आदि नदियाँ तो सूख ही चुकी हैं। क्या इस आधुनिकता का दुष्प्रभाव इतना गहरा है कि यह संवेदनशील, सजग, जागरूक एवं प्रबुद्ध युवाओं के होते हुए भी हमारे गले की सुरीली आवाजों के झरने भी छिन जायेंगे? सम्भवत: नहीं, क्योंकि कुछ गिने-चुने संवेदनशील युवाओं ने इस संकट को समझकर पारम्परिक वाद्य यन्त्रों एवं लोकगीतों पर काम करना शुरू कर दिया है। हाल ही में जमशेदपुर में पारम्परिक वाद्य यन्त्रों पर आयोजित संगोष्ठी से आशा बँधती है कि लोग इस संकट को अनुभव करते, पारम्परिक वाद्य यन्त्रों के साथ माँदर एवं लोकगीतों को भी बचाना चाहते हैं।

20.04.2012 प्रभात खबर

एक गीत, जिस पर किया जा सकता है शोध

झारखंड में हमारे बहुत से मित्र हैं जो झारखंड को गहराई से जानना चाहते हैं। वे किताबें पढ़ते हैं, लोगों की बातें सुनते हैं और कुछ–न–कुछ जानने का प्रयास करते रहते हैं, लेकिन वे एक काम नहीं करते– झारखंड की जमीन से जुड़े गीतों का विश्लेषण। इस सन्दर्भ में 'मधु मंसुरी हँसमुख' के एक गीत का उल्लेख बहुत ही सम्मान के साथ किया जाता है। जिस प्रकार 'भूपेन हजारिका' की आसाम को समझने की जो गहन दृष्टि थी वही दृष्टि सम्पन्नता 'मधु मंसुरी हँसमुख' को झारखंड के सन्दर्भ में है। जिस तरह भूपेन हजारिका के गीतों में आसाम का कोना–कोना– शिलांग, डीफू, ब्रह्मपुत्र, बीहू, पहाड़, फूल–पौधे आदि जन–जीवन के अनेक रंगों के साथ सजीव हो उठते हैं, कुछ वैसी ही विराटता, 'मधु मंसुरी हँसमुख' के गीत में भी है– जहाँ झारखंड के ग्रामीण परिवेश के कई दृश्यों के साथ यहाँ की सोंधी खुशबू महक उठती है तो कभी आँखों में आँसू छलक जाते हैं।

याद करें 'गाड़ी लोहरदगा मेल' फिल्म का वह दृश्य जब ट्रेन में मधु जी गा रहे हैं– 'झारखंड कर कोरा... ।' इस गीत में झारखंड के भूगोल, नदी, रहन–सहन, पेड़, पौधों, भोजन, पहनावा, पत्ते चुनती लड़की, टंगरा (चट्टानों) पर खेलते बच्चों, खुँखड़ी–रूगड़ा, बाँस के कच्चे पौधों (करील), महुआ के साथ इमली के बीज खाने, सखुआ के बीज को भोजन के रूप में खाने, मड़ुवा तथा स्थानीय भोजन आदि के बारे जैसा वर्णन है वह किसी भी गीत में नहीं। माँ या प्रेमिका के आँचल की चर्चा तो अनेक कवियों, गीतकारों ने की है। लेकिन, पिताजी के परिधान का गरिमापूर्ण वर्णन कहीं नहीं है, जैसा इस गीत में है। 'बाप के तोलोंग को आशीष बाँटते' देखना अद्भुत है। यह पंक्ति वही लिख सकता है जो झारखंड की पारम्परिक वेश–भूषा एवं वहाँ के परस्पर सौहार्द्रपूर्ण रिश्तों को करीब से देख, समझ चुका है और झारखंडी परिधान 'तोलोंग' के महत्त्व को समझता हो। किन्तु आधुनिकता के प्रभाव से अब, इस परिधान का विकसित रूप, पारम्परिक नृत्य प्रस्तुत करने के समय ही पहना जाता है।

मातृभूमि का वर्णन करते अनेक भाषाओं में गीत मिल जायेंगे। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित दो देशों के गीत 'आमार सोनार बाँगला...' तथा 'जन गण मन... ।' से लेकर 'विभिन्न राज्यों के अपने विजय–गान या गौरव–गान' हैं। अधिकांशतः इन गीतों में सुन्दर धरती, उपजाऊ हरी–भरी धरती, समृद्धिपूर्ण जीवन का, नदी–पहाड़ों का वर्णन मिलता है या कल्पानातीत सुख, शान्ति, समृद्धि के बारे स्मृतियाँ। एक असमिया गीत– 'मोयँ असमिया, न होउं दुखिया' कहते स्वयं के प्रति आत्म दया या आत्म सान्त्वना जैसा भाव 'झारखंड केर कोरा... ।' गीत में नहीं है। अपनी (गरीब) स्थिति के लिए, रोना भी नहीं है, लेकिन ये जो कुछ जीवन में उपलब्ध है उसका भरपूर आनन्द लेने का उल्लास, उत्साह, सन्तोष, जोश, आत्म–सम्मान, आत्मविश्वास यहाँ झारखंडी–स्वाभिमान एवं जीवन–दर्शन के साथ मौजूद हैं। आज इसी झारखंडी जीवन–दर्शन में छेदकर गैर–

झारखंडी ताकतें अपना हित साध रही हैं। लेकिन आस-पास के परिवेश को समझने एवं उसके आन्तरिक-सौन्दर्य का जैसा सजीव वर्णन 'झारखंड कर कोरा...' में है, वैसा बहुत कम देखा गया है।

चूँकि गीत में वर्णित स्थितियाँ सीधे झारखंड के ग्रामीण-परिवेश से जुड़ी हैं। अतः इस तरह का आत्मीय-वर्णन– इस संस्कृति से अनजान लोगों या अपनी संस्कृति, रीति-रिवाजों को हीन दृष्टि से देखने को विवश की गयी, नयी झारखंडी पीढ़ी को यह गीत आज प्रासंगिक नहीं लगे। लेकिन, यह तय है कि भविष्य में 'अपनी जड़ों को तलाश करती अगली पीढ़ी' जब भी इस गीत के 'महाकाव्यात्मक विराटता' एवं 'जीवन की अन्तरंग घटनाओं एवं स्थितियों' के महत्त्व को समझेगी तो इस पर गर्व किये बिना नहीं रह सकेगी। इस गीत में दूध की नदियाँ बहने जैसी बातें नहीं हैं। लेकिन ये माँय-माटी की पवित्रता को मूल रूप में देखने की ललक एवं पवित्र-इच्छा है। यहाँ झारखंडी-धरती की– असली-महक, मेहनत का स्वाद, स्वर्गिक-आनन्द, परस्पर-सम्मान, खुला आकाश, निर्मल प्रेम, निश्छल आँसू, माँ-बाप का आशीर्वाद, जीने का सन्तोष, टंगरा में बेखौफ खेलते बच्चे, झुबलु बच्चा, ठेरकी छोंड़ी, पोको गाल, काँसी फूल, खुँखड़ी, करील, मड़ुवा लेटो, सरई लठा, कोयल, कारो, देवनद, स्वर्णरेखा, हुंडरू, जोन्हा आदि का सौन्दर्य लबालब भरा है। आने वाले खतरे के प्रति आगाह भी है।

'झारखंड केर कोरा...' गीत की छोटी-छोटी पंक्तियों में झारखंड के जीवन के विविध दृश्य छिपे पड़े हैं। जहाँ झारखंडी जीवन के अनेक रंग-ढंग, खेल-कूद, बचपन, युवा-प्रेम, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, खान-पान अपने टटके स्वाद और मौलिक रूप में मौजूद हैं। तथाकथित आधुनिकता के प्रभाव से– गीत में वर्णित खान-पान, रहन-सहन के बचे-खुचे दृश्य आदि कुछ दिनों बाद सम्भवतः गायब हो जायेंगे। भविष्य में 'पिज्जा' खाते शहरी-झारखंडी 'सरई लठा' आदि का स्वाद नहीं जानेंगे। लेकिन सम्भव है कि किसी युवा शोधकर्ता का ध्यान इस गीत की ओर जाय और तब सम्भव है इसी गीत के आधार पर वह 'झारखंड का गौरवशाली जन-जीवन' या इसी तरह मिलते-जुलते अन्य शीर्षक से शोध-पत्र प्रस्तुत कर, पी-एच.डी. की डिग्री ही प्राप्त कर ले और इस गीत एवं झारखंडी-जीवन को नया अर्थ, नया आयाम... दे दे।

प्रभात खबर– 08.06.2012 में प्रकाशित

मधु मंसुरी हँसमुख' का चर्चित एवं लोकप्रिय गीत–झारखंड कर कोरा

झारखंड कर कोरा-4
नदी नाला टका टुकू बन रे पतरा
भइरले खोंपा काँसी फूल
डिंडा समय झूला झूल रइलो
चल रे रानी, चल रे सालो, चल रे हीरा
चल रे चल टंगरा चल

खेल रे खेल घसरी खेल
बिना इंजन बिना तेल
गाड़ी लोहरदगा मेल
धर रे धर अंचरा धर, अरे अरे उड़ेला बगरा
झारखंड कर कोरा
बाप के तोलोंग आशीष बाँटे
सुन रे बतिया मान आपन घर एतइ काम
धर तो कोड़ी छोड़ आसाम
ठेरकी छोंड़ी 2
पतुर बिछे झुबुल छोंड़ा गुलेल गोरहा
झारखंड केर कोरा 2
घिड़के घटा 2
खुँखड़ी उठे बाँस खोहइर करील फूटे
महुआ संगे, महुआ संगे तेतइर चिञा
सोना लेखे सियाँ भूइञाँ
होड़ोंग देखी पेलो घुरे
टुटल पिरीति फिन से जुड़े
सरग-सा बसेरा
झारखंड केर कोरा
मड़ुवा लेटो 2
मड़ुवा लेटो सरइ लठा
घोंघी तियन खाएले चोठा,
बाचबे भइया
बाचबे सोना बाचबे हीरा
ठमइक चले पोको गाल
तड़की बोले होत सवाल
झोटिया बोले अंत नी खोले
बाचबे हीरा ...
झारखंड केर कोरा
मन मंजिरा
मन मंजिरा झनइक उठे
मधु गन्धे धमइक उठे
कोइल कारो...
कोइल कारो देव नदी छलइक मलइक
उलट-पलट

देखा रे देखा 2 मुक्ति देवे स्वर्णरेखा
देखा रे देखा हुंडरु दसम जोन्हा घाघ
गाते चले प्रेम के राग
जीरा घघर कुड़ी तीरे
बाँस ककई मुड़ी चीरे
दे तो गुइया दे तो रानी एक जबान
आइझ केर प्रेम हेरा डेरा
काइल भेंटाबों एहे बेरा
झारखंड केर कोरा
झारखंड केर कोरा।

संगीत की दुनिया और 'युवा वर्ग'

साल्ट लेक, कोलकाता में पिछले दिनों संगीत देखने एवं सुनने का मौका मिला। संगीत को लेकर मन में कभी कोई दुराग्रह नहीं रहा कि यह संगीत अच्छा है या बुरा है। आदिवासी लोकगीतों से लेकर रवीन्द्र संगीत, कर्नाटक, पंजाबी भांगड़ा, राजस्थानी लोकगीत, भोजपुरी गीत, चैता गीत, क्रिसमस कैरोल, कव्वाली, रविशंकर का सितार वादन, भीमसेन जोशी या सुब्बुलक्ष्मी के शास्त्रीय गीतों से लेकर हिन्दी, अँग्रेजी या बंगला पॉप गाने तक सुनने में ज्यादा परहेज नहीं रहा। जो कर्णप्रिय लगे वह सब कुछ सुनने का आनन्द लेने का प्रयास किया। अत:, जब दशहरे के अवसर पर साल्ट लेक में स्थित आधुनिक शॉपिंग कॉम्पलेक्स सिटी सेन्टर में किसी बंगला बैण्ड के आने की सूचना बेटों ने दी तो सोचा क्यों न बंगला बैण्ड का आनन्द लिया जाय! क्योंकि कई बार इच्छा होते हुए और टिकट मिलने या आमंत्रण मिलने पर भी किसी बंगला बैण्ड को प्रत्यक्ष देखा सुना नहीं था। जाकर देखा तो पाया कि कुछ युवाओं ने एक बैण्ड पार्टी को घेर रखा था और वे गिटार की धुन पर उछल-उछलकर गाने गा रहे थे। कुछ युवा इन धुनों पर थिरक रहे थे। वे क्या गा रहे थे यह सुनाई नहीं पड़ रहा था क्योंकि उनके गीत के बोल ड्रम एवं गिटार के तेज आवाज के नीचे दब से गए थे। चमकदार इलेक्ट्रॉनिक प्रकाश व्यवस्था ने अजीब सा माहौल बनाया हुआ था। रंगीन प्रकाश व्यवस्था धुनों के बदलते उतार चढाव एवं शोर के हिसाब से आड़ी तिरछी और कभी गोलाकार में मंच पर फैल जाती थी। चूँकि उस छोटी एवं संकरी जगह में कहीं बैठकर या खड़े होकर ही सही, गीत का आनन्द लेने की कोई व्यवस्था नहीं थी अत: वहाँ से हटना पड़ा। पत्नी ने बताया कि इन भेड़ा गीतों को सुनने में उसे कोई मजा नहीं आ रहा है। आगे उसने कहा क्या भें भें कर रहे हैं ये लोग समझ में नहीं आ रहा है! पत्नी की बात माननी पड़ी और इन भेड़ा गीतों से दूर जाना पड़ा। गीत तो मुझे भी यहाँ के अच्छे नहीं लग रहे थे किन्तु, इन गीतों के प्रति बंगाल के युवा वर्ग की रुचि देखना

चाह रहा था, उनका व्यवहार एवं मानसिकता देखना चाह रहा था। मेरी जिज्ञासा यह थी। खैर, मैं मन मसोसकर चल दिया।

आधुनिक बंगला बैण्ड सुनने का मौका

किन्तु, इस कार्यक्रम को देखने के दो दिन बाद ही साल्ट लेक में दुर्गा पूजा के पंडाल देखते फिर बंगाल के एक प्रसिद्ध बंगला बैण्ड को सुनने का अवसर मिला। इस बार एक खुले मैदान में। जहाँ बैण्ड की हाई वॉल्टेज ध्वनि व्यवस्था पूरे मैदान में फैल रही थी पूरी उन्मुक्तता के साथ। जहाँ हजारों की भीड़ खड़ी थी। इस बार पत्नी के साथ छोटा बेटा भी था जो इस बैण्ड के कई कार्यक्रम देख चुका था और उसे यह देखने की इच्छा थी। उसने बैण्ड के बारे में बताया और स्टेज पर गिटार बजाते एक लड़की के बारे में बताया कि वह लड़की नहीं, लड़का है किन्तु अपने लम्बे बालों को खोलकर इस तरह लहराता है कि जब तक हम नजदीक से उसे दाढ़ी मूछों में नहीं देखे यकीन करना कठिन था कि वह लड़की नहीं लड़का है। यहाँ स्टेज ऊँचाई पर बना था अत: गाते एवं उछलते कलाकारों को देखना कष्टकर नहीं था। हरेक गाने की समाप्ति पर जोरदार तालियाँ बजतीं और कभी तालियों की गड़गड़ाहट कम होने पर उद्घोषक जोर से तालियां बजाने का आग्रह करता साथ ही कभी वह यह बताना नहीं भूलता कि यह अँग्रेजी वाद्ययंत्रों से बजता पाश्चात्य गीतों का नकल नहीं है बल्कि यह शुद्ध बंगला गीत हैं जिन गानों में बंगाल की मिट्टी की सुगंध है। उसका कहना कुछ हद तक सही था क्योंकि कुछ गीत बंगाल के लोकगीतों से सीधे प्रभावित लग रहे थे हाँ वहाँ पारम्परिक वाद्य यंत्रों का प्रयोग नहीं हो रहा था। फिर गिटार की झनझनाहट भरी धुन इलेक्ट्रॉनिक ड्रम तथा सिन्थैसाइजर के द्वारा बदलती आवाजों के साथ गाना आरम्भ हो जाता। गानों के बीच बीच में स्टेज पर धुआँ जैसा कुछ कुछ उड़ता रहता। स्टेज पर की प्रकाश व्यवस्था कभी तेज हो जाती, कभी बिलकुल बारीक तो कभी रंगीन। साथ ही सामने खड़े युवकों का झूमना और ताली बजाकर मटकना आरम्भ हो जाता। हम जहाँ खड़े थे एक छह सात साल की बच्ची गानों के धुनों पर लगातार झूम झूमकर थिरक रही थी और मां द्वारा मना करने पर भी बार बार थिरकती ही जा रही थी। पास खड़े कुछ लोग उस बच्ची का थिरकना देख रहे थे। अचानक युवाओं का एक दल एक दूसरे के पीछे कन्धे पर हाथ रख कंगारूओं की तरह उछलता मैदान के चारों ओर घूम गया। बेटे ने बताया कि वह भी दोस्तों के साथ इसी तरह कई बार ऐसे कार्यक्रमों में कूद-फाँद कर चुका है। यह दृश्य अवाक देख ही रहा था कि सामने देखा कुछ लड़कियाँ झूम झूमकर थिरकती दिखीं। वे भी ताली बजा रहीं थीं और लगातार झूम रहीं थीं। आस पास खड़े लोग न उनकी ओर ध्यान दे रहे थे और न ही वे लड़कियाँ किसी की ओर ध्यान दे रहीं थीं। कुछ देर कार्यक्रम देखने के बाद हम चलने को हुए। कुछ दूर पर फिर अलग ही नजारा देखा। इस बार देखा कि आठ दस लड़के लड़कियों का एक छोटा समूह साथ-साथ थिरक एवं झूम रहा था।

आधुनिक सन्दर्भ में आदिवासी गीत एवं नृत्य

यह दृश्य देख रांची याद आया। अपने बचपन से युवा होने तक की वे सारी यादें घूम गईं जब हम करमा, सरहुल या किसी जतरा में समूह में मांदर, ढोल एवं नगाड़ों के धमाधम धुनों पर कदम से कदम मिला कर नाच रहे होते और मांदर एवं नगाड़ों के बदलते तालों के साथ नृत्य के कदम बदल रहे होते। मांदर एवं नगाड़ों के ताल पर पैरों के स्टेपिंग बदलने की प्रक्रिया मुझे बेहद रोमांचक लगती। पढ़ाई के सिलसिले में अधिकांश समय रांची में ही बीता किन्तु जब भी फुर्सत पाता तो प्रायः गाँव चला जाया करता था और जतरा या अन्य त्योहारों के समय के गीत को सुनने जानने की इच्छा लिए। क्योंकि तब हमारे जैसे नवशिक्षित आदिवासी वर्ग द्वारा पढ़ुवा लड़के-लड़कियों को इस तरह के नाच गानों से दूर रहने की नेक सलाह दी जाती थी। लेकिन, जैसे भी हो अपने भैया की शादी के समय नाचना सीखा। क्योंकि दोस्तों ने बताया कि भाभी लाने जाओगे और नाचोगे नहीं? इस तरह आदिवासी नृत्य से पहला परिचय हुआ। आज इतने वर्षों बाद आदिवासी गीतों की सामूहिकता में गजब का एकता का अनुभव किया है। सारे लोग जो झुंड में नाच रहे होते या अकेले ही झुंड में घुस कुछ जोकरनुमा क्रिया कलाप कर रहे होते या गानों के बीच सीटी बजाकर या मुंह से विचित्र आवाजें निकालकर वे गानों की लय में एक उत्प्रेरक लहर एवं जोश पैदा कर देते। वहाँ कोलकाता के बैण्ड की धुनों पर थिरकते लोगों की तरह कोई बिखराव नहीं है एक अजीब सी एकजुटता है। इस तरह आदिवासी लोकगीत एवं नृत्य का एक बेहद अनुशासनात्मक, सुदृढ़, ठोस व्याकरण मौजूद है जिसे आदिम संगीत कहकर इसकी उपेक्षा की गई है। ऐसा तब अनुभव करता था किन्तु आज यह सच लगता है। लेकिन, कुछ वर्ष पूर्व एवं कुछ महीने पहले अपने गाँव की कुछ घटनाओं ने झकझोर सा दिया। पहली घटना यह है कि एक मित्र के बेटे की शादी में रांची गया था। वहाँ देखा विशाल शामियाने के एक कोने में एक मंच बना था। जहाँ कुछ कलाकार गीत गा रहे थे। जाहिर है वे आज के लोकप्रिय आधुनिक नागपुरी गीत एवं हिन्दी फिल्मी गीत गा रहे थे। मंच के नीचे कुछ लोग बीच बीच में उन गीतों की धुनों पर थिरक रहे थे, झूम रहे थे। देखा कि मांदर ढोल नगाड़ों के धमाधम के बीच जो सामूहिक नृत्य हुआ करता था वह बन्द है। कुछ महीने पूर्व एक घरेलू उत्सव में भाग लेने अपने गाँव गया। वर्षों बाद गाँव आया था और किसी उत्सवनुमा कार्यक्रम में भाग ले रहा था। रात्रि भोजन के बाद गाँव के युवाओं से पूछा क्या कुछ नाचना गाना नहीं होगा? कुछ देर बाद देखा वे डफलीनुमा एवं ड्रमनुमा कुछ वाद्य सामग्री ले आए और विचित्र धुनों में उसे बजाने लगे साथ ही वे जिस तरह का नृत्य वे कर रहे थे वे अनजाने थे। उनके साथ पारम्परिक वाद्य यंत्र मांदर एवं नगाड़े आदि नहीं थे। लगा अपने गाँव से हजारों मील कहीं और चला गया हूँ। इतना परिवर्तन? सोच में पड़ गया। एक गहरा झटका सा लगा। तभी एक भतीजी ने हाथ पकड़कर खींचा और नाचने के लिए विवश किया। लगभग बीस वर्षों में बीच के ढाई साल छोड़कर रांची से बाहर हूँ लेकिन, रांची के आसपास ही हूँ। फिर भी नाचने के कई

स्टेपिंग भूल गया हूँ। कुछ देर बच्चों के साथ लगभग घिसटते हुए इधर उधर टाँग फेंकने के बाद ही उनके स्टेपिंग से परिचित हो पाया।

पारम्परिक गीत संगीत पर आसन्न संकट

सभ्य समाज के मित्रों को इस तरह बाप-बेटी, भाई-बहन एवं युवक युवतियों को साथ नाचते गाते देखना विचित्र एवं रहस्यमय लगता रहा है। किन्तु, एक गाने के भाव को वे समझेंगे तो शायद आदिवासी समाज में गीत एवं नृत्य की पवित्रता को वे समझ पायेंगे। यह गाना मुझे बहुत ही प्रिय लगता रहा है जिसका भाव है– 'आओ भाई! आओ बहन! हम अखड़ा में नृत्य करें। माँ एवं पिताजी हमारा नाचना देखकर खुश होंगे। आओ भाई! आओ बहन! हम अखड़ा में नृत्य करें।' दरअसल यह गीत आदिवासी समाज में नृत्य एवं गीत की अलग ही परिभाषा देता है और सूक्ष्मता से देखें तो यह आदिवासी समाज में गीत संगीत की सामाजिक एवं नैतिक परिभाषा भी देता है। लड़के लड़कियों को साथ नाचते देखना हमारे सभ्य समाज के लोगों के लिए एक तरह की अश्लीलता और पिछड़ापन है। लेकिन, आज एक आदिवासी अपने लोकगीतों की पवित्रता से खुद ही अनजान है। संकट की घड़ी यह है। आधुनिकता का प्रभाव इतनी तेजी से उसे बदल रहा है कि सम्भव है अगले दस पन्द्रह वर्षों बाद हम देखेंगे कि आदिवासियों के सामूहिक नृत्य गायब हो गए हैं और कुछ नृत्य दल या आदिवासी बैण्ड जन्म ले लें और वे ही शादी ब्याह या अन्य उत्सवों में मंच पर गाने गायेंगे और मंच के नीचे कुछ लोग थिरक रहे होंगे। क्या पता बदलती दुनिया के प्रभाव से गिटार एवं मांदर के धुनों पर कोई नए किस्म का पॉपनुमा आदिवासी गाने हमें भविष्य में सुनाई पड़े। जैसा कि नागपुरी भाषा में प्रस्तुत प्रीत कैसेट की लोकप्रियता से इसे समझा जा सकता है। 'वंदे मातरम्' एवं 'जय जय महाराष्ट्र' को जिस तरह आधुनिकता के रंग से रंग कर पेश किया गया और वह युवा लोगों को पसन्द आया उसके परिणाम को देखते इस प्रकार के सांस्कृतिक खतरे से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके अलावा एक उदाहरण और लिया जा सकता है कोलकाता में रवीन्द्र संगीत को कुछ युवा कलाकारों ने आधुनिक पॉप रूप देकर प्रस्तुत करना चाहा था। यह दूसरी बात है कि बंगाल के सशक्त परम्परावादी बुद्धिजीवियों के जबरदस्त विरोध के कारण उन्हें इस कार्य में सफलता नहीं मिली। लेकिन यह तो प्रमाणित हुआ ही कि युवा पीढ़ी गीत संगीत को भी अपने ढंग से सुनना चाहती है। अतः फिल्मी गीत हों या रवीन्द्र संगीत या आदिवासी लोकगीत या अन्य कोई गीत नई युवा पीढ़ी उसे अपने ढंग से सुनना पसन्द करती है और इसके लिए पहल एवं प्रयोग भी करती रहती है। बंगाल का बुद्धिजीवी या कहें जागरूक मध्य वर्ग अपनी परम्परा को बचाए रखकर उसके समांतर एक नई परम्परा भी विकसित कर लेता है। लेकिन, दूसरे लोग विशेषतः हिन्दी भाषी क्षेत्र इतना समर्थ क्यों नहीं हैं? यह एक आश्चर्यजनक और चिन्ताजनक पहलू है फिर चाहे वह आदिवासी समाज हो या सभ्य समाज, संकट सभी जगह हैं। इसकी सुध कौन लेगा?

सन् 2003

सिनेमा, कला

जंगल का फूल मात्र नहीं है फिल्म 'बाहा'

बर्लिन फिल्म समारोह में पुरस्कार प्राप्त कर चुकी नागपुरी फिल्म 'बाहा' की चर्चा कई कारणों से करना अनिवार्य है। पहला तो इसलिए कि यह एक ऐसे निर्देशक की पहली फीचर फिल्म है जो इसके पहले तक झारखंड की विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, विकास, विस्थापन, खदान, जन आन्दोलन, पर्यावरण आदि से जुड़े विभिन्न मुद्दों, समस्याओं पर डोक्युमेन्टरी फिल्म बनाते रहे हैं और दूसरा कारण यह है कि वे देश, विदेश में पुरस्कृत होते रहे हैं। 'बुद्धा वीप्स इन जादूगोड़ा', 'फायर विदिन' आदि बहुचर्चित एवं पुरस्कृत फिल्मों के अलावा वर्ष-2008 के फिल्म 'बुरूगाड़ा' (पहाड़ी नदी) को देश का सर्वोच्च राष्ट्रीय पुरस्कार, रजत कमल पुरस्कार महामहिम राष्ट्रपति द्वारा प्राप्त हुआ है। उनकी डोक्युमेन्टरी फिल्मों की खासियत यह है कि वह सीधे जनता के दिलों से और उनकी खुरदरे और कठिन जिंदगी से जुड़ी लगतीं हैं। उनकी फिल्मों को देखते समय आपको कई असामान्य दृश्यों को देखने के लिए मानसिक रूप से तैयार रहना पड़ता है। निर्देशक श्रीप्रकाश जन सरोकारों, जन आन्दोलनों से जुड़े मुद्दों पर फिल्में बनाते रहे हैं। अत: वे आपको एक ऐसी दुनिया से परिचित कराते हैं जिसे आपने उसके बगल से गुजरते हुए भी कभी अनुभव नहीं किया या कभी उधर झाँकने की कोशिश नहीं की। निस्संदेह फीचर फिल्म 'बाहा' भी बहुत कुछ ऐसा ही दर्शाती है। कहना चाहिए कि बाहा के माध्यम से श्रीप्रकाश ने झारखंड की उस दुनिया से परिचय कराया है, जहाँ झारखंड की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत मौजूद है। 'बाहा' निर्देशक श्रीप्रकाश की पहली फीचर फिल्म है बावजूद इसके उन्होंने फीचर फिल्म के ग्रामर का उपयोग बहुत ही परिपक्व एवं मंझे हुए निर्देशक की तरह किया है। फिल्म कहीं भी बोझिल नहीं लगती है और। फिल्म के कई दृश्य एवं संवाद आपके आस पास की दुनिया से लिए गए हैं और उनमें बनावटीपन नहीं झलकता है।

अब तक अधिकांश झारखंडी फिल्मकारों ने झारखंड की समृद्ध प्राकृतिक-सौन्दर्य, सामाजिक, सांस्कृतिक विरासत को कभी कभार छुआ भर है, वहाँ गहरे उतरने की कोशिश कम की है। इस दृष्टिकोण से देखें तो 'बाहा' फिल्म एक युवा-आदिवासी नागपुरी-गायक डेविड की कहानी भर नहीं है बल्कि कहना होगा कि उसके संघर्ष को दिखलाते निर्देशक ने झारखंड की बहुस्तरीय सामाजिक संरचना की विभिन्न परतों को समझने की संवेदनशील चेष्टा की है। उन्होंने फिल्म में झारखंड आन्दोलन के सांस्कृतिक-पुनर्जागरण के आन्दोलन को भी स्थान दिया है। कहानी के साथ इस तथ्य को इतने स्वाभाविक ढंग से जोड़ा गया है कि यह कहीं पर भी आरोपित या थोपा हुआ नहीं लगता। नायक डेविड के व्यक्तिगत संघर्ष के समानांतर सांस्कृतिक पुनर्जागरण सम्बन्धी

घटनाएँ चलती रहतीं हैं। इस क्रम में श्रीप्रकाश ने अपने फिल्म निर्माण के पिछले अनुभवों का बेहतर उपयोग किया है और नागपुरी–संगीत–उद्योग के कैसेट–युग से अब तक के दस्तावेज बन गए विभिन्न सामग्रियों, दस्तावेजों एवं स्थितियों का सिलसिलेवार बहुत ही सुन्दर और मर्मस्पर्शी उपयोग किया है।

पिता द्वारा ऑफिसर बनाने के सपने को तोड़कर घर से भागे एक युवा, नागपुरी–गायक डेविड (प्रद्युम्न नायक) के संघर्ष की कहानी कहते फिल्म नागपुरी–संगीत–उद्योग के कई अनजाने पक्षों को भी लगातार उजागर करती है। फिर आप सदान हों, आदिवासी हों, ईसाई हो या गैरईसाई हों, अपनी बेहतरी के सपने बुनते संघर्षरत युवा हों या संतान के स्वर्णिम भविष्य के लिए चिन्ताग्रस्त अभिभावक, सामंती मानसिकता से ग्रस्त दबंग बिहारी हों या झारखंडी, बाजार में खड़े खरीददार हों या पूँजीपति या व्यवसायी–फिल्म में, युवा पीढ़ी की नई चेतना इन सभी से लगातार जूझती और कई बार सवाल करती नजर आती है। फिल्म की कहानी में दृश्यों के माध्यम से दिखाये जा रहे सवालों को आपको पहचानना होगा क्योंकि ये सारी बातें कई बार सीधे नहीं कही गई हैं बल्कि सम्बन्धित स्थितियों, दृश्यों के माध्यम से इन्हें बताने की चेष्टा की गई है। कई बार कैमरे के पीछे पात्रों और इनके आस पास की हलचलों और दृश्यों के सांकेतिक अर्थ को कहानी के सन्दर्भ में कलात्मक ढंग से प्रस्तुत की गई है।

फिल्म में रिकॉरडिंग के लिए तकनीकी सहायता हेतु मुंबई के तकनीशियनों का सहारा जरूर लिया गया है लेकिन कैमरे में स्वयं, श्रीप्रकाश ने बेहतर कार्य दिखाया है। चुस्त सम्पादन ने फिल्म को प्रभावशाली बना दिया है। फिल्म को विश्वसनीय एवं जनता के करीब लाने हेतु, नागपुरी संगीत के लिए किये गये शोध–कार्य से कई ऐतिहासिक क्षण पर्दे में सजीव हो उठे हैं। कई गायकों को फिल्म में देखते हैं। तकनीकी विकास के फलस्वरूप संगीत उद्योग में होते परिवर्त्तनों को फिल्म में भरसक अच्छी तरह संजोया गया है। फिल्म, कैसेट–युग से अब तक, की गई नागपुरी–संगीत–यात्रा के विभिन्न पहलूओं को दर्शकों के सामने लाती है। अनेक नागपुरी गायकों जैसे महाबीर नायक, बुधराम नायक, मधु हंसमुख अंसारी, मधुसूदन नायक, नंदलाल नायक, राजू, सरिता देवी, मोनिका आदि द्वारा गाये गीतों के विभिन्न के गीतों का इस्तेमाल कहीं पूर्णत: तो कहीं अंशत: किया गया है। संगीत प्रेमियों को आधुनिक नागपुरी संगीत के विकास के विभिन्न चरणों में विकसित हुए हर मूड एवं हर स्वाद के गीतों को स्थान देने का प्रयास किया गया है। फिल्म में उन गीतों का उपयोग इस तरह किया गया है कि वे जबरन ठूंसे गए नहीं लगते हैं। कहानी के अनुकूल विभिन्न गीतों का उपयोग किया गया है और अंगनई, डमकच, उदासी, झूमटा आदि लोकप्रिय रागों का फिल्म में आप रस ले सकते हैं। जो इनसे परिचित नहीं हैं उन्हें भी ऐसा अपरिचय नहीं लगेगा कि वे गीत का आनन्द नहीं उठा सकेंगे। नागपुरी संगीत की दुनिया को आधुनिक संदर्भ में समझने का यह सार्थक प्रयास है। यहाँ अखड़ा के पारम्परिक रूप के अलावा अब बदल रहे अखड़ा संस्कृति के स्वरूप को भी चित्रित किया गया है। आधुनिक नागपुरी गीतों के इतिहास

को परदे पर देखना और जानना अपने आप में बेहद रोमांचक है। झारखंड की प्राकृतिक सौन्दर्य का फिल्म में कई स्थानों पर सुन्दर उपयोग किया गया है। पलाश, सखुआ, सरगुजा, कांसी आदि फूलों का कई दृश्यों में बड़े परदे पर लहराते देखना झारखंडी मन को पुलकित कर देता है। निश्चय ही झारखंडी फिल्म के सौन्दर्य एवं मुहावरे की तलाश मे यह फिल्म महत्वपर्ण पहल है। साथ ही झारखंड की सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक समझ को पहचानने में भी फिल्म भविष्य में अध्येताओं और शोधकर्त्ताओं के लिए उपयोगी हो सकती है। आधुनिक उपभोक्तावादी युग में दौलत, शोहरत और बाजार के गड्डु मड्डु दुनिया में प्रतिभा का व्यवसायी लोग किस तरह उपयोग करते हैं। आज की आदिवासी युवती विपरीत स्थितियों से जूझकर निकलने के लिए कैसे संघर्षरत है जैसी कुछ अनछूए पहलू को फिल्मी पर्दे पर देखना नया अनुभव है।

भूषण मुण्डू एवं तेज मुण्डु ने फिल्म का पार्श्व संगीत दिया है और फिल्म के उतार चढ़ाव, दुख–सुख आदि विभिन्न दृश्यों को गति देने एवं प्रभावशाली बनाने में बैंकग्राउन्ड म्युजिक की बहुत बड़ी भूमिका है। इसके लिए मांदर, बांसुरी, ढोल, सांरगी जैसे स्थानीय बाद्य यंत्रों के अलावा गिटार, सिन्थेसाइजर, ड्रम आदि का बहुत ही सटीक और प्रभावी उपयोग किया गया है। सम्भवत: पहली बार झारखंड में निर्मित किसी फिल्म में पार्श्व संगीत पर इतनी मिहनत की गई है। तेज मुण्डू बताते है कि– 'जब कोई फिल्म बाहा में संगीत देने के लिए तैयार नहीं था तो हमने चुनौती के रूप में इसे स्वीकारा। हालाँकि शुरू में हम संतुष्ट नहीं थे लेकिन कई सीटिंग में, कई लोगों से चर्चा करते निरन्तर सुधार लाने की हमने कोशिश की है।' आगे तेज मुण्डू ने बताया कि– 'फिल्म बाहा अनजाने में उसके जीवन की सच्ची कहानी जैसी बन गई है और फिल्म के कई संवाद एवं घटनाएँ उनके जीवन में वास्तविक रूप में घट चुकीं हैं।'

फिल्म में आज की आधुनिक झारखंडी समाज की स्थिति का जीवन्त चित्रण है। आदिवासी गैरआदिवासी समाज की विषमता को भी समझने की कोशिश की गई है। आदिवासियों के प्रति सभ्य कहे जानेवाले कैसी दृष्टि रखते हैं। यह भी फिल्म में दर्शाया गया है। अधिकांश अभिभावक अपनी सन्तानों की इच्छा के विरुद्ध उनपर अपनी पसन्द लाद देते हैं फलत:, बच्चे कई बार गलत कदम उठाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। वैसे कम शब्दों में कहें तो 'बाहा', झारखंड के युवा–आकांक्षाओं को देखने, जानने, समझने की एक सार्थक, अभिनव पहल है। वह पिछली पीढ़ी की कई वर्जनाओं से मुक्त होकर वर्तमान परिवेश में जीना चाहती है।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली से प्रशिक्षित प्रद्युम्न नायक ने फिल्म में नायक डेविड की भूमिका सशक्त ढंग से निभाई है। इसके अलावा रांची रंगमंच के प्रसिद्ध कलाकार– अशोक पागल, शुभ्रा मजूमदार के अलावा बॉबी, महादेव टोप्पो, रेमिस कंडुलना, राजकुमार राजवंशी, शीतल बागे, चमरू, राणा, अनिता, जयराम, योगेन्द्र चौबे, ऊषा मिश्रा तथा इप्टा रांची, चाईबासा के कई स्थानीय कलाकारों ने अपनी छोटी बड़ी भूमिकाओं में प्रभावशाली अभिनय किया है। निर्देशक ने सभी कलाकारों से

कहानी की माँग के अनुसार स्वाभाविक अभिनय करा लिया है जो निर्देशक के रूप में श्रीप्रकाश की एक बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है। पूरे फिल्म में किसी भी परिस्थिति को दिखाने में अतिउत्साह या अतिरंजना नहीं है और हर दृश्य बहुत संयत एवं सधा हुआ यानी नागपुरी में कहें तो 'सुपट' लगता है जो फिल्म की एक और बड़ी विशेषता है। लोकेशन या सेट के चुनाव में भी काफी ध्यान दिया गया है।

पूरे भारत में मात्र नगालैण्ड की सरकार ने ही राज्य की विविधतापूर्ण स्थानीय संगीत को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से इसे उद्योग का दर्जा दिया है। यदि भविष्य में झारखंड-सरकार द्वारा झारखंडी संगीत को उद्योग का दर्जा देने का कोई निर्णय लिया जाता है तो 'बाहा' फिल्म के योगदान को भूलाना और नकारना कठिन होगा। विदेश में पुरस्कृत होकर 'बाहा' फिल्म अपनी सुगंध बिखेरने में सफल हुई है। निश्चय ही फिल्म की यह झारखंडी सुगन्ध, झारखंड और झारखंड के बाहर के दर्शकों को भी काफी पसन्द आयेगी।

राष्ट्रीय स्तर पर उभरता कलाकार सी.आर. हेम्ब्रम

पिछले कुछ वर्षों से पूरे भारत में आदिवासी समुदाय से उभरते कुछ कलाकारों ने या आदिवासी-जीवन को कला का विषय बनानेवाले कलाकारों ने राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी कलाकृतियों से कलाजगत में अपनी पहचान बनाई है। फिर वह आसाम के चाय-बागान के जन-जीवन को उकेरते चित्रकार शिवा प्रसाद मरार हों, नगालैण्ड के उभरते कलाकार जिथुव फुह, जॉनिव फुह या सिन्थिया कोलाखे हों या झारखंड के दिलीप टोप्पो, विश्वनाथ लकड़ा या सी. आर. हेम्ब्रम जैसे कलाकार। इन सभी ने अपने समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रेरित होकर अपनी कलाकृतियों में देशज स्पर्श देकर समाज की बेबसी, पीड़ा, आक्रोश, विद्रोह को व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त झारखंड के कलाकारों ने अपने चित्रों में उत्सव, नृत्य, संस्कार-कर्म, इतिहास एवं आधुनिकता से प्रभावित जीवन की जटिलताओं को भी चित्रित किया है और समीक्षकों, कला-विशेषज्ञों एवं आम जनता का ध्यान आकर्षित किया है।

चूँकि झारखंड जैसे नये राज्य में कलाकारों को प्रोत्साहन देने के लिए कोई सार्थक मंच या सरकारी, गैरसरकारी संगठन बहुत सक्रिय नहीं था। अतः यहाँ के उभरते कलाकारों को कुछ ज्यादा ही संघर्ष करना पड़ा है। यही कारण है कि प्रायः अपनी कलाकृतियों को देश के विभिन्न हिस्सों में आयोजित प्रतियोगिताओं के लिए भेजना पड़ता है ताकि वहाँ सफल होने पर उनकी पहचान बन सके। फिर प्रदर्शनी के लिए प्रायोजक भी ढूँढ़ना पड़ता है। तुलनात्मक रूप से झारखंड के कलाकारों के लिए यह विकट कार्य है। फिर भी, झारखंड के इन कलाकारों ने अब अपनी जिद्द व जुझारूपन से राष्ट्रीय स्तर पर न केवल दस्तक देना शुरू कर दिया है बल्कि अपनी कलाकृतियों से

झारखंड को भी राष्ट्रीय स्तर पर अपनी उपस्थिति का एहसास दिलाना आरम्भ कर दिया है।

हाल ही में, घाटशिला के निकट गन्धनिया गाँव में जन्मे पटना एवं बड़ौदा से कला–कर्म के लिए प्रशिक्षित कलाकार सी.आर. हेम्ब्रम की कलाकृति को, 'ओडिसा ललित अकादमी' द्वारा आयोजित 'अखिल भारतीय कला प्रतियोगिता' में देशभर के 1200 प्रविष्टियों में से प्रदर्शनी के लिए, चयनित अन्तिम 80 कलाकृतियों में स्थान मिला। अन्ततः उनमें से जिन 12 कलाकारों को पचास, पचास हजार रुपये की पुरस्कार राशि व स्मृति–चिह्न प्रदान किया गया, उनमें सी.आर. हेम्ब्रम झारखंड से अकेले कलाकार थे।

इसके पहले भी उनकी कलाकृतियों के लिए अनेक पुरस्कार, सम्मान मिल चुके हैं और 2011 में झारखंड सरकार ने भी उन्हें सम्मानित किया है। उनके चित्रों की कई एकल प्रदर्शनियाँ पटना, रांची, जमशेदपुर, लखनऊ, मेरठ एवं बड़ौदा में आयोजित की जा चुकी हैं। साथ ही दिल्ली, मुम्बई, अहमदाबाद, कोहिमा, भुवनेश्वर, कोलकाता में आयोजित कई प्रदशर्नियों में उनके चित्र सम्मिलित किये गये हैं। जहाँ उनकी पेंटिंग सराही गयीं हैं। राष्ट्रीय स्तर का यह पुरस्कार पाने से उत्साहित सी.आर. हेम्ब्रम ने एक मुलाकात में बताया कि– 'वे आज जो भी हैं उसका श्रेय माँ देवगी एवं मामा जगन्नाथ किस्कू को है। सी.आर. हेम्ब्रम जब चार वर्ष के थे, उनके पिताजी का देहान्त हो गया था। अतः उनका लालन–पालन मामा के घर में हुआ। मामा जगन्नाथ किस्कू ने उन्हें गाँव से लेकर पटना, बड़ौदा तक कला में डिग्री लेने हेतु पत्थर तोड़ने की मजदूरी करते हुए, उनकी आर्थिक सहायता की।' अपने बचपन को याद करते हेम्ब्रम ने बताया कि– 'उन्हें बचपन से ही चित्र बनाने का शौक था और वे घर की दीवारों को चित्रों से भर देते थे और अपने घर के दीवार भर जाने पर पड़ोसियों के दीवारों में चित्र बनाते थे। फलतः, उनकी माता देवगी के पास अक्सर पड़ोसियों की शिकायतें आती रहतीं थी। लेकिन माता देवगी इस विपरीत–स्थिति को कुशलतापूर्वक सम्हाल लेती थी। उन्होंने इसके लिए कभी बेटे को नहीं डाँटा और न ही किसी को कभी डाँटने दिया। निरक्षर माँ का यह समर्थन हेम्ब्रम नहीं भूलते और मानते हैं कि चित्र बनाने के लिए मां का यह प्यार और प्रोत्साहन आज भी उनके लिए प्रेरणा–स्रोत है।'

आगे हेम्ब्रम ने बताया कि– 'स्कूल में दाखिला के लिए जब गाँव के स्कूल गए और मास्टर ने स्लेट देकर कुछ लिखने को कहा तो वहाँ हेम्ब्रम ने आदमी का सिर बना दिया। जिसे देखकर शिक्षक दुलबा मांझी बहुत खुश हुए और तुरन्त स्कूल में दाखिला दे दिया।'

पटना में जनशक्ति के सम्पादक ने अपनी निजी लाइब्रेरी से एक पुस्तक उन्हें दी थी जिसमें अँग्रेज कलाकार द्वारा सिद्धो मुर्मू की बनाई तस्वीर थी। जिसे देखकर उन्होंने संथाल क्रान्ति की पेंटिंग बनाई। यह पेंटिंग का बाद में कैलेन्डर बनाने के लिए भी उपयोग किया गया। उसी तरह संथाल–विवाह पर बनाई गई पेंटिंग 'खेरवाल बापला' से

उनकी खास पहचान बनी। यह 1986 में बिहार, बंगाल, ओड़िसा के कला जगत में चर्चा का विषय था। किन्तु आज वे अपनी खास शैली के लिए पहचाने जाने लगे हैं। उनकी कई पेंटिंगों में कैनवस पर एक्रेलिक रंगों में, मेटेलिक इफेक्ट द्वारा सामाजिक विद्रूपताओं, नारी उत्पीड़न को दर्शाया गया है। जो कहीं कहीं पर कटा फटा रहकर अभिव्यक्ति को नया अर्थ और आयाम देता है। उन्होने पेंटिंग में नारी को कभी सशक्त तो निरीह भी दर्शाया है। भुवनेश्वर में पुरस्कृत पेटिंग नारी–उत्पीड़न से सम्बन्धित है।

आशा है कि कला के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर सी.आर. हेम्ब्रम की इस छलाँग से झारखंड में अनुकूल वातावरण बनेगा और राज्य के अन्य कलाकार इससे बेहतर कार्य करने और बड़ी सफलता पाने के लिए प्रेरित होंगे।

प्रभात खबर 12.04.2013 में प्रकाशित

आदिवासी और सिनेमा, कुछ झलकियाँ

कुछ दिन पहले देश भर में आदिवासी बहुत गुस्से में थे और एमएसजी पार्ट 2 में आदिवासियों को शैतान कहे जाने का विरोध कर रहे थे। यूँ वे पहले भी विरोध कर सकते थे लेकिन तब तक आदिवासी समाज के बुद्धिजीवी उतना सक्रिय नहीं थे, जितना की आज हैं। आज उनकी सक्रियता राजनीति, कला, साहित्य, खेल, फैशन से लेकर फिल्मों तक बढ़ गई है। आज की युवा पीढ़ी आदिवासी पहचान को लेकर ज्यादा सजग है और वह अपनी पहचान वांग्चू, कार्बी, खासी, आदि भाषाओं में फिल्में बन चुकी है जबकि संताली में फिल्म बनाने की एक समृद्ध परम्परा विकसित हो चुकी है।

लेकिन, पिछले कुछ वर्षों में कुड़ुख (उरांव) भाषी युवा फिल्मकारों ने फिल्म के क्षेत्र में दस्तक देना आरम्भ कर दिया है और हम उनकी कुछ फिल्मों से यह जान सकते हैं कि वे अपनी भाषा, संस्कृति, सामाजिक, आर्थिक, रीति रिवाज, परम्परा आदि को लेकर कितने सजग एवं संवेदनशील हैं। राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित फिल्मकार बीजू टोप्पो कहते हैं कि ''कोई फिल्मकार हमारी समस्याओं को समझता है और न हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक भावनाओं को। इसलिए अपनी भाषाओं में फिल्म बनाना जरूरी हो गया है।''

इनकी चर्चा इसलिए भी कि इन तमाम फिल्मों में आदिवासी जीवन की विवशताओं, खामोशियों को विषय बनाया गया है। इन फिल्मों में किसी आदिवासी नायक को एक नायक की तरह नहीं दिखाया गया। उनकी विवशताओं और खामोशियों को ही चित्रित किया गया। जबकि इतिहास बताता है कि आजादी के संघर्ष से लेकर, अपनी जमीन के हक की लड़ाई में वे सभ्य समाज से आगे रहे। तिलका मांझी का विद्रोह हो या सिद्धो कान्हू या बिरसा मुंडा या बुधु भगत का, वह कई बार सभ्य समाज से पहले अँग्रेजों से लोहा लेता दिखता है। विल्किन्सन रूल, छोटानागपुर टेनेन्सी ऐक्ट या संतालपरगना

टेनेन्सी ऐक्ट इसके उदाहरण हैं कि उन्होंने संघर्ष कर कैसे जमीन की रक्षा के लिए कानून बनाने के लिए अँग्रेज सरकार को विवश किया। पूर्वोत्तर में उनके पारम्परिक स्वशासन को मान्यता देना भी उनके संघर्ष का जीवन्त उदाहरण है। इससे पता चलता है कि आदिवासी कहीं भी आजादी की लड़ाई या अपने जमीन के हक की लड़ाई में कभी पीछे नहीं रहे। और यह संघर्ष आज भी चल रहा है।

शायद इसीलिए मुख्यधारा की फिल्मों में आदिवासियों की नकारात्मक छवि बनाने की कोशिश सम्भवत: जानबूझकर की जाती है और उन्हें विवश या खामोश दिखाया जाता है। उसके प्रतिरोध को भी नकारात्मक ढंग से पेश किया जाता है। इसके अलावा इनके रीति रिवाजों का भी कई बार मजाक उड़ाया जाता है। आदिवासी महिलाओं को बलात्कृत होते दिखाना आम बात है। आदिवासी नायकों को निरीह व मूक दिखाया जाता है। उनके प्रतिरोध को कभी फिल्मों में कोई सम्मानजनक स्थान नहीं दिया गया है। इस तरह देखें तो बंबइया फिल्में आदिवासियों को नस्लवादी एवं हेय की नजर से देखती रही हैं। 'आक्रोश' में लाहन्या का उदाहरण देखें, उसका वकील उच्च जाति का है जो उसे बचाना चाहता है। लेकिन पीड़ित लाहन्या के मन में सम्भवत: उस जाति के प्रति इतनी घृणा भरी है कि वह पूरी फिल्म में वकील से एक शब्द तक नहीं बोलता है। कई प्रसिद्ध फिल्मकारों ने भी उनकी समस्याओं को समझने का प्रयास किया जरूर है परन्तु आदिवासियों के प्रतिरोध को कभी प्रभावी ढंग से नहीं दिखाया गया।

परिणामत: आज झारखंड के युवा फिल्मकार अब इस स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए प्रयास करते दिख रहे हैं। अपनी डोक्यूमेन्ट्री फिल्मों के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार एवं कई राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित झारखंड के प्रसिद्ध फिल्मकार 'बीजू टोप्पो ने कुड़ुख भाषा में एक लघु फीचर फिल्म 'सोना गही पिंजरा' 2008 में बनायी है। इस फिल्म में एक नौकरीपेशा युवक की मानसिक उलझनों को दर्शाया गया है। झारखंड के प्रसिद्ध त्योहार करमा के अवसर पर उसे घर जाने के लिए छुट्टी नहीं मिली है और वह गाँव में अपने माता पिता एवं प्रेयसी को याद करता है। कभी उनसे मोबाइल में बात करने का प्रयास करता है, तो कनेक्शन नहीं मिलता है। अखड़ा में अपने संगी साथियों को मांदर बजाते नृत्य करते याद करता है। हंड़िया और चखना का स्वाद याद करता है और घर न आने की मजबूरी पर खीजता है। यह फिल्म सवाल करती है कि आदिवासी बहुल राज्य में आदिवासी के त्यौहार के मान्यता और सम्मान क्यों नहीं? लगता है झारखंड सरकार ने बीजू की बातें सुन ली और वर्ष 2015 से सरहुल और करमा के लिए सरकारी कैलेन्डरों में छुट्टी घोषित कर दी गयी है। किसी फिल्म में उठाये गये सवाल का यह सम्भवत: पहला सकारात्मक परिणाम है।

इसके अलावा बीजू टोप्पो ने कुड़ुख भाषा में डोक्युमेन्ट्री फिल्म भी बनायी है – 'कोड़ा राजी'। यह फिल्म झारखंड से आसाम एवं बंगाल में आकर चाय बागानों में कार्य कर रहे मजदूरों की तकलीफों, जद्दोजहद एवं संघर्ष पर आधारित है। इस फिल्म

को मुंबई अन्तरराष्ट्रीय फिल्म समारोह 2006 में सिल्वर कॉन्च पुरस्कार मिल चुका है। यह फिल्म महुआडांड़, झारखंड से लेकर डिब्रूगढ़, आसाम तक अनेक लोगों द्वारा देखी एवं सराही जा चुकी है। यह फिल्म बताती है कि इतने वर्षों तक वहाँ रहते इन चाय बागान के मजदूरों को इक्कीसवीं सदी में भी अट्ठारहवीं सदी का जीवन जीना पड़ रहा है। वे अब भी अपमानजक एवं नारकीय जीवन जीने के लिए बाध्य हैं। फिल्म में कई ऐसे प्रश्न एवं दृश्य हैं जो अनेक मानवीय एवं शासकीय सवाल भी खड़े करते हैं जिन्हें देख, सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर भी इतने कष्टों के बीच वहाँ के आदिवासियों का खिलखिलाता चेहरा देखकर उनके जज्बे को सलाम करने का ही मन होता है।

इसी तरह अभी हाल हीं में एफटीटीआई पुणे से प्रशिक्षण प्राप्त 'रंजीत उरांव' ने अपनी मातृभाषा कुड़ुख में लघु कथा फिल्म 'पेनाल्टी कॉर्नर' बनायी है। यह 'अश्विनी कुमार पंकज' की हिन्दी कहानी 'पेनाल्टी कॉर्नर' पर आधारित है। फिल्म एक आदिवासी परिवार के आतंक और गरीबी में जीते परिवार की कहानी कहती है। बिटिया हॉकी की खिलाड़ी है। पिता को पैसे की जरूरत है इसलिए वह घर की मुर्गी बेचना चाहता है। लेकिन मुर्गी नहीं बिकती। उसे आशा है कि मुर्गी बेहतर दाम में बिक जायेगी। लेकिन इसी रात को कुछ आतंकी आते हैं जिन्हें गाँववालों द्वारा सेवा-सत्कार करना है। एक ग्रामीण उनके बारे बताता है और उनसे चावल आदि माँगता है। साथ ही वह मुर्गी की मांग करता है। इस बात से वह परेशान हो जाता है। वह उन्हें मुर्गी नहीं देना चाहता। लेकिन उसके बच्चे इस समस्या का समाधान अपने साहस से कुछ दूसरे तरीके से ढूँढ़ लेते हैं। इस तरह यह फिल्म, विवशताओं के बीच भी आदिवासी संघर्ष-चेतना को जीवित रखती है। स्मरणीय है कि निर्देशक को कुड़ुख भाषी महिला कलाकार नहीं मिलने से थोड़ी कठिनाई हुई।

यही कठिनाई उभरते फिल्मकार निरंजन कुमार कुजूर के साथ भी हुई। उन्होंने इस समस्या का समाधान तुर्की के फिल्मकार नूरी सेलान से प्रेरित होकर निकाला। सेलान को महँगे कलाकार मिलने के कारण उन्होंने अपने आरम्भिक फिल्मों में अपने दोस्तो एवं सगे सम्बन्धियों से अभिनय कराया। निरंजन कुजूर भी अपनी फिल्मों में सगे सम्बन्धियों से अभिनय कराया है। इन्होंने दो लघु कथा फिल्में बनायी है। पहली 'पहाड़ा' और दूसरी 'एड़पा काना'। दोनों फिल्में कुड़ुख भाषा में बनीं हैं। 'पहाड़ा' फिल्म गोवा अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह 2013 में सम्पूर्ण भारत से चयनित सोलह नॉन फीचर फिल्मों में से एक थी। उसी वर्ष उनकी डोक्यूमेन्ट्री 'खइका टुंपा' को भी वहाँ प्रदर्शन के लिए चुना गया था। 'पहाड़ा' लघु फीचर फिल्म नक्सली एवं पुलिसिया जुल्म से जूझते एक परिवार की कहानी है। पिता स्कूल में आतंकवादियों एवं पुलिस के पूछ ताछ से दुखी है। उसका बेटा तेरह का पहाड़ा याद नहीं कर पा रहा है। आये दिन गाँव से किसी के गायब होने का खबरें आ रही हैं। एक दिन पिता घर नहीं लौटता है। मां परेशान है। बेटा बताता है कि वह तेरह का पहाड़ा याद कर लिया है और जैसे ही पिता जी आयेंगे वह पहाड़ा सुना देगा। लेकिन पिता जी नहीं आते हैं। फिल्म में

आदिवासी जीवन के अनेक मुद्दों एवं समस्याओं को फिल्म में सांकेतिक ढंग से उठाया गया है। उनकी भाषिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संक्रमण की ओर भी इशारा किया गया है। यह एक ऐसी फिल्म है जो कई परतों में अपनी बातें कहती है। कहीं पर एक चित्र, एक संवाद, पृष्ठभूमि में प्रयुक्त ध्वनि और मानवीय गतिविधियां अनेक अर्थ समेटे हुए हैं। सम्भवत: इन्हीं विशेषताओं के कारण यह सार्क फिल्म समारोह के अलावा भी कई अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों में प्रदर्शित की गई है और विद्वान समीक्षकों द्वारा सराही भी गई है। यह फिल्म थोड़े में बहुत कुछ कहने की सम्भावना से भरी हुई है, जो इस फिल्म की एक और विशेषता है। साथ ही इस फिल्म में कहानी के परिवेश को दिखलाने के लिए जो कलात्मक स्पर्श दिया गया है, वह फिल्म के सौन्दर्य को और बढ़ा देती है।

निरंजन कुजूर ने कोलकाता में बस गए आदिवासियों पर फिल्म 'खइका टूंपा' (सूखी कली) बनायी है। इस फिल्म में दिखाया गया है कि कैसे एक परिवार रांची से कोलकाता में बस गया है और उनके रहन-सहन, खान-पान के अलावा पर्व त्यौहार मनाने के तौर तरीके में कैसे भिन्नता आ गई और बच्चों के सोच में भारी परिवर्तन आ गया है। वे अपनी मातृभाषा भूल चुके हैं और अँग्रेजी तथा बंगला के प्रभाव में आकर अपनी पुरखा-धरती की अच्छाइयों से वंचित होकर एक जड़विहीन तथा परजीवी पौधे बन जाने की स्थिति में पहुँच गये हैं। वे अपनी हर पहचान खो रहे हैं। वहीं दूसरी ओर एक परिवार जो गरीब तो है लेकिन अपने लोकगीत और परब, त्यौहार, खान-पान को बचाने का प्रयास करता है। करम परब के समय मांदर बजाकर, गाकर, नाचकर अपनी भाषा संस्कृति व आध्यात्मिकता को बचाने के लिए जद्दोजहद करता है।

निरंजन कुजूर की अगली फिल्म 'एड़पा काना' है। यह एक आदिवासी युवक के भावनात्मक समस्या पर आधारित है। नायक एक ईसाई आदिवासी लड़की से प्रेम कर बैठा है। लड़के के घर में दबाव है कि वह लड़की को 'सरना' बनाए जबकि लड़की के घर में दबाव है कि वह लड़के को 'ईसाई' बनाए। इसी अन्तर्द्वंद्व को फिल्म में शहर और ग्रामीण परिवेश में कुशलता से फिल्माया गया है। यह फिल्म जून 2015 में त्रिवेन्द्रम डोक्यूमेन्ट्री एंड शॉर्ट फीचर फिल्म के अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में स्पेशल जूरी मेन्शन अवार्ड से नवाजी जा चुकी है। यह बीजिंग इंटरनेशनल फिल्म फेस्टिवल के लिए भी चुनी गई। पिछले दिनों मुंबई इंटरनेशनल फिल्म फेस्टीवल में एड़पा काना को बेस्ट स्टुडेन्ट फिल्म का अवार्ड मिला। इस फिल्म को ऑडियोग्राफी के लिए रजत कमल का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला है।

निरंजन कुजूर निर्देशित एक और लघु कथा फिल्म 'मदर' है जो ताइवानी कलाकारों के साथ 'मैन्ड्रिन चायनीज' में बनाई है। निरंजन सम्भवत: झारखंड के पहले आदिवासी निर्देशक हैं जिन्होंने भाषाई सीमाओं को लांघा है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर फिल्म बनाई है। यह फिल्म भी अपनी कलात्मक प्रस्तुति के लिए कई देशी विदेशी विद्वानों, समीक्षकों द्वारा सराही जा चुकी है।

इस क्रम में 'शिवशंकर उरांव' की फिल्म शिसरासिता नाले' (1995) की चर्चा करना भी जरूरी है क्योंकि यह सम्भवत: पहली कुड़ुख फिल्म है जो कुड़ुख लोगों के अध्यात्म को उनके धार्मिक विश्वास को पहचानने और जानने का प्रयास करती है। यह फिल्म तब बनी थी, जब आज की तरह शूटिंग करने की आधुनिक बेहतर तकनीकी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं। गाँवों में लोग शिवशंकर द्वारा फिल्म को बनाने और दिखाने के जुनून को आज भी याद करते हैं। उरांव लोगों के लिए इस फिल्म का महत्व अलग ही है।

संसाधनों, कलाकारों, पूँजी आदि की भीषण कमी के बाद भी स्वयं कुँड़ुख लोगों ने अपने समाज के लिए फिल्म बनाने की चेष्टा की है। इन फिल्मकारों के जज्बे का सराहना की जानी चाहिए कि वे विपरीत स्थिति में कुड़ुख फिल्म बनाने की जिद्द में अड़े हैं और कुड़ुख भाषा और समाज को बचाने के लिए संघर्षरत हैं। निश्चय ही इनमें से कुछ फिल्में अभी युवा फिल्मकारों द्वारा बनायी गई है। अत:, सम्भव है निर्देशन एवं प्रस्तुति में कमी दिख सकती है। लेकिन इन फिल्मकारों ने साबित किया है कि भले वे अनुभव में कच्चे हैं लेकिन प्रासंगिक एवं नये विषयों के साथ आदिवासी जीवन पर फिल्में बनाने की जबरदस्त इच्छा रखते हैं। इनमें न तो प्रतिभा की कमी है और न तो जज्बे की। कमी है तो सामाजिक समर्थन की और निर्माताओं की। इनमें से कुछ देश की प्रसिद्ध संस्थानों से प्रशिक्षित फिल्मकार हैं। साथ ही इनकी एक विशेषता यह है कि वे अपनी भाषा, संस्कृति, इतिहास, परम्परा, जीवन शैली को लेकर किसी हीनता से ग्रसित नहीं हैं और इसी परिवेश से कई कई सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों के उज्जवल पक्ष को खोज निकालने में सक्षम हैं। इन नए फिल्मकारों की यह सबसे बड़ी विशेषता एवं ताकत है। वे हर सवालों से टकराते दिखते हैं। मुद्दा चाहे विकास, पर्यावरण, शोषण, अत्याचार, संस्कृति, भाषा, राजनीति, नक्सलवाद, अध्यात्म कुछ भी हो वे इन सवालों से जूझने का प्रयास करते हैं।

आदिवासी फिल्मों के बारे रंजीत उरांव कहते हैं कि–'हमारे पास दो रास्ते हैं अपनी कहानी कहने की। पहला अश्वेत अफ्रीकी अमरीकियों का जिसमें उन्हें आज भी हॉलीवुड में अपनी जगह बनाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है और दूसरा आस्ट्रेलियाई आदिवासियों का जिन्होंने आज से चालीस साल पहले एक पौधा लगाया था जो आज फल फूल रहा है। मेरी फिल्म 'पेनाल्टी कॉर्नर' एक छोटी सी कोशिश थी आदिवासी कहानी कहने की। मेरे जैसे कई आदिवासी फिल्मकार हैं जैसे– निरंजन कुजूर, राम कृष्णा सोरेन, सेराल मुर्मु आदि। ये सभी अपनी फिल्मों में आदिवासी भाषा, आदिवासी लोग, उनका संघर्ष, आदिवासी दर्शन को दर्शा रहे है। भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान और सत्यजित रे फिल्म एंड टेलीवीजन संस्थान से कई युवा प्रशिक्षित होकर निकल रहे हैं। उम्मीद है कि आने वाले समय में इनमें से कई अपना सिनेमा बनायेंगे। तब हमें कई सारी आदिवासी कहानियाँ परदे पर देखने को मिलेंगी जिसमें आदिवासी अपने वास्तविक रूप में दिखाई देंगे। वे जैसे हैं। अपनी निर्दोष आत्माओं के साथ।'

सन् 2014

ईसा मसीह के जीवन के अंतिम बारह घंटे

ईसा मसीह के जीवन के अंतिम बारह घंटे कैसे बीते? एक ईसाई या ईसाई धर्म में रूचि रखनेवाला बता सकता है कि यह कितना कष्टदायक रहा होगा। इसी विषय को आधार बनाकर निर्मित मेल गिब्सन की फिल्म 'दि पैशन ऑफ क्राइस्ट' हाल ही में अमेरिका एवं कनाडा के विभिन्न सिनेमा हॉलों में प्रदर्शन के लिए रिलीज हुई और जैसा कि हर धार्मिक फिल्मों के साथ होता है, यह भी सभी को संतुष्ट करने में असफल रही है। नतीजा फिल्म की आलोचना। किन्तु अभी तक कुछ यहूदी समर्थकों के कुछ प्रदर्शन को छोड़ वहाँ की समझदार जनता ने न तो कहीं हॉल जलाया, न ही बेहूदा विरोध प्रदर्शन किया, बल्कि इस फिल्म की अच्छाइयों एवं बुराइयों को गंभीर मुद्दा बनाकर बहस करने में जुट गई।

कुछ लोगों ने आरोप लगाया कि फिल्म में ईसा मसीह के समय की वेशभूषा को सही ढंग से नहीं दिखाया गया है। किसी ने इसे यहूदी विरोधी बताया। किसी ने भाषा को लेकर प्रश्न उठाया और बताया कि फिल्म में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह उचित नहीं है। विशेषज्ञों की राय है कि जिस भाषा का प्रयोग फिल्म में किया गया है, वह तत्कालीन येरूशलम में प्रचलन में नहीं था। फिल्म में पात्रों को लैटिन एवं अरामैक बोलते दिखाया गया है, जबकि विशेषज्ञों की राय में वहाँ तब ग्रीक एवं हिब्रू के साथ अरामैक भी बोली जाती थी। इसी प्रकार ईसा मसीह के केश-विन्यास पर भी टिप्पणी की गई है और इस पर कई लोगों ने अप्रसन्नता व्यक्त की है। फलतः, मेल गिब्सन को कहना पड़ा कि 'ईसा चरित की यह मेरी अपनी व्याख्या है और मैंने वही दिखाने का प्रयास किया है।'

मेल गिब्सन एक पारंपरिक कैथोलिक परिवार से हैं और इस फिल्म के निर्माण के क्रम में वे ट्वेन्टिएथ सेंचुरी फॉक्स वालों से भी मिले, किन्तु उन्हें निराशा ही हाथ लगी। इसके अलावा भी कई कंपनियों ने गिब्सन के विचारों से फिल्म बनाने से मना किया। अंततः न्यू टाइम पिक्चर्स से मामला तय हुआ। फिल्म को प्रामाणिक बनाने का महत्वाकांक्षा ने उसे लगभग 30 लाख डॉलर अपनी जेब से लगाने के लिए विवश किया। उन्होंने संत जॉन के न्यू टेस्टामेंट को फिल्म को आधार बनाया और अपने साथी पटकथा-लेखकों से गहन शोध-कार्य करवाया ताकि ईसा मसीह के जीवन के अंतिम 12 घंटों को दो घंटे की फिल्म में प्रभावी एवं सशक्त ढंग से उतारा जा सके। गिब्सन ने फिल्म का विशेष शो अमेरिका के प्रमुख आध्यात्मिक हस्ती बिली ग्राहम के अलावा एक शो वेटिकन सिटी में पोप के लिए भी विशेश रूप से आयोजित किया और इनसे प्रशंसा पाकर यह फिल्म कनाडा एवं समस्त अमेरिका में अंग्रेजी सब-टाइटल के साथ रिलीज हुई।

जिस तरह फिल्म का स्वागत हुआ है, उससे प्रतीत होता है कि कुछ सप्ताहों के अंदर ही गिब्सन के पैसे वसूल हो जाएँगे और यह फिल्म निर्माण के इतिहास में नए

कीर्तिमान बना सकती है। कई चर्च के अधिकारियों एवं स्कूलों द्वारा पूरा हॉल ही फिल्म देखने के लिए बुक किए जाने की खबर है और कई-कई सप्ताह के लिए फिल्म देखने के लिए एडवांस बुकिंग जारी है।

फिल्म के कुछ दृश्यों को लेकर आशंका व्यक्त की जा रही है कि यह यहूदी विरोधी वातावरण को पुन: हवा दे सकता है, क्योंकि जिस तरह से ईसा मसीह को क्रूस पर चढ़ाये जाने के लिए यहूदी प्रशासनिकों एवं जनता को फिल्म में चित्रित किया गया है, वह कई लोगों के मन में यही आशंका पैदा करती हैं। ईसा मसीह को क्रूस ढुलाकर कोड़े मारने-पीटने, लात-घूसे मारने आदि के दृश्य बहुत ही मर्मांतक है।

'काउंट ऑफ मोंटे क्रिस्टो एवं एंजेल आईज' जैसी फिल्मों में अभिनय कर चुके तैंतीस वर्षीय जेम्स कैविजेल ने ईसा मसीह की भूमिका निभाई है। फिल्म की शूटिंग इटली के कई क्षेत्रों में की गई और कुछ दृश्यों की शूटिंग स्टूडियों में। इटली में शूटिंग के दौरान कई विचित्र घटनाएँ घटीं, जिसमें एक यह है कि कैविजेल एवं फिल्म के सहायक निर्देशक के ऊपर एक दिन बिजली गिरी किन्तु दोनों सही सलामत बच गए और सामान्य दिनों की तरह ही उन्होंने उस दिन कार्य किया। जब यह समाचार लोगों तक पहुँचा तो कइयों ने कहा कि फिल्म बनाने की अनुमति एवं आशीर्वाद ईश्वर ने दे दिया। फिल्म का अनुवाद 850 भाषाओं में किया जा रहा है। निश्चय ही अन्य फिल्मों की तरह भारत भी इस फिल्म का एक बड़ा बिक्री केंद्र होगा क्योंकि हॉलीवुड की फिल्मों के एशिया के पाँच बड़े बिक्री केद्र वाले देशों में से भारत भी एक है। प्रश्न है भारतीय फिल्म निर्माताओं, वितरकों के पास इस फिल्म का जवाब क्या होगा? यह तो बाद में पता चलेगा लेकिन अमेरिका और दुनिया के कुछ हिस्सों में इस फिल्म का जैसा विरोध किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह फिल्म भविष्य में विवादों के घेरे में घिर सकती है क्योंकि धार्मिक कट्टरपंथियों को किसी धर्म की स्थापनाएँ एवं मुद्दे समान रूप से स्वीकार्य नहीं होते।

2007

अपनी भाषा संस्कृति से जुड़ते युवा आदिवासी फिल्मकार

प्रसिद्ध बंगाली फिल्मकार ऋत्विक घटक ने 1953-54 में उराँवों के जीवन पर एक डोक्यूमेंट्री फिल्म बनायी थी 'दि उराँवस' जिसकी शूटिंग इटकी के निकट रानी खटंगा गाँव में और उसके आस-पास के गाँवों में की गयी थी। उराँव या कहें आदिवासी समाज को समझने का तब यह बिहार सरकार का सम्भवत: पहला सरकारी प्रयास था। लेकिन उसके वर्षों बाद ऋत्विक घटक ने ही अजान्त्रिक बँगला फिल्म में आदिवासी जीवन की झलकियाँ दिखाने का प्रयास किया। लेकिन, किसी आदिवासी कलाकार द्वारा किसी फिल्म में काम करने का मौका विश्वनाथ भगत को ही मिल पाया जब वे

दो बँगला फिल्मों में सहनायक बने। उन्हें विक्टर बनर्जी जैसे कलाकार के साथ काम करने का अवसर मिला। इसके बाद जब फिल्मों के लिए वातावरण तैयार हो रहा था तो 'सच्चिदानन्द खलखो' ने 'प्रीत' फिल्म के अलावा भी दूरदर्शन के लिए कई लघु कथा फिल्में बनायीं।

तमाम तरह की कठिनाइयों, विपरीत स्थितियों के बावजूद आज झारखंड गठन के बाद एक नयी तरह की सांस्कृतिक आत्मविश्वास नयी पीढ़ी में दिख रही है जो अपनी पुरानी पीढ़ी से अनुभव में भले कम हो लेकिन दृष्टि, ज्ञान एवं तकनीक के मामले में उनसे बेहतर होने के कारण भविष्य में अच्छे काम करने हेतु सक्षम दिखती है। अस्सी के दशक में राँची में सिने सोसायटी या थियेटर सेंटर के कार्यक्रमों में इक्का-दुक्का आदिवासी ही शामिल होते थे और उन्हें अपने बंगाली मित्रों से सुनना पड़ता था– अरे, कुछ और लोगों को भी लाओ। लेकिन बदली परिस्थिति में अब कुछ लोग इस समाज में उभर रहे हैं जो खुद अपने कलाकारों एवं अपनी पसन्द की कहानी पर फिल्म बनाना आरम्भ कर चुके हैं। इस क्रम में जमशेदपुर का संताली समाज नाटक, कला, फिल्म के क्षेत्र में अन्य आदिवासी समुदाय के मुकाबले आगे है। संताली में दशरथ हाँसदा कई सफल व्यावासायिक फिल्में बना चुके हैं। लेकिन मुंडा, हो, उराँव, खड़िया आदि आदिवासी भाषाओं में फिल्में बहुत ही कम या कहें न के बराबर बनी हैं। कुछ साल पहले राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित फिल्मकार बीजू टोप्पो ने कुडुख भाषा में कोड़ा राजी जैसी शोधपरक एवं चर्चित डोक्यूमेंट्री बनाने के अलावा पहली उराँव लघु कथा फिल्म सोना गही पिंजरा (सोने का पिंजरा) भी बनायी है। फिल्म एक ऐसे युवा के दर्द को बयान करती है जो नौकरी कर रहा है और एक आदिवासी परब में दफ्तरी व्यस्तता के कारण घर जा नहीं पाता है, क्योंकि इसके लिए दफ्तर में अवकाश नहीं है। फिल्म में नायक अपने घर को याद करता है और अखड़ा, नृत्य, आदिवासी रीति-रिवाज, गाँव, माँदर, झरा आदि फिल्म में उसके दर्द को उभारते हैं। आदिवासी परब-त्योहारों के प्रति दिखाई जा रही उपेक्षा के प्रति नायक की बेबसी को चित्रित किया गया है। इसके विपरीत सत्यजित राय फिल्म एवं टी.वी. संस्थान से निर्देशन का कोर्स पूरा कर रहे निरंजन कुजूर ने 'पहाड़ा' फिल्म में नक्सल प्रभावित एक आदिवासी परिवार की तकलीफ को दिखाने की कोशिश की है। यह फिल्म उराँव भाषा में बनी है और सम्भवतः झारखंड के किसी युवा फिल्मकार द्वारा उक्त संस्थान में किसी आदिवासी भाषा में बनायी गयी पहली फिल्म है। निरंजन कुजूर, तुर्की फिल्मकार नूरी सेलान को अपना आदर्श मानते हैं। जब नूरी को फिल्म बनाने के लिए प्रशिक्षित कलाकार नहीं मिले तो उन्होंने अपने सगे-सम्बन्धियों को फिल्म में अभिनय कराया था। पहाड़ा फिल्म के कलाकार सुमित्रा उराँव, महादेव एवं बाल कलाकार अमृत उराँव उसके सगे-सम्बन्धी हैं। इस तरह आदिवासी भाषा में फिल्म बनाने के लिए उन्होंने एक नया मॉडल भी तैयार कर लिया है जो भविष्य के फिल्मकारों के लिए अनुकरणीय हो सकता है। क्योंकि आदिवासी भाषा रीति-रिवाजों, परम्पराओं, जीवन-पद्धति से ये देशज कलाकार पहले से परिचित होते हैं।

इसी तरह एक अन्य उभरता फिल्मकार रंजीत उराँव, फिल्म एवं टी.वी. संस्थान पुणे से निर्देशन का कोर्स पूरा कर रहा है और उसने 'अश्विनी कुमार पंकज' की कहानी 'पेनाल्टी कॉर्नर' को अपने फिल्म निर्माण के लिए चुना है। यह फिल्म भी उराँव भाषा में बनायी जा रही है जिसकी शूटिंग इसी महीने की जायेगी। रंजीत भी आदिवासी जीवन को बड़े पर्दे पर दिखाने के इच्छुक हैं।

प्राय: सभी उभरते आदिवासी फिल्मकार, फिल्मों में आदिवासी जीवन के नकली चित्र से खासे नाराज दिखते हैं। अब जब फिल्म बनाने की क्षमता उनमें आ गयी है तो यह देखना नया अनुभव होगा कि फिल्मों में आदिवासी जीवन, कला–संस्कृति, भाषा, रीति–रिवाज, जीवन के संघर्षों, जीवन–दर्शन, अध्यात्म, विस्थापन, जल, जंगल, जमीन एवं जमीर से जुड़ी समस्याओं को वे कैसे देखते और चित्रित करते हैं। निश्चय ही इन प्रश्नों के घेरे में उनकी मंजिलें आसान नहीं हैं। लेकिन ये गाँव से विभिन्न महानगरों में अँग्रेजी में पढ़ाई–लिखाई पूरी करने वाली इस नयी पीढ़ी द्वारा अपनी मातृभाषा में फिल्म बनाने के उनके जज्बे को सलाम तो किया ही जा सकता है। क्योंकि महानगरों की चकाचौंध में रहकर भी उन्होंने अपनी मातृभाषा और माँयमाटी को याद रखा और वहाँ के सुख–दु:ख को समझने के लिए झारखंड को चुना।

28.09.2012 के प्रभात खबर में प्रकाशित

झाड़वुड की फिल्में कहीं झाड़खंडी 'मुनू' तो कहीं बॉलीवुड का 'सीठा'

पिछले कुछ महीने पहले रांची जाना हुआ। अपनी व्यस्तता के कारण भतीजे से आग्रह किया कि कुछ उरांव, मुण्डा, नागपुरी लोकगीतों के कैसेट ले आना। जब कोलकाता लौटने लगा तो भतीजे ने कुछ सीडी दिये और बताया कि 'जैसा ओरीरिजनल ठेठटाइप का गाना आप चाह रहे हैं वैसा बाजार में अभी नहीं है और जहाँ वैसे कैसेट मिलते हैं वह दुकान बन्द है इसलिए दूसरे यानी आधुनिक नागपुरी गानों के सीडी और कुछ कैसेट ले जाइये बाद में हम कुछ और भिजवा देंगे।' मैं सीडी और कैसेट ले आया। आते ही बच्चों ने सारे सीडी का मुआयना कर लिया और मैं धीरे–धीरे ही वे फिल्में या कहें गानों के सीडी देख पाया।

गीत एवं नृत्य के सी.डी.

कुछ सीडी देखकर गुस्सा आया, कुछ देखकर शर्मिन्दगी भी महसूस हुई और कुछ सीडी देखकर अच्छा भी लगा। अधिकांश सीडी लोकप्रिय गानों के आधुनिक नाट्य रूपान्तर या कहें इनके फिल्मी संस्करण थे। इनमें युवा तो नहीं कहूँगा किशोरों की

भागीदारी अधिक थी। कुछ कर दिखाने का जोश या अपने को परदे पर देखने की ललक या प्रसिद्ध होने की महत्वाकांक्षा या शायद इन तीनों का मिश्रण। हाँ, अधिकांश कैसेटों में झारखंड की चर्चा या कहें झारखंड के लोकजीवन को दिखाने का उत्साह जरूर दिख रही थी। कुछ प्रहसन के रूप में, कुछ उपदेशात्मक रूप में। लेकिन, झारखंड यहाँ अपने सतही रूप में ही मौजूद दिखा। जिस तरह बंबईया व्यावसायिक फिल्मों ने भारतीय जीवन का एक नकली किन्तु मनोरंजक दुनिया विकसित कर दिया है लगभग उसी तरह से झारखंड के कुछ दृष्टिहीन व्यवसायी किस्म के ये फिल्मकार या वीडियो फिल्म निर्माताओं ने एक झारखंडी लोकजीवन को कार्टून रूप में मनोरंजन के नाम पर अर्द्धशिक्षित, नवसाक्षर जनता तथा कुछ नवधनाढ्यो के लिए परोसने की हड़बड़ी दिखा रहे हैं। यह नवगठित राज्य के सांस्कृतिक आकांक्षा को लूटने के लिए किया गया एक सुनियोजित कुप्रयास भी है। निश्चय ही नए राज्य के गठन के बाद आज हर क्षेत्र में एक बड़ा झारखंडी बाजार भी खुल गया है, जहाँ व्यवसाय कुशल लोग इस बहती गंगा में हाथ धोने की जल्दी में हैं। वीडियो फिल्म निर्माण भी उनमें से एक है। लेकिन हर कोई ऐसे ही है क्या? शायद नहीं। कई लोग सचमुच ही झारखंड में गम्भीर हैं अपने विषय को लेकर, अपनी फिल्मों को लेकर भी।

वीडियो फिल्मों का वर्गीकरण

रांची के आस पास बन रही इन फिल्मों को विषय की दृष्टि से तीन समूहों में बाँटा जा सकता है। पहला समूह है गानों का नृत्य रूपांतर, दूसरा समूह है स्थानीय भाषाओं में बन रहीं कथा फिल्मों का और तीसरा समूह है विकास, संस्कृति एवं जन-आन्दोलनों से जुड़ी फिल्मों का। पहले समूह की फिल्मों में जहाँ कई प्रेमगीत आदि हैं वहीं कुछ प्रसिद्ध गीतों के फिल्मांतरण की भी कोशिश की गई है। जैसे– जा तो गोईया लानी देबे सोना कर माला रूपा कर बाला। गाने के भावों का यहाँ उतनी अच्छी तरह से फिल्मांकित नहीं किया जा सका है। इसी तरह– कहाँ से लाऊँगा मैं छापा साड़ी, कहाँ से लाऊँगा मोटर गाड़ी, तुम्हें अपना बनाने के पहले मेरी जान मुझे सोचना पड़ेगा– यह गाना एक समय में काफी लोकप्रिय रहा था और गायक का दर्द पूरी तरह गाने में उभर कर आता है। किन्तु, इस गाने का फिल्मांकन उस ऊँचाई को नहीं छूता जैसा कि गाना। विजातीय प्रेम से उपजी पीड़ा को स्पष्ट शब्दों में कहा गया है 'तोर संग कहाँ जोड़ी, मैं हूँ आदिवासी तुम हो बंगाली' निश्चय ही यह व्यथा आज भी इस क्षेत्र में बरकरार है, दूसरी स्थितियों में भी। इसके विपरीत कुछ गानों में दिल की बातों की कहने की कल्पना बहुत ही रोचक है। जहाँ बिछड़ रहे प्रेमी अपनी बातों को 'पोरा (पुआल) कर डोरा' से कहने की बातें करते हैं। गाने के बोल हैं 'पोरा कर डोरा, डोरा कर तार, दिल कर एस.टी.डी. बूथ से डायल करबे, दिल कर एस.टी.डी. बूथ से फोन करबे', (पुआल की रस्सी, रस्सी का तार, दिल के एस.टी.डी. बूथ डायल करना, दिल के एस.टी.डी. बूथ से फोन करना)। झारखंड में मेला एवं जतरा की अपनी समृद्ध परम्परा

रही है। मेला जाने का उत्साह गाँव में बच्चों एवं महिलाओं के लिए विशेष आकर्षण रखता है। मेला जाते एक परिवार के उत्साह को दिखाया गया है जो अपनी पुरानी सायकिल को चलाते परेशान है और पृष्ठभूमि में गाना बजता है– लेझड़ सायकिल, झेझड़ सायकिल पेरते होल मोर डांडा ढील, जात रही अका बका फेकाय गेलक अगला चक्का। इस गाने को काफी मनोरंजक ढंग से पेश किया गया है। एक अन्य गाना– सुन्दर दिसय रूप सलोना, प्रीत रंगे, प्रेम जाले बझाले में– का फिल्मांकन अच्छा है। पनघट डहरे रिगी बिगी छोंड़ी रे, माथा ऊपरे भरले गगरी, धीरे धीरे, रासे रासे चलय, गाने में रियो रियो सलय सलय जैसे देशज तुक का उत्तम उपयोग किया गया है। लेकिन, इसके विपरीत कई गानों में एक किस्म का रूखड़ापन है जो न मन को भाते हैं। न कान को। लेकिन, वे युवा लोगों को पसन्द हैं। अत: वे चलेंगे भी, बजेंगे भी। इन वीडियो कैसेटों को देखते यह तो स्पष्ट हुआ कि ये सभी लोकगीतों के आधुनिक संस्करण हैं अथवा कुछ गीत तो सीधे हिन्दी फिल्मी गीतों से प्रभावित लगते हैं। यहाँ पर झारखंडी भाषाओं के गीतकार थोड़ा श्रम करें और देशज मुहावरों एवं स्थितियों को शब्दबद्ध करें तो बेहतर होगा। इसी तरह फिल्मकार मुम्बई की ओर ही न ताकें वे और जगहों से भी प्रस्तुतिकरण के नए तरीके सीख सकते हैं।

झाड़खंड की प्राकृतिक सौन्दर्य को समेटने का प्रयास

एक विडियो फिल्म 'सोनी आई लव यू' देखने का भी अवसर मिला। कहानी आम बम्बईया फिल्मों जैसी ही है। इसे झाड़खंडी संस्करण दिया गया, कह सकते हैं। सोनी, सवर्ण समाज की लडकी है जो एक आदिवासी लड़के से प्रेम कर बैठी है। स्वाभाविक है लड़की के घर में इसका विरोध होता है। नायिका घर से भाग जाती है और अन्तत: अपने भाई के किराए के हत्यारों द्वारा मारी जाती है। इस फिल्म के कुछ शॉट काफी अच्छे हैं। फिल्म को शुद्ध व्यावसायिक रूप से बनाया गया है यह स्पष्ट है। फिल्म में प्रेम भावनाओं को स्थानीय रंग देने का कुछ प्रयास अच्छा है जैसे नायिका से प्यार का इजहार करते हुए मेन रोड जाम कर देने का गीत एकदम से स्थानीय प्रेमी जनों को छू जाता है। इसी तरह रांची के कई स्थानों के सौन्दर्य को जाने या अनजाने फिल्माया गया है, जिसमें अन्तिम गाने का दृश्य काफी आकर्षक है जहाँ रांची स्थित एक वाटर फॉल के सौन्दर्य को खूबसूरती के साथ फिल्माया गया है। जबकि गानों से सम्बन्धित कई कैसेटों में यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को दिखाने की कल्पनाशीलता बहुत ही कम दिखाई दी। निश्चय ही ऐसे सुन्दर दृश्य बड़े पर्दे में बेहद मनोरम दिखेंगे। किन्तु, इस फिल्म के कुछ गाने बम्बईया गानों के शुद्ध अनुवाद से लगे जैसे एक गाने की ये दो पंक्तियाँ– नजईर कर मिलना गजब होय गेलऊ, न हम होश में ही न दिल होश में हऊ। फिलहाल आशा तो की ही जा सकती है कि लोग अनुभव से सीखेंगे और हर प्रकार से बेहतर फिल्म बनाने की चेष्टा करेंगे। इस प्रयास के पहले बनी फीचर फिल्में आक्रान्त, सोना कर नागपुर एवं प्रीत की टीम द्वारा किए पहल के ये अगले कदम माने जा सकते हैं। लेकिन, ये फिल्में इस तरह

व्यावसायिक नहीं थीं जैसा कि अब है। अभी हाल में ही महान क्रान्तिकारी बिरसा मुण्डा के जीवन पर अमिताभ दासगुप्ता निर्देशित अबुआ बिरसा के नाम से एक घंटे चालीस मिनट की फिल्म बनाई गई है। इसमें बिरसा की भूमिका राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के स्नातक सुब्रत दत्ता ने निभाई है और इसके 70 प्रतिशत कलाकार स्थानीय हैं जिन्हें सरवदा, उलीहातू, मरंगहदा अदि स्थानों में तीन महीने का प्रशिक्षण देकर फिल्म में काम कराया गया है। फिल्म में आदिवासी वाद्ययंत्रों का भी उपयोग किया गया है। फिल्म को अभी देखा नहीं जा सका है अत: फिल्म के बारे कहना कठिन है। फिलहाल बिरसा के जीवन पर बनी इस फिल्म का स्वागत किया जाना चाहिए बशर्ते निर्देशक ने बिरसा को और तत्कालीन परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया हो।

विभिन्न समस्याओं को दर्शाती एवं जूझती झाड़खंडी डॉक्यूमेन्ट्री फिल्में

अस्सी के दशक में जब पर्यावरण की बात करना अनहोनी बात थी तब यहीं के फिल्मकार युवा फिल्मकार सच्चिदानन्द खलखो ने पर्यावरण पर एक गम्भीर फिल्म बना डाली थी जिसे देख प्रबुद्ध लोग तब अचम्भित हो गये थे। सम्भवत: इसी परम्परा को आगे बढ़ाते अब मेघनाथ, श्रीप्रकाश एवं बिजू टोप्पो जैसे युवा फिल्मकारों ने कई मुद्दों पर फिल्में बना डालीं। इन फिल्मों को देखकर भी कई लोग आश्चर्यचकित हैं यह देखकर कि ऐसी फिल्में भी बन सकतीं हैं! इन्होंने विशेषत: झारखंड में विनाशकारी विकास के कुरूप, क्रूर एवं अमानवीय चेहरे को जनता एवं बुद्धिजीवी वर्ग के सामने लाने का प्रयास किया है। लेकिन, झारखंड से जुड़े कई मुद्दे, प्रश्न, विषय, स्थान और समस्याएँ हैं जिनपर ढेरों फिल्में बन सकतीं हैं। ऐसी फिल्मों के दर्शक निश्चय ही कम लोग हैं किन्तु हर अच्छे कामों की शुरूआत तो इने गिने लोगों द्वारा ही की जाती है। मेघनाथ एवं बिजू टोप्पो द्वारा विकास के सवाल पर निर्देशित फिल्म विकास बन्दूक की नाल से काफी चर्चित रहीं है। इस फिल्म में गुजरात, मध्यप्रदेश, उड़ीसा एवं झारखंड आदि राज्यों के उन क्षेत्रों के लोगों से साक्षात्कार एवं दृश्य हैं जो विकास एवं विस्थापन की सामाजिक, आर्थिक प्रभावों की विद्रूपताओं, विभिन्न समस्याओं से पीड़ित हैं। इन घटनाओं को दिखाने के बाद– समस्या के समाधान देने का प्रयास इस फिल्म की विशेषता है। जहाँ ग्रामीण एवं देशज परम्पराओं को आधुनिक विकास के सन्दर्भ में उपयोगी बताया गया है और विनाशकारी विकास के सन्दर्भ में वैकल्पिक सर्वहितकारी विकास के मॉडल को ढूँढने की बेहतर चेष्टा की गई है।

इसके अलावा बिजू टोप्पो ने अभी हाल में चाय बगान में कार्यरत मजदूरों पर कुड़ुख भाषा में बहुत ही सुन्दर फिल्म बनाई है। यह फिल्म झारखंड से चाय बगान गये लोगों की दर्दनाक कहानी ही नहीं कहती है बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से चाय उत्पादन में झारखंडी मजदूरों के योगदान को भी दर्शाता है जो अपनी तंगहाली के बावजूद वहीं रहने के लिए विवश हैं। एक सवाल के जवाब में एक परिवार कहता है कि वे अब घर वापस आना नहीं चाहते क्योंकि वहाँ जाने पर वे खेत जिन्हें अभी उनके सम्बन्धी जोत रहे हैं

बंटकर और छोटे हो जायेंगे और किसी के लिए भी लाभकारी नहीं रह जायेंगे। उनका यह उत्तर दिल को गहरे तक छू जाता है।

श्रीप्रकाश ने झारखंड, नेतरहाट एवं कोयलकारो के आन्दोलन पर भी फिल्में बनाई है। किन्तु जादुगोड़ा यूरेनियम खान पर बनाई गई उनकी फिल्म बुद्धा वीप्स इन जादूगोड़ा न केवल चर्चित रही है बल्कि इसे जापान में ग्रैण्ड प्रिक्स के अलावा भी कई अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। यह फिल्म यूरेनियम से जुड़े अनेक मुद्दों को स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय सन्दर्भों में समझने का बहुआयामी प्रयास करती है। यह केवल विस्थापन की समस्या के बारे बात नहीं करती बल्कि यूरेनियम के प्रभाव से हो रहे विभिन्न खतरनाक बीमारियों के बारे में भी बताती है। फिल्म में सभी पक्षों के लोगों को अपनी बातें कहने देकर इसे सन्तुलित बनाने का जनतांत्रिक प्रयास किया गया है।

इसके अलावा ऐसे लोग भी विपरीत स्थितियों में ऊपर वर्णित तीन प्रकार की फिल्मों के अलावा चौथी प्रकार की फिल्में भी बना रहे हैं। शिवशंकर उरांव ने एक वीडियो फिल्म बनाई है सिरासिता नाले जिसे उन्होंने पहली कुड़ुख धार्मिक डॉक्यूमेंटरी फिल्म कहा है। यह फिल्म कुड़ुख भाषा में है और कुड़ुख लोगों के धार्मिक विश्वास के अनुसार इनके धर्म स्थल को खोजने की कहानी है। निश्चय ही इन फिल्मों को बॉलीवुड की तर्ज पर झालीवुड की फिल्में कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। झालीवुड का फिल्म निर्माण कार्य अभी शैशवास्था में है। हमारे फिल्मकार, तकनीशियन, पटकथाकार, कलाकार सभी समग्र फिल्म निर्माण का ककहरा सीख रहे हैं या ककहरा सीख कर फिल्मी वाक्य लिख रहे हैं। लेकिन, आश्चर्य नहीं कि तमाम विपरीत स्थितियों के बावजूद वे आज नहीं तो कल हर प्रकार से विविधतापूर्ण और बेहतर फिल्में बनायेंगे और ऐसा करते वक्त वे मुम्बई की अन्धी नकल न कर झारखंड की सांवली धरती को थोड़ा संवेदनशील होकर भी देखें उनसे यही अपेक्षा और आग्रह है। बेहतर फिल्में बनाने के लिए यहाँ भले कोई स्टूडियो नहीं है किन्तु विषयों की विविधता से यह क्षेत्र भरा पड़ा है, आकर्षक लोकेशनों की भी कोई कमी नहीं है बस जरूरत है फिल्मकार उन विषयों को पहचान सकें। अगर ऐसा हुआ तो आनेवाले दिनों में झाड़वुड में बेहतर एवं चर्चित फिल्में अवश्य बनेंगे भले वे गिनती में शायद दो, चार ही हों।

सन् 2004

'कोड़ा राजी' यानी चाय में है आदिवासी परिश्रम की खुशबू

आदिवासी अब तक फिल्मों के विषय बनते रहे हैं किन्तु, अब समय एवं परिस्थिति बदल गयी है और वे अब स्वयं अपने लिए, अपनी समस्याओं पर फिल्में बनाना आरम्भ कर चुके हैं। इसी का परिणाम है तरुण फिल्मकार बिजू टोप्पो की फिल्म कोड़ा राजी। फिल्म के बारे में बात करने के पहले चर्चा कर ली जाय कि कोड़ा राजी का

शाब्दिक अर्थ क्या है ताकि इससे अपरिचित आम दर्शक परिचित हो सके। हिन्दी में इसे कोड़ा राज कह सकते हैं यानी ऐसी जगह, क्षेत्र या अंचल जहाँ कोड़ने या खोदने का कार्य होता रहा है। कोड़ा राजी का अर्थ यही बताया जा सकता है कि आदिवासी पहले ऑफ सीजन में यानी अगहन, फसल आदि काटने के बाद अपने गाँव से दूर कोलकाता, बनारस, उत्तर प्रदेश, बंगाल, पटना आदि शहरों में रोजगार की तलाश में जाते थे। आरम्भ में इसे ही कोड़ा राज कहा गया। उराँव आदिवासी कुदाल से मिट्टी कोड़ने एवं बहँगी–झूड़ी से मिट्टी ढोने का कार्य अन्य किसी मजदूर से बेहतर एवं तेजी से करते हैं। अत: इनकी माँग ईंटभट्ठों में ज्यादा रही होगी। उनकी इसी कुशलता से उनके श्रम का बाजार बना होगा और कालान्तर में इस प्रकार के कार्य के लिए परदेश जाने की प्रक्रिया को आदिवासियों ने इसीलिए कोड़ा राज कहा होगा, क्योंकि उन्हें वहाँ कोड़ने का काम मिल जाता था। किन्तु, अपनी मेहनती प्रकृति के कारण बाद में वे अन्य श्रम–कार्यों से भी जुड़ गये और तब वे चाय बागानों के मजदूर बन गये। लेकिन, तब भी वे परदेश में काम करने को कोड़ा राज जाना ही कहते थे। हिन्दी में कोड़ा राज का भावात्मक अर्थ परदेश कहा जा सकता है, लेकिन, उराँव भाषा भाषियों के नजरिये से यह एकदम सटीक शब्द नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि परदेश, उनके जीवन–परिवेश में अन्तर्निहित कोड़ा राजी के अर्थ को पूरी तरह व्यक्त एवं प्रतिबिम्बित कर नहीं पाता।

फिलहाल कोड़ा राजी उराँव भाषा में बनी ऐसी फिल्म है जो अपनी मूल धरती झारखंड से कट गये उराँव आदिवासी मजदूरों के जीवन को जानने के प्रयास में चाय एवं चाय बागानों की जिन्दगी के बारे में ऐसा बहुत कुछ बताती है जिसके बारे में अधिकांश लोग अब भी अनजान हैं। यह फिल्म उनके जीने की अदम्य इच्छा को तो व्यक्त करती ही है, वह यह भी बताती है कि वर्षों अपने सम्बन्धियों से नहीं मिलने के बावजूद उनके लिए उनके मन में कितना त्याग एवं सम्मान है। परदेशी मजदूरों से स्नेह और उनसे जुड़कर जीने के लिए निरन्तर एकजुट रहना भी उनकी शक्ति है। किन्तु, पढ़े–लिखे बाबू वर्ग का भेदभावपूर्ण व्यवहार इन अपढ़ या कम पढ़-लिखे लोगों के साथ जैसा है, फिल्म इस प्रश्न को भी उठाती है।

फिल्म मजदूरों के आव्रजन की कथा तलाशते अतीत में भी चली जाती है जहाँ आप आदिवासियों के मजदूर बनने के कई ऐतिहासिक दस्तावेज एवं धरोहरों को भी देखते हैं। फिल्म उराँव मजदूरों की समस्या बताती, दर्शाती एक आदिवासी फिल्मकार की फिल्म–भर नहीं है बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि यह भारत को समझने और देखने के लिए एक बेहद संवेदनशील एवं अनुसन्धानकर्ता फिल्मकार का एक ऐसा प्रयास है, जिसे हर ऐसे जागरूक एवं समझदार नागरिक को देखना चाहिए जो भारत को उसकी सम्पूर्णता में उसके असली रूप में देखना चाहते हैं।

फिल्म में जीवन का विविध संघर्ष है। इसमें आँसू है, विरोध है, प्यार है, बन्धुत्व की भावना है, शान्ति की तलाश है, अन्याय से जूझने की चेतना भी है। दरअसल, फिल्म आदिवासियों के चाय बागानों में मजदूर बनने या बनाये जाने के इतिहास को,

वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सन्दर्भों में कई दृष्टियों से जानने का प्रयास करती है। इसके अलावा यह फिल्म चाय उत्पादन की पूरी प्रक्रिया को भी दिखलाती है।

चाय बागान के मजदूरों की कथा कहते फिल्म चाय के स्वाद को जानने के लिए भी एक जरूरी फिल्म है। जहाँ आप कसैलापन या मिठास क्या अनुभव करते हैं? इसलिए भी यह फिल्म देखें। लेकिन कुड़ुख भाषियों के लिए अपनी भाषा में बनी एवं 'अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार' से सम्मानित पहली कुड़ुख फिल्म को देखना एक रोमांच से कम नहीं है। पुरानी बुजुर्ग पीढ़ी को यह फिल्म पसन्द जरूर आयेगी। अपनी भाषा से कट रही, लेकिन अन्य क्षेत्रों में समझदार एवं महत्त्वाकांक्षी होती युवा पीढ़ी के लिए भी यह एक जरूरी फिल्म है।

सन् 2005

खेल

बंद, सुनसान सड़क, प्रार्थना, अगरबत्ती, क्रिकेट, तिरंगा और धोनी

किसी भी केन्द्रीय मन्त्री के आसाम आने पर अल्फा बन्द की घोषणा करती है और तब लगभग सब कुछ बन्द हो जाता है। आज 2 अप्रैल, 2011 है। प्रधानमन्त्री आसाम आने वाले हैं और अल्फा ने आसाम बन्द की घोषणा कर दी है। अल्फा के कारण, दफ्तर बन्द। यानी कैंटीन बन्द। अब दोपहर के भोजन की व्यवस्था करनी है। सोचता हूँ आज भारत श्रीलंका मैच का लुत्फ उठाने का अच्छा अवसर है। मुख्य सड़क से सटे बगल के छोटे रास्ते की ओर चल पड़ता हूँ। एक होटल खुला है। क्या मिलेगा? पूछने पर होटल वाला पराँठा, भात-मछली के बारे बताता है। मछली और भात खाने लगा हूँ और भारत को मैच जीतने तथा धोनी के अच्छा खेलने के बारे सोचता हूँ। क्योंकि अब तक वह अच्छा खेला नहीं है। बिल देते मैं खाने की प्रशंसा करता हूँ। होटलवाला पूछता है–'सर! केरल से हैं?' बताता हूँ– 'नहीं, झारखंड-राँची से'। वह अब ज्यादा खुश दिखाई देता है।'राँची, झारखंड से?' उसने पैसे वापस करते कहा– 'देखिये, धोनी वर्ल्ड कप जिताये इसके लिए हमलोग प्रार्थना कर रहे हैं। जीतेगा तो अच्छा लगेगा। आप भी प्रार्थना कीजिये'। मैं उसे आश्वस्त करता हूँ।

सड़कें सुनसान हैं। दुकानें बन्द हैं। कुछ सरकारी बसें चल रही हैं। पटना के मित्र मदन सिंह के साथ टीवी पर मैच देखता हूँ। श्रीलंका 274 रन बना चुकी है। इतने रन की उम्मीद नहीं कर रहा था। खैर शाम को दिल्ली के अखबार लेने निकल पड़ा हूँ। पेपर लेकर लौटते वक्त कोई मुझे टोकता है। देखता हूँ, एक अगरबत्ती वाला अगरबत्ती खरीदने का आग्रह कर रहा है। मैं एक छोटे पैकेट की माँग करता हूँ। वह कहता है– सर, सोमवार को मेरी बेटी का स्कूल में एडमिशन है कुछ ज्यादा पैसे चाहिए। वह बताता है कि एक व्यक्ति ने एक हजार की अगरबत्ती उससे खरीदी है। वह मुझसे कम-से-कम दो सौ रुपये की अगरबत्ती लेने का आग्रह करता है। अगरबत्ती बेचने का इमोशनल मार्केटिंग तो नहीं है यह? मैं मना करता हूँ। वह हाथ जोड़कर आग्रह करता है– सर, ले लीजिये। वह लगभग रोते हुए कहता है– मेरी बच्ची का एडमिशन हो जायेगा सर। आपके बच्चे ठीक रहें सर, आप जो चाहें वह मिले। अनिच्छा से अगरबत्ती ले लेता हूँ। लेकिन ये अगरबत्ती को लेकर मन में संशय है। घर आकर अगरबत्ती जलाता हूँ। चन्दन की खुशबू कमरे में फैल जाती है। अगरबत्तीवाले को सचमुच पैसे की जरूरत थी। अगर अगरबत्ती वाला ठीक आदमी है तो आज भारत को जीतना चाहिए। मैं सोचता हूँ। अपनी इस कमजोरी पर हँसी आती है। खैर अब भारत का खेल आरम्भ हो गया है और तीन विकेट गिर चुके हैं। धोनी और गम्भीर खेल रहे हैं। फिर जैसा कि पूरी दुनिया ने देखा इन्होंने अच्छा खेल दिखाया, लेकिन गम्भीर खेल के प्रति गम्भीरता नहीं बनाये रख सके आउट हो गये। डर लगने लगा कहीं

दक्षिण अफ्रीका जैसी कहानी तो नहीं दुहरायी जायेगी। खैर ऐसा कुछ नहीं हुआ। युवराज के साथ धोनी ने मोर्चा सँभाला। और धोनी ने छक्के के साथ भारत को वर्ल्ड कप जिता दिया। तेन्दुलकर की इच्छा पूरी हुई, साथ ही करोड़ों भारतीयों की। धोनी को मन–ही–मन धन्यवाद कहा। (अगले दिन गुवाहाटी के एक अखबार ने सचमुच यही शीर्षक मुख पृष्ठ पर प्रकाशित किया– थैंक यू धोनी)

मैच खत्म होते ही राँची, उड़ीसा, मुम्बई और आसाम के मित्रों, रिश्तेदारों के फोन पर बधाई मिले। राँची से बेटों ने बताया कि वे धोनी के घर की ओर जा रहे हैं। क्रिकेट के इस भारतीय जुनून का राष्ट्रीय और सामाजिक सन्दर्भ जाति, धर्म, भूगोल, लिंग, भाषा, खान–पान, रहन–सहन, उम्र की विविधता की परिधि से कहीं बहुत ऊँचा हो जाता है। तभी तो ब्रह्मपुत्र के नदी द्वीप माजुली में सिर्फ यह बताने से कि मैं धोनी के शहर से हूँ लोगों का व्यवहार मित्रतापूर्ण हो जाता है। भुवनेश्वर में यह जानने पर कि धोनी का घर, मेरे मुहल्ले में है तो ओड़िया मित्र मेरा परिचय देने लगे– 'ये हैं टोप्पो जी, धोनी के गाँव से।' शुरू में यह व्यंग्य लगा। लेकिन नहीं सचमुच यह उनका प्यार था। याद आया जयपुर में धोनी के 183 रनों की पारी। तब कोलकाता में बंगाली मित्रों के बधाई दर बधाई मिलते रहे। तब इसी अखबार पर लिखे लेख (ये लेड़का पागोल है क्या?) पर कोलकाता में तीन हफ्ते तक भूले–बिसरे मित्रों, रिश्तेदारों के फोन मिलते रहे। एक मित्र ने प्रभात खबर के कार्यालय से नम्बर लेकर मुझसे पैंतालीस मिनट तक बात की और कॉलेज के तमाम पुराने मित्रों के नम्बर दिये। तब अपने पुराने मित्रों से फिर जुड़ गया। न तो इसके पहले न इसके बाद कभी किसी लेख के लिए इतने फोन मिले जितना धोनी पर लिखे उस लेख के लिए। क्रिकेट मैदान के बाहर इसे देखना, महसूसना एक खेल से कम नहीं है। तब भी कहा था मैं धोनी का कुछ नहीं हूँ लेकिन लोगों के बधाई इसलिए मिलते रहे क्योंकि मैं उस शहर का हूँ जहाँ धोनी पले–बढ़े हैं। अब गुवाहाटी में भी वही बधाइयाँ! निश्चय ही कभी धोनी से मुलाकात हो तो मैं इसके लिए विशेष रूप से कृतज्ञता व्यक्त करना चाहूँगा।

बेशक आज धोनी सफलतम भारतीय कप्तान सिद्ध हो चुके हैं, जिसने क्रिकेट के हर प्रारूप में भारत को पहले नम्बर पर लाकर खड़ा कर दिया। विपरीत स्थिति में धैर्य बनाये रखना, जीत के लिए जोखिम लेना, अपने साथियों का समर्थन, प्रतिभाओं का सही समय पर उपयोग, गलतियों से सीखना, फ्रंट से नेतृत्व करना, अपने कर्तव्य के प्रति ईमानदार रहना, लक्ष्य तक पहुँचने तक शान्त–एकाग्रचित्त रहना आदि धोनी के कुछ ऐसे गुण हैं जिस पर काफी कुछ लिखा जा रहा है। मैनेजमेंट गुरु इसका और भी विश्लेषण करेंगे तो समाजविज्ञानी भी कुछ ढूँढ़ेंगे। स्वयं उसकी सफलता में 'मैनेज सेल्फ डेवलपमेंट (एमएसडी)' का फार्मूला खोज चुका हूँ। लेकिन कभी वे असफल हों तो राँची के दोस्तों से प्रार्थना है वे कठिन घड़ी में उसका साथ दें न कि उनके घर पर हमला करें। क्योंकि धोनी आज जिस मुकाम पर खड़े हैं और उन्होंने देश को, झारखंड को, राँची को जो खुशियाँ दी है, जो सम्मान दिलाया है, झारखंड सरकार उसे झारखंड रत्न का सम्मान दे भी तो वह कम होगा, क्योंकि धोनी उस शिखर पर पहुँच गये हैं जहाँ

धोनी के कारण, पुरस्कार सम्मानित होगी। ऐसा कहने के कारण है। आसाम में पिछले कुछ वर्षों से हूँ और 26 जनवरी या 15 अगस्त के दिन तिरंगा देखने के लिए जैसे तरसता रहा हूँ। इस दिन, कुछ सरकारी कार्यक्रमों के अलावा पूरे इलाके में बन्द जैसा माहौल रहता है। (अब इस स्थिति में थोड़ा बदलाव आया है) ऐसे शहर में या प्रदेश में धोनी के जीत का छक्का मारते ही लोग दौड़ते हुए, तो कोई बाईक में, तो कोई कार में, तिरंगा लेकर, चीखने-चिल्लाने लगें, बैंड बाजे के साथ बारह बजे रात को तिरंगा लेकर विजय-जुलूस निकालें, जश्न मनाने लगें, एक-दूसरे को गले लगाने लगें, गुलाल लगाने लगें, नाचने-गाने लगें, बम-पटाखे फोड़ने लगें तो सोचिये आपको कैसा लगेगा? लगा आज ही 15 अगस्त है, आज ही 26 जनवरी है, आज ही होली है, तो आज ही दीवाली है, ईद है, तो आज ही सरहुल है। अद्‌भुत नजारा, अद्‌भुत अनुभव था उस दिन का।

अप्रैल 2011

कविता और फुटबॉल के मैदान में सपनों के साथ ठिठोली

दिन रविवार। तीन तारीख, जनवरी दो हजार दस। सामान्य दिनों से कुछ अधिक ठंड। सबेरे देर तक कुहासे से गुवाहाटी शहर ढँका हुआ। प्रात: साढ़े दस बजे प्रेस क्लब गुवाहाटी में एक पुस्तक के विमोचन समारोह में सम्मिलित होने जा रहा हूँ। नेहरू स्टेडियम के रास्ते जाना है। देखा कोने के काउंटर से करीब-पच्चीस तीस लोग टिकट खरीद रहे हैं। याद आया आज फेडरेशन कप का फाइनल खेला जाना है। बाईचुंग भूटिया की कप्तानी में ईस्ट बंगाल का मुकाबला पहली बार नॉर्थ ईस्ट से फाइनल में पहुँचे शिलांग की लाजोंग फुटबाल क्लब से है। पिछले कई दिनों से फुटबॉल प्रेमियों से लाजोंग-लाजोंग सुन रहा हूँ और राह चलते फुटबॉल प्रेमी युवाओं के मुख से लाजोंग की प्रशंसा सुन रहा हूँ। अखबार में भी लाजोंग की इस सफलता को परीकथा के सच होने जैसा बताया गया है। अत: प्लान बनाता चल रहा हूँ कि पुस्तक विमोचन से लौटते समय टिकट खरीदूँगा।

नेहरू पार्क से बढ़कर फलाईओवर से ऑटोवाले दाहिनी ओर घूम गया है। उससे कहता हूँ कि भाई आप गलत जगह ले जा रहे हैं। वह मानता नहीं और गुवाहाटी प्रेस क्लब के बदले गुवाहाटी क्लब पहुँचा दिया है। उसे फिर बताता हूँ कि गुवाहाटी क्लब नहीं गुवाहाटी प्रेस कल्ब जाना है तो वह उतरकर इसके बारे में पूछताछ करने के बाद फिर ऑटो स्टार्ट कर पहले मेरे द्वारा बताये रास्ते पर चल देता है। कुछ मिनट बाद में गुवाहाटी प्रेस कल्ब पहुँच गया हूँ। दरअसल आज यहाँ दिनकर कुमार अनूदित असमिया कवि अवनी चक्रवर्ती के कविता-संग्रह का विमोचन होना है। दिनकर जी पिछले कई वर्षों से गुवाहाटी में हैं और सेंटीनल हिन्दी का सम्पादन कर रहे हैं। उन्होंने कुल चालीस से अधिक असमिया किताबों का हिन्दी में अनुवाद किया है। कविता के

क्षेत्र में भी वे बेहद सक्रिय हैं। उन्होंने निमन्त्रण दिया है कि विमोचन समारोह में आऊँ।

एक छोटे-से हॉल में समारोह की तैयारी चल रही था। दिनकर जी आ चुके थे। दो-चार लोग और थे। दिनकर जी ने उनसे परिचय कराया। कुछ देर बाद और बीस-पच्चीस लोग आ चुके थे। जिसमें हाल ही में परिचित कुछ कवि एवं साहित्य-प्रेमी लोग थे। कार्यक्रम बेहद सादगी से आरम्भ हुआ। गोयनका जी को पुस्तक विमोचन करना था और रविशंकर रवि को कार्यक्रम का संचालन करना था। सामने टेबल और तीन कुर्सियाँ थीं, पीछे विमोचन समारोह का बैनर जिसमें पुस्तक और कवि अवनी का चित्र था। कार्यक्रम की भूमिका में बताया गया कि कवि 'अवनी चक्रवर्ती' एक दिन 12 नवम्बर, 1992 को घर से सन्ध्या भ्रमण के लिए निकले और फिर आज तक नहीं लौटे। यह जानकर हतप्रभ रह गया। गहरा झटका लगा। कार्यक्रम आरम्भ होने तक सोच रहा था कि दिनकर जी अब-तब कवि से मिलायेंगे। लेकिन वे कैसे मिलाते कवि से। कोई एकदम से हमसे विदा ले ले तो ठीक, लेकिन यह कैसा दंश कि वह लौटा नहीं।

कार्यक्रम बेहद सादे ढंग से चला। आरम्भ में मंच पर गोयनका जी, दिनकर एवं रविशंकर जी का पुष्पगुच्छ से एवं असमिया परम्परानुसार गमछा ओढ़ाकर उनका स्वागत किया गया। रविशंकर जी ने अवनी चक्रवर्ती के बारे और असमिया कविता के बारे में बताया और उनकी लम्बी कविता 'सपनों के साथ एक दिन ठिठोली' पढ़ी। दिनकर जी ने कुछ कहने के बदले संग्रह के लिए लिखी भूमिका को पढ़ा और अन्तत: गोयनका जी ने अपना वक्तव्य दिया। सबसे अन्त में कवि पुत्री ने कविता-संग्रह के बारे बताया। समारोह के अन्त में सभी उपस्थित विद्वानों को संग्रह की एक-एक प्रति भेंट की गयी। संग्रह 96 पृष्ठों की और इसमें प्रवीण कुमार नाथ के चित्र-संग्रह को अन्यतम आकर्षण प्रदान करते हैं। समारोह समापन के बाद घर लौट रहा हूँ इस बार पैदल ही। देखा नेहरू स्टेडियम के दूसरे सिरे पर फुटबॉल टिकट की बिक्री हो रही है। अनजाने ही लाजोंग टीम का समर्थक हो गया हूँ। वर्षों से फुटबॉल का मैच नहीं देखा है। सो कदम खुद-ब-खुद काउंटर की ओर बढ़ जाते हैं और पचास रुपये का एक टिकट ले लेता हूँ। रास्ते में देखा कुछ उत्साही लड़के फुटबॉल के बारे बात कर रहे हैं। मुझे भूख लग रही है और एक दूकान में पराँठा बनते देख उधर बढ़ जाता हूँ, लेकिन कुछ दूर जाकर लौट आता हूँ और एक रोटी की माँग करता हूँ। होटल में कई एथलीट लड़के-लड़कियाँ भी नाश्ता कर रहे हैं। आलू की सब्जी के साथ एक रोटी कागज के चमचमाती पन्नी वाले प्लेट में परोसी गयी है। रोटी खाता हूँ लेकिन यह रोटी या पराँठा नहीं है क्योंकि इसके अन्दर अंडा भी मिलाया गया है, आमलेट जैसा। खैर यह अनजाना रोटी खाता हूँ। सम्भवत: यह अंडा पराँठा है। पैसे के लिए पूछा तो दूकानवाले ने सिर्फ दस रुपये की माँग की। आश्चर्य हुआ। मैं बीस-पच्चीस रुपये की उम्मीद लगाये था। तेजी से घर लौट रहा हूँ। अकेले होने की वजह से कई-कई काम खुद करने होते हैं। जब बस

से भांगागढ़ उतरा तो पाया कि कविता–संग्रह मेरे पास नहीं है। याद आया उसे होटल में छोड़ आया हूँ। फिर हड़बड़ाता दूसरी बस पकड़कर नेहरू स्टेडियम लौटता हूँ। हड़बड़ी में एक स्टॉपेज पहले ही उतर गया हूँ। दूकान वाले से किताब के बारे पूछता हूँ। वह अपना दराज खोल किताब दे देता है। मैं शुक्रिया अदा करता हूँ। खुशी हुई कि किताब मिल गयी– सपनों के साथ एक दिन ठिठोली।

अब फिर बस पकड़ घर आ गया हूँ। चूँकि तीन बजे तक मित्र मदन को कुर्सी–टेबल देना है, उसका इन्तजार कर रहा हूँ। आज उसके बच्चे का जन्म–दिन है। वह पहले ही निमन्त्रण दे चुका है। चूँकि नेहरू स्टेडियम भी पहुँचना है और मदन नहीं आ रहा है उन्हें फोन द्वारा सूचित करता हूँ कि वह आकर कुर्सी ले जाय मुझे मैच देखने जाना है। कई मित्र आते हैं कुर्सी ले जाते हैं। बस पकड़कर स्टेडियम जाने के रास्ते पर पहुँच गया हूँ। देखा, लाजोंग टीम के समर्थक पूरे जोश में हैं। कई सूमो, बसें एवं टैक्सियाँ शिलांग से आ रहीं है और उसमें से हर तीसरे या पाँचवें गाड़ी में लाजोंग के समर्थक हैं अपनी टीम का झंडा लहराते। मेघालय के मुख्यमंत्री ने विशेष बसों को चलाने की भी घोषणा कर दी थी। नेहरू स्टेडियम के पहले ही लम्बी लाइन लगी हुई है, मैं परेशान। इतनी लम्बी लाइन की कल्पना नहीं की थी। पुलिसवाले से पूछता हूँ तीन नम्बर गेट कैसे पहुँचूँगा। वह कहता है कि मैं लाइन में लग जाऊँ। कोलकाता में क्रिकेट मैच की और साल्ट लेक में इसी तरह फुटबॉल मैच की याद आयी। खैर लाइन में लग गया हूँ। बच्चे, बूढ़े, औरत, मर्द, लड़के, लड़कियाँ सभी एक लाइन में खड़े हैं। सभी जोश में। कुछ अति उत्साही लड़के पेंपा लेकर वातावरण को संगीतमय तो नहीं जोश भरे शोर से गर्म करने का प्रयास कर रहे हैं। सभी को मजा आ रहा है। धक्के खाता किसी तरह स्टेडियम के अन्दर आ गया हूँ। लेकिन ऊपर के सारे सीट भर चुके हैं। मन मसोसकर नीचे बैठा हूँ। वहीं कुछ लड़कियाँ भी बैठी हैं, निश्चय ही वे मेघालय से हैं। पास का दर्शक असमिया है वह लड़कियों से अँग्रेजी में बात करते लाजोंग का अर्थ पूछता है। लड़कियाँ गर्वपूर्वक बताती हैं– आवर ओउन। सवेरे लड़कों को बात करते सुना था उन्होंने इसका अर्थ बँगला में आमादेर बताया था। हिन्दी में इसे हमारा कहना उपयुक्त होगा। यह लाजोंग शब्द का जादू ही था कि स्टेडियम में 80 प्रतिशत दर्शक मेघालय से थे। जब 'हमारी फुटबॉल क्लब' फाइनल में पहुँचे तो फिर चुप कैसे रहना। शायद यही सारे मेघालय और शिलांग एवं गुवाहाटी वासियों के दिल में था। हो भी क्यों नहीं? नॉर्थ ईस्ट की कोई टीम पहली बार फेडरेशन कप फाइनल खेल रही है, जिसे बाईचुंग भूटिया के अलावा कई अन्तरराष्ट्रीय खिलाड़ियों के विरुद्ध खेलना है। यह अपने–आप में शिलांग की टीम के लिए गर्व की बात है। गोल पोस्ट के पीछे वाले स्टैंड में लाजोंग समर्थक भरे हैं और लाजोंग फुटबॉल क्लब बैनर के साथ ड्रम बजाते उसकी धुन में नाच एवं गा रहे हैं। यह नाच एवं गान मैच के अन्त तक चलता रहा। लाजोंग की टीम ने नब्बे मिनट तक के खेल को गोल रहित रखा और उसके बाद के अतिरिक्त समय में गोल नहीं होने दिया, जबकि वह अपने कई प्रमुख खिलाड़ियों के बगैर खेल रही थी।

अपने सपनों को सच करने का प्रयास वह अन्त तक करती रही। लेकिन अन्ततः वह पेनाल्टी शूट आउट में तीन शून्य से हार जाती है। लाजोंग के कोच पहले ही कह चुके थे– फाइनल में हमारे पास गँवाने के लिए कुछ नहीं है। यही कारण है कि पूरे नार्थ ईस्ट क्या पूरे भारत में वह सबके दिलों को जीत चुकी है।

सबेरे देखा, कवि अवनी चक्रवर्ती जिन्दगी से हारा नहीं। शाम को देखा, लाजोंग फुटबॉल क्लब निर्धारित समय में हारा नहीं। ऐसा लगता है जीने एवं जीतने की यही इच्छा कविता को और खेल को महान बनाते हैं– और तब भाषा, धर्म, जाति, गोरे, काले, प्रान्त, देश, लिंग आदि के भेद टूट जाते हैं। उस समय हम सिर्फ कविता या खेल का आनन्द लेते हैं, सपनों के साथ ठिठोली करते हुए।

जनवरी 2010

बदलते समय में हॉकी खिलाड़ियों का बेहतर भविष्य

क्रिकेट के रणजी, दिलीप ट्राफी खेलनेवाले राष्ट्रीय स्तर के खिलाड़ियों को जहाँ काफी अधिक रुपये मिल जाते हैं वहीं दूसरी तरफ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के हॉकी खिलाड़ियों को पैसे पैसे के लिए मोहताज होना पड़ता है और कई बार देखा गया है कि हमारे कई ओलंपियन खिलाड़ी रोजी रोटी के लिए पत्थर तोड़ने के लिए विवश हुए हैं या अपने पदक बेचने के लिए भी। ये दर्दनाक घटनाएँ हॉकी प्रेमियों को कचोटती रहीं हैं कि काश कोई तो होता जो इन्हें सहारा देने के लिए आगे बढ़ता। इसी दुस्थिति के कारण युवा पीढ़ी का इस खेल की ओर आकर्षण कम हुआ है। किन्तु, एशिया कप जीतने एवं ओलंपिक के लिए क्वालिफाई करने के बाद फिर एक बार नई पीढ़ी की रुचि थोड़ी सी हॉकी की ओर झुकी है। आजकल टी.वी. में देखने एवं दिखानेवाली चीजें ही श्रेष्ठ एवं लोकप्रिय मानी जाती हैं। फुटबॉल को टीवी पर दिखाए जाने एवं ईएसपीएन का सहारा मिलने पर उसके स्तर में थोड़ा सुधार अवश्य आया है इससे देश की रैकिंग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुधरा भी है।

और अब राष्ट्रीय हॉकी लीग को नए रूप में इएसपीएन स्टार द्वारा टी.वी. पर दिखाए जाने के लिए आइएचएफ से समझौता किये जाने के बाद इसकी लोकप्रियता एवं स्तर में और सुधार की आशा की जा सकती है। यह लीग इंगलिश प्रीमियर लीग एवं एन.बी.ए. बास्केटबॉल की तर्ज पर आयोजित होगा। इसमें दो स्तर की टीमें होंगी। मुम्बई, बंगलौर, चेन्नई, जालंधर एवं हैदराबाद की टीमों को पहले टीयर यानी की टीमें मानी जायेंगी और दिल्ली, चंडीगढ़, इंफाल, रांची, कोलकाता एवं लखनऊ को सेकन्ड डिवीजन की टीम मानी जायेंगी। सभी टीमें एक दूसरे के विरुद्ध लीग मैच में राउंड रॉबिन फॉरमैट पर दो दो मैच खेलेंगी। इस लीग की विजेता टीम चैम्पियन बनेगी। टीयर दो की चैम्पियन टीम अगले सीजन के प्रीमियर लीग के लिए क्वालिफाई करेगी

और टीयर वन में यानी प्रीमियर लीग की सबसे निचले क्रम की टीम को अगले सीजन में टीयर टू यानी सेकेन्ड डिवीजन में खेलना होगा। प्रीमियर डिवीजन की सभी मैचों का सीधा प्रसारण किया जायगा और सेकेन्ड डिवीजन के मैचों की हाईलाईट, ईएसपीएन पर दिखायी जायगी। ईएसपीएन ने आई.एच.एफ. से इसके लिए एक समझौते पर हस्ताक्षर किया है और इस वर्ष आरम्भ होनेवाले सीजन से अगले दस वर्षों का प्रसारण अधिकार प्राप्त कर लिया है। क्लब विदेशी खिलाड़ियों को भी खिला सकते हैं लेकिन अपनी टीमों में वे अधिकतम पाँच विदेशी खिलाड़ियों को ही ले सकते हैं और एक मैच में अधिकतम चार खिलाड़ियो को ही खिलाया जा सकेगा। भारतीय हॉकी महासंघ के अध्यक्ष ने आशा व्यक्त की है कि इस नए लीग के माध्यम से देश विदेश के श्रेष्ठ खिलाड़ियों का उच्च स्तरीय का रोमांचक खेल देखने को मिलेगा और साथ ही देश के खिलाड़ियों को अपने स्तर में और सुधार लाने का भी अवसर प्राप्त होगा। सभी मैच एस्ट्रो टर्फ पर खेले जायेंगे। मैच के बेहतर प्रसारण के लिए ईएसपीएन न केवल स्तरीय कमेन्टेटरों की तलाश कर रहा है बल्कि मैच के रोमांच को सूक्ष्मता से दिखाने के लिए प्रत्येक मैच में ग्यारह से तेरह कैमरों के प्रयोग करने की योजना भी बना रहा है ताकि मैच का कवरेज विश्वस्तरीय हो।

इस लीग के लिए 70 लाख से भी अधिक की राशि खर्च की जा रही है। इस लीग के विजेता को जहाँ तीस लाख रुपये मिलेंगें वहीं उपविजेता को दस लाख रुपये मिलेंगे। हॉकी खिलाड़ियों एवं हॉकी प्रेमियों के लिए यह अच्छी खबर है कि उन्हें देशी विदेशी श्रेष्ठ खिलाड़ियों के साथ देश की प्राय: सभी प्रसिद्ध टीमों से खेलते झारखंड की हॉकी प्रतिभाओं को भी इस लीग में अपना जलवा एवं हुनर दिखाने का मौका मिल सकेगा। आशा की जानी चाहिए कि वे अपनी प्रतिभा प्रदर्शन का यह अवसर नही चूकेंगे और हॉकी के स्टार खिलाड़ी भी बनेंगे।

धोनी की धुनाई और एक एन.आर.जे. को बधाई

शाम के पाँच बज रहे थे। अपने बेटे के साथ टी.वी. पर धोनी को छक्का मारकर भारत को विजयी होते देखा। हम दोनों बहुत ही उत्साहित थे। एक-दूसरे से कुछ कहना ही चाह रहे थे कि फोन की घंटी बजी। बेटे ने फोन उठाया। मुझे मालूम था उसके किसी दोस्त ने फोन किया होगा। कार्तिक से धोनी के बारे में कुछ कह रहा होगा। कुछ देर बाद बेटे ने फोन रखा। पूछा– किसका फोन था? बेटे ने कहा– दोस्त का। आगे उसने बताया कि उसके बंगाली दोस्त ने सबसे पहले– जय झारखंड कहा और धोनी के खेल की तारीफ की।

कुछ देर बाद अपने बंगाली मित्र से मुलाकात हो गयी। उसने मिलते ही कहा– अरे ये लेड़का पागोल है क्या? मैं घबराया। पूछा– कौन?

वोई— तुम्हारा धोनी।

बात समझते मैंने कहा— इसमें पागलपन की बात क्या?

उसने कहा— ऐसा नॉर्मल आदमी खेलता है क्या? वो तो खुद पागोल है, हमको भी पागोल कर देगा। उसका चौवा-छक्का देख के केया बोलेगा? बोलो। हमारा हार्टबीट बढ़ा दिया। ... ओ बाबा।— कहते मित्र ने गहरी साँस ली।

फिर उसने मुझे कांग्रच्युलेट किया। बंगाल में ऐसी बधाइयाँ पाना थोड़ा दुर्लभ होता है। हालाँकि गांगुली के न खेलने का मलाल उनके मन में था और अधिकांश कोलकाता वासियों की तरह वह भी इस बात से नाराज था। लेकिन जाते-जाते उसने कहा— आखिर दादा ने ही तो धोनी को तीन नम्बर पर खेलाया था।

शाम को टी.वी. चैनलों पर धोनी का धमाल और पता नहीं क्या शीर्षकों के कई कार्यक्रम देखा। एक कार्यक्रम में सन्दीप पाटिल ने कहा— धोनी की इस पारी को धोनी धमाका कहें, धोनी का धमाल कहें, धोनी की धुनायी कहें। कुछ भी कहें, लेकिन ये इस पारी के लिए उसे सलाम करने को जी चाहता है। ऐसा कहते सन्दीप ने सलाम किया। एक अन्य कार्यक्रम में टीवी संवाददाता ने जब नवजोत सिंह सिद्धू से धोनी की पारी को धुलायी कहा तो सिद्धू ने कहा ये धुलायी नहीं है भैया इसे निचोड़ना कहो। इसी तरह पता नहीं और क्या-क्या बातें कही जाती रहीं। दूसरे दिन सबेरे अखबारों में धोनी के बारे पढ़ता रहा। बेटे के साथ क्रिकेट चर्चा करता और धोनी के बारे में कहता। बेटे का कहना था जब तक सुनील गावस्कर, धोनी के बारे कुछ नहीं कहता, कुछ नहीं होगा। आज अखबार देखा धोनी के बारे गावस्कर ने बहुत कुछ लिखा था और टेस्ट में शामिल किये जाने की सकारात्मक टिप्पणी भी की थी। यह देख मन को सन्तोष हुआ। इस बीच फोन की घंटी बजी। फोन पर हमारे मित्र जॉय ने मुझे दीपावली की बधाई दी और हाल-चाल पूछने के बाद कहा— अरे आपका लड़का क्या खेलता है! बाप रे!

पूछा— कब देखा आपने मेरे लड़के का खेल?— दरअसल, मुझे गुस्सा आया कि परीक्षा की तैयारी करने के बदले पुत्र जी कहाँ चौके-छक्के उड़ा रहे हैं।

अरे! आपका लड़का वही ... धोनी। वह हँसा। फिर देर तक धोनी के बारे में कई बातें बताता रहा जो मुझे मालूम नहीं थीं। कहा— हाँ, ये लड़का ठीक है। ऐसे पीट-पीट कर खेलना चाहिए। जब मौका मिला मारो और थोड़ा धैर्य भी रखो।— मित्र ने बताया।

धोनी को टीवी पर ही देखा है। उसके बारे में बहुत कुछ पढ़ा है। कुछ अखबारों की कटिंग भी रखा हूँ। लेकिन ये पिछले कई वर्षों से एक एन. आर. जे. (नॉन रेसीडेंट झारखंडी) बन गया हूँ। लेकिन जब से धोनी टीम में शामिल हुए हैं कई हिन्दीभाषी मित्रों की बधाइयाँ पा चुका हूँ। आरम्भ में कुछ लोगों की आलोचना भी सुननी पड़ी। लेकिन विशाखापट्टनम में खेली गयी उनकी पारी पर कई बधाइयाँ मिलीं। लेकिन कुछ लोगों ने कहा भी— बस एकटा सेंचुरी। आर होये गेलो। यानी एक सेंचुरी और यह भी चला जायेगा। मैं ऐसे लोगों को कुछ जवाब नहीं दे सकता था। बस प्रार्थना कर सकता था कि इंडिया ए टीम के लिए जिस तरह उसने केन्या में खेला था, वह वही खेल खेले।

और कल उसने जो खेल दिखाया उसके बाद कहने के लिए मेरे पास कुछ था नहीं। अब कहने की बारी उन लोगों की थी। यही हुआ भी। जयपुर के खेल देखने के बाद एक मित्र जो धोनी के आलोचक हैं, ने उसकी थोड़ी प्रशंसा की। लेकिन कहा– अभी कीपिंग में उसे काफी कुछ करना है।– वैसे भी बँगलाभाषी बंगाल में दूसरों की प्रशंसा करने में काफी कंजूसी करते हैं, खासकर तब जब कोई अन्य उनका प्रतिद्वन्द्वी हो।

फिलहाल धोनी की इस 183 रनों की बेरहम और कसाईनुमा कुटाई से मेरे शहर राँची का, मेरे राज्य झारखंड का, मेरे देश भारत का नाम होता है तो सिर्फ अच्छा नहीं लगता है, बहुत अच्छा लगता है। इसका अनुभव शायद राँची में रहकर नहीं किया जा सकता था। आज राँची और झारखंड को देश–विदेश में एक खिलाड़ी धोनी के खेल की ऊँचाई ने अनजान लोगों से जोड़ दिया। परदेश में जीने का सम्मान बढ़ाया। मैं धोनी का क्या होता हूँ? मैं पान सिंह नहीं हूँ। न उनका सगा, न सम्बन्धी। फिर भी एक अनजान एवं एक अनाम रिश्ते से जुड़ गया हूँ। सिर्फ इसलिए कि उस शहर का वासी हूँ, जहाँ धोनी ने जन्म लिया और क्रिकेट के गुर सीखे। इस कारण फोन पर बधाई मुझे मिलते हैं। आश्चर्यजनक और अद्भुत है यह अनुभव! क्रिकेट के बाजार ने जहाँ कई लोगों के दिल तोड़े होंगे, वहीं दूसरी ओर कई लोगों के दिल जोड़े भी। भारत में क्रिकेट के इस पहलू का हम कैसे विश्लेषण करेंगे? क्रिकेट का क ख भी नहीं जानता और न ही कभी क्रिकेट खेली है। लेकिन क्रिकेट में धोनी की अभूतपूर्व दसछकिया कुटाई ने लोगों को जय झारखंड कहने और राँची को जानने की व्यग्रता एवं चाहत दे दी। यह मेरे लिए एक उपलब्धि है जो निस्सन्देह धोनी के बल्ले की संकल्प और दृढ़ता से ही मिली है। यह कितना अच्छा लगता है, बयान कर नहीं सकता। झारखंड, बिहार, यूपी आदि हिन्दी प्रदेशों के बारे में हमेशा गन्दी टिप्पणियाँ सुन तकलीफ होती रही है। इस कारण कई बहसें हुईं, झड़पें भी। लेकिन आज जब से धोनी ने श्रीलंका को निचोड़ा है लोगों ने जय झारखंड कहा। हालाँकि मेरे बंगाली मित्र सौरभ दादा के टीम में न होने से बेहद गुस्से में हैं। फिर भी उनके दिल की गहराइयों से निकले बधाई के सकुचाते और सहमते ये शब्द मैं नहीं भूल सकता। भले ऐसे मित्र मुट्ठी–भर हैं। लेकिन ऐसे अवसर कितने वर्षों बाद आते हैं! धोनी के तूफानी और चट्टान की तरह अटल, बेखौफ खेलने की जिद्द से अचानक एक अनजान शहर में जीवन की मानवीय सुगन्ध मिल जाती है। अचानक अनजान लोगों से एक भावनात्मक रिश्ता बना लेता हूँ। क्रिकेट का आलोचक हूँ। लेकिन धोनी ऐसी जबरदस्त पारियाँ खेलते रहें और झारखंड सरकार अन्य खिलाड़ियों को भी वही सम्मान दे, सुविधाएँ दे, यही प्रार्थना है।

5 नवंबर 2005 प्रभात खबर

सफलता का एम.एस.डी. फार्मूला

आज के 'मैनेजमेंट युग' में मैनेजमेंट गुरु रोज कुछ-न-कुछ सफलता सूत्र तलाशते नये-नये विश्लेषण प्रस्तुत करते रहते हैं। सफलता का विश्लेषण करने के लिए वे कई बार फिल्म का भी सहारा लेते हैं। जैसे टीम वर्क का पाठ पढ़ाने के लिए उन्होंने आमिर खान की फिल्म लगान का सहारा लिया तो कभी चक दे इंडिया का। भारतीय रेल को लाभप्रद स्थिति में पहुँचाने पर तत्कालीन रेल मन्त्री लालू यादव के कार्यों एवं उपलब्धियों का भी अध्ययन किया, उसका इंटरव्यू लिया। अभी हाल ही में जब सचिन तेन्दुलकर ने क्रिकेट खेलने के बीस वर्ष पूरे किये तो एक बार फिर सफलता के मन्त्र का विश्लेषण किया गया। वह बीस वर्ष तक कैसे खेल पा रहा है? इसका अध्ययन किया गया। कई कम्पनियों ने सचिन तेन्दुलकर की सफलता को अपने प्रचार से जोड़ा और बताया कि वे भी बीस वर्षों से चैम्पियन हैं और फलाँ-फलाँ वस्तु के उत्पाद में नम्बर वन बने हुए हैं। लगातार खेलते रहने की बालसुलभ चपलता और इच्छा बनी हुई है और वे क्रिकेट का आनन्द उठाते बीस वर्ष से क्रिकेट खेलते ही चले जा रहे हैं।

आधुनिक भारतीय क्रिकेट में सुनील गावस्कर, कपिल देव, सचिन तेन्दुलकर, सौरभ गांगुली का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। इसमें अपनी-अपनी सुविधा या पसन्द से और भी नाम जोड़े जा सकते हैं। लेकिन– इन चारों ने भारतीय क्रिकेट में अपने खेल से जो संघर्ष-क्षमता और जुझारूपन भरा, वह अद्‌भुत है। भारतीय खिलाड़ी खेल तकनीक और कौशल में कम नहीं थे, लेकिन उनके अन्दर मारक क्षमता का अभाव था। सुनील गावस्कर ने सन् 1971 में वेस्टइंडीज के पहले दौरे में सात सौ से अधिक रन बनाकर सलामी बल्लेबाज के रूप में अपना खाता खोला और पहली बार बताया कि खूँख्वार तेज गेंदबाजों को एक भारतीय कैसे झेल सकता और उनके खिलाफ कैसे रन बना सकता है। इस घटना ने भारतीय क्रिकेट को नया आत्मविश्वास दिया। फिर 1983 वर्ल्ड कप के लीग मैच में कपिल देव के नाबाद 175 रन ने भारतीय क्रिकेट में ऐसा आत्मविश्वास भरा कि वह अब तक फल-फूल रहा है। सचिन ने शारजाह में शेन वॉर्न की बॉलिंग का ऐसा करारा जबाव दिया कि वॉर्न को सपनों में भी उनकी बॉल की ठुकायी करते दिखे और इस तरह आस्ट्रेलियाई दम्भ को उन्होंने तोड़ा। सौरभ गांगुली ने इंग्लैंड की धरती पर अपनी शर्ट लहराकर भारतीय क्रिकेट खिलाड़ियों की दबी और मिमियाती इच्छा को गुर्राना और अपने दाँत, नाखून तेज करना सिखाया।

लेकिन ये अनेक प्रतिभाशाली खिलाड़ियों के बावजूद क्रिकेट में वे जब-तब हारते रहते थे। फलतः सफलता का यह ग्राफ 1983 से 1986 को छोड़कर कभी स्थिर नहीं रहा। इस दौरान भारत विश्व क्रिकेट खिताब जीतने से लेकर आस्ट्रेलिया में बेन्सन हेजेज विश्व कप प्रतियोगिता जीतने तक लगभग हर छोटी-बड़ी प्रतियोगिता जीतता रहा।

पिछली भारतीय टीमों एवं वर्तमान भारतीय टीम में एक अन्तर है और वह है कप्तान का खेल। हमारे जितने भी महान खिलाड़ी हुए जब वे कप्तान बने तो अपने नाम

के अनुरूप कुछ मौकों को छोड़कर चमकदार खेल नहीं दिखा पाये। फिर चाहे वे कपिल, गावस्कर, सचिन या सौरभ, द्रविड़, कुम्बले जैसे दिग्गज खिलाड़ी ही क्यों न हों? इन सभी का खेल, कप्तान के रूप में प्रभावित हुआ और वे कप्तान-खिलाड़ी के रूप में अधिकांश मामलों में असफल रहे हैं।

यदि हम वर्तमान भारतीय कप्तान का मुकाबला पिछले कप्तानों से करें तो पायेंगे कि महेन्द्र सिंह धोनी कप्तान के रूप में खेलते हुए कुछ मैचों को छोड़कर पिछले कप्तानों की तुलना में बेहतर खेल का प्रदर्शन किया है। जिसका उदाहरण विश्व एक दिवसीय खेल रैंकिंग में उनका नम्बर वन बने रहना है। इसके अलावा उन्हीं के नेतृत्व में भारत पहली बार टेस्ट रैंकिंग में भी नम्बर वन का स्थान पा सका है।

आखिर इस सफलता का रहस्य क्या है? यूँ तो कई लोग उन्हें किस्मत का धनी बताते हैं। चलिये यह भी मान लें तब भी कहना पड़ेगा कि मेहनत करने वालों का ही भाग्य साथ देता है। धोनी से पूछा जाय तो इस सफलता का श्रेय टीम भावना को या कोच आदि को दे सकते हैं। लेकिन अगर गहरे जाकर इसका विश्लेषण करेंगे तो हम पायेंगे कि धोनी एक ऐसे कप्तान हैं जो एक तो जल्दी निराश नहीं होते। विकट एवं कठिन परिस्थितियों में भी शान्ति बनाये रखते हैं। सुनील गावस्कर उसे ऐसा कप्तान बताते हैं जिसने सिर में एयरकंडीशन लगा रखा है। लेकिन इससे आगे देखा जाय तो वे ऐसे खिलाड़ी-कप्तान हैं जो अपनी गलतियों से लगातार सीखने के इच्छुक दिखते हैं। याद कीजिये, उनके शुरुआती दिन जब चौके-छक्के के वगैर उनका खेल पूरा नहीं होता था। लेकिन बाद में परिस्थितिवश वे खेल को जीत तक ले जाने के प्रयास में सावधानीपूर्वक खेलने लगे। तब लोगों ने कहा कि धोनी चौका छक्का मारना भूल गया। तब धोनी को कहना पड़ा वह टीम को जिताने के लिए खेलते हैं सिर्फ चौका-छक्का मारने के लिए नहीं। इस सोच ने धीरे-धीरे टीम के साथी खिलाड़ियों पर भी असर दिखाना शुरू किया और देखिये आज अधिक-से-अधिक खिलाड़ी लम्बी पारी खेलने की कोशिश करते हैं। वे समय पड़ने पर टीम की रक्षा में स्वयं कूद पड़ते हैं। कई प्रकार की आलोचनाओं का सही जवाब देने का प्रयास करते हैं। एक बार चयन समिति की बैठक की कोई बात लीक हो गयी तो पत्रकार ने इस पर सवाल किया। धोनी ने उस बात पर असहमति जतायी। पत्रकार ने फिर कहा ऐसी बात हुई है। धोनी ने इनकार किया और पत्रकार से सख्ती से पेश आये। तब लोगों ने कहा धोनी कठपुतली कप्तान नहीं हैं। इसके अलावा एक बात उन्हें महानगरीय कप्तानों से अलग करती है– वह यह कि वे खेल के मामले उनके मुकाबले ज्यादा कठिन और विपरीत परिस्थितियों को झेल चुके हैं। निश्चय ही यह अनुभव उन्हें पूर्व महानगरीय कप्तानों के मुकाबले परिपक्व प्रदर्शन के लिए प्रेरित करता है। साथ ही धोनी लगातार विनम्रतापूर्वक अपनी गलतियों से सीखने के इच्छुक दिखते हैं और वे वैसा करते भी हैं। उस परिप्रेक्ष्य में अपना विकास भी करते रहते हैं। अपने और टीम के प्रदर्शन को बेहतर-से-बेहतर बनाने का प्रयास करते हैं। वे सीनियर या जूनियर हर खिलाड़ी से संवाद बनाये रखते हैं। संक्षेप में कहें तो यह कि महेन्द्र सिंह

धोनी सफलता के विकास को बनाये रखने को हरसम्भव प्रयास करते हैं। उनकी सफलता रहस्य सम्भवतः यही है। हम कह सकते हैं एमएसडी का मतलब महेन्द्र सिंह धोनी ही नहीं, मैनेज, सेल्फ डेवलपमेंट या मैनेजर ऑफ सेल्फ डेवलपमेंट भी है। आप अपने जीवन में यह फार्मूला अपनाकर देखिये!

2010

अभी होर्डिंग में दिलीप तिर्की, भविष्य में ... ?

दिलीप तिर्की खेल से रिटायर हुए तो विवशता में। कारण उनकी टाँग ठीक नहीं हो रही थी। अतः उन्हें रिटायरमेंट लेना पड़ा। लेकिन रिटायरमेंट लेने तक वे 412 अन्तरराष्ट्रीय मैच खेलने वाले भारत के अकेले खिलाड़ी हैं। यदि उनकी टाँगें ठीक रहतीं तो सम्भवतः विश्व में सर्वाधिक अन्तरराष्ट्रीय मैच खेलने वाले खिलाड़ी हो सकते थे। ओड़िसा के वे 'स्टार' हैं। हालाँकि क्रिकेट में देवाशीष मोहन्ती, शिवसुन्दर दास आदि जरूर भारतीय क्रिकेट टीम के सदस्य बने, लेकिन उन्हें ओड़िसा में स्टार का वैसा दर्जा प्राप्त नहीं हो सका जैसा कि दिलीप तिर्की को। कई कारण हैं इसके। पहला तो यह कि वे ओडिसा के पहले खिलाड़ी हैं जिन्होंने किसी भी खेल में सीनियर भारतीय टीम के कप्तान होने का गौरव हासिल किया। साथ ही उनके नेतृत्व में ही भारत ने अफ्रो-एशियन खेल में स्वर्ण पदक प्राप्त किया। इनके खेल-कौशल से ओड़िसा और सुन्दरगढ़ की नयी पहचान बनी।

एक मुलाकात में उन्होंने आश्चर्यजनक बात बतायी कि बचपन में उनका चयन गाँव की टीम में भी नहीं हो पाता था। कहने का आशय यह कि गाँव में उनसे बेहतर खिलाड़ी हमेशा मौजूद थे। यह तो उन्हें एक मौका मिला, हाकी चयन में कौशल दिखाने का और वे जब प्रशिक्षण के लिए चुने गये, तब से अब तक उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। दिलीप ने 1995 में पहला मैच खेला और 2010 में खेल से रिटायर हुए तब तक वे तीन ओलम्पिक में भारत का प्रतिनिधित्व कर चुके थे।

दिलीप को पद्‌मश्री, सम्मान के अलावा, अर्जुन एवं एकलव्य आदि पुरस्कार भी प्राप्त कर चुके हैं। सन् 2009 में उन्हें रिको हॉकी स्टार का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। सम्बलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद डिग्री से भी सम्मानित किया है। हॉकी के प्रथम ओलम्पिक कप्तान जयपाल सिंह मुण्डा से लेकर माइकेल किंडो, सिलबानियुस डुंगडुंग, गोपाल भेंगरा, मनोहर तोपनो, बिमल लकड़ा, इग्नेस तिर्की, रोशन मिंज आदि कई हॉकी खिलाड़ी यूँ तो वृहत्-झारखंड के क्षेत्र से भारत का प्रतिनिधित्व कर चुके हैं, लेकिन उतने सम्मान और पुरस्कार अन्य किसी हॉकी खिलाड़ी को नहीं मिले जितना कि दिलीप तिर्की को। जयपाल सिंह की एक भी अधिकृत जीवनी उपलब्ध नहीं है जबकि दिलीप की जीवनी भारत के प्रतिष्ठित प्रकाशक

'पेंग्विन' द्वारा प्रकाशित है। यही कारण है कि वे आदिवासी समाज में युवाओं के प्रेरणा–स्रोत भी हैं।

चयनकर्ता की भूमिका ठुकराकर वे जयपाल सिंह मुण्डा की तरह राजनीति में आये हैं और 22 मार्च, 2012 को राज्य सभा की सदस्यता की शपथ ली। राजनीति में जाने के उनके निर्णय को कुछ लोगों ने पसन्द नहीं किया है। लेकिन, हर किसी की अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ और जीवन के सपने होते हैं। हम चाहेंगे, उनके भी सपने पूरे हों।

दिलीप तिर्की बहुत बड़े और लोकप्रिय खिलाड़ी हैं यह तो मैं जानता था, लेकिन उन्हें एक स्टार का दर्जा प्राप्त है यह दिनांक 26 जनवरी, 2006 के पहले तक मालूम नहीं था। इस दिन जब मैं भुवनेश्वर स्टेशन से रात लगभग नौ बजे बाहर निकला और मुआयना कर रहा था कि किस होटल में रुकूँ तो एक बिल्डिंग के ऊपर लगे बड़े होर्डिंग पर जो कुछ देखा वह मेरे जीवन के अविस्मरणीय, प्रेरक क्षण के रूप में सदा के लिए मेरे मन में अंकित हो गया। मैंने देखा कि एक बहुत बड़े होर्डिंग में कन्धे पर हॉकी स्टिक टिकाये दिलीप तिर्की का फोटो है, साथ में किसी वस्तुविशेष का प्रचार। मैं यह दृश्य देख खुशियों से भीग गया। मैं बार–बार दिलीप के फोटो को देख रहा था, क्योंकि मुझे यह विश्वास ही नहीं हो रहा था कि एक हॉकी खिलाड़ी को, वह भी एक आदिवासी को, किसी वस्तु के प्रचार के लिए मॉडल के रूप में चुना जा सकता है। यह देख इतना रोमांचित हुआ कि दो–चार मिनट के लिए वहीं ठहरकर वह होर्डिंग देखता रहा। होटल के दलाल, रिक्शावाले टोक रहे थे, लेकिन मैं चुपचाप खड़ा होर्डिंग में दिलीप तिर्की का मुस्कराता चेहरा देख रहा था।

महीनों बाद बिजू एवं मेघनाथ के साथ हॉकी पर डोक्यूमेंट्री फिल्म के लिए दिलीप से मिला। दिलीप के इंटरव्यू के बाद पहले दिन के अनुभव को बिजू को बताया तो वे उस चौराहे पर शूटिंग करने के लिए गये। लेकिन फिल्म के अन्तिम दृश्य के लिए ग्रामीण इलाके में किसी हॉकी फाइनल मैच का भीड़ भरा उत्तेजक, जोशीला माहौल वे जैसा फिल्माना चाहते थे, उन्हें नहीं मिला। अत: फिल्म नहीं बनी।

लेकिन, भुवनेश्वर के मास्टर–कैंटीन चौराहे पर दिलीप तिर्की को, होर्डिंग में देख, नये उत्साह एवं जोश से जैसे भर गया था वैसे ही भविष्य में तीरन्दाज दीपिका कुमारी या अन्य खिलाड़ियों के ओलम्पिक पदक जीतने के बाद, ये भी कई लोगों के प्रेरणा–स्रोत बन जायेंगे। खेल में विजेताओं के विज्ञापन का यह एक सकारात्मक पक्ष है, जो चुपचाप किसी कमजोर मानसिक–दुनिया को अचानक सबल बना देते हैं।

झारखंड : खनिज ही नहीं खिलाड़ी भी

पिछले कुछ सालों से कुछ खेल–प्रेमी यह बार–बार दोहरा रहे हैं कि हमें राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में बेहतर परिणाम लाने के लिए आदिवासी क्षेत्रों से खिलाड़ी

लेने चाहिए। यह बात प्रमुखत: हॉकी में लागू समझी जाती रही है। किन्तु हॉकी के अतिरिक्त अन्य खेलों में भी इन आदिवासियों से काफी सम्भावनाएँ हैं। बिहार का छोटा नागपुर क्षेत्र पहाड़ियों, जंगलों, नदियों और झरनों से भरा पड़ा है। साथ ही यह पूरा क्षेत्र अपनी खनिज-सम्पदाओं के लिए भी विख्यात है। कुछ ऐसी ही खदान यह खेल-प्रतिभाओं के लिए भी है।

इस पहाड़ी एवं वन्य-प्रदेश को ओलिम्पिक हॉकी टीम का प्रथम भारतीय कप्तान पैदा करने का गौरव प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि किन्हीं कारणवश स्वर्गीय जयपाल सिंह 1928 के इस अमस्तरदम ओलिम्पिक के मैचों में भाग न ले सके। इसके बाद काफी लम्बे अरसे तक लगभग चार दशक तक इस क्षेत्र के खिलाड़ी इस तरह की अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में हिस्सा न ले सके। सम्भवत: वे उपेक्षित रहे या अपनी सही प्रतिभा का परिचय देने में असमर्थ रहे। किन्तु आठवें दशक के आरम्भ से अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में पुन: इस क्षेत्र के खिलाड़ियों का उदय हुआ। जिनमें माइकेल किंडो, गोपाल भेंगरा, विंसेंट लकड़ा, जे. केरकेट्टा तथा सिलबानियुस डुंगडुंग जैसे ओलिम्पिक हॉकी खिलाड़ी हुए, आज भारत की प्रमुख हॉकी टीमों में इंडियन एयरलाइंस की टीम को छोड़ सभी में इस क्षेत्र या इसके आस-पास के आदिवासी खिलाड़ी हैं। सम्प्रति इस क्षेत्र से तेजी से उभरते हुए सक्षम खिलाड़ी हैं, जोसेफ तिर्की। ये सेंटर हॉफ से खेलते हैं।

हॉकी : किस जगह, किस तरह

इस क्षेत्र में हॉकी राँची जिले में खूँटी, सिमडेगा और गुमला उपप्रभाग के चैनपुर प्रखंड के आस-पास ज्यादा लोकप्रिय है। सिंहभूमि जिले के मनोहरपुर तथा आनन्दपुर के आस-पास तथा पलामू के महुआडाँड़ एवं नवाडीह क्षेत्र में भी हॉकी खेली जाती है। लेकिन हॉकी के लिए जैसी दीवानगी और वातावरण सिमडेगा एवं खूँटी के आस-पास है, वैसा अन्यत्र नहीं, यह समूचा इलाका ऊबड़-खाबड़ है। पहाड़ियों एवं जंगलों से आच्छादित होने के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में कहीं भी ढंग का मैदान नहीं है। अत: गाँवों में ऊबड़-खाबड़ या जुते हुए खेतों में भी हॉकी खेली जाती है। इन क्षेत्रों में कहीं भी छोटा-सा भी ढंग का स्टेडियम नहीं है। सिमडेगा के करीब एक गाँव मेरामडेगा में बारहों महीने हॉकी की प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं। कुछ ऐसा ही वातावरण गुमला उपप्रभाग के चैनपुर प्रखंड के करीबी इलाकों में भी है। इन ग्रामीण क्षेत्रों में किसी शील्ड और ट्रॉफी के बदले बकरे या मुर्गे के लिए प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं। इन ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषत: सिमडेगा के आस-पास किसी पर्व-त्योहार या उत्सव में कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम होता है या अन्य कोई कार्यक्रम तो वहाँ हॉकी का प्रदर्शन मैच अवश्य ही खेला जाता है। गाँव-गाँव के मध्य मैच कभी बच्चों, जवानों एवं बूढ़ों के बीच, तो कभी कुँवारों और विवाहितों के बीच भी मैच आदि का आयोजन कर मात्र वे मनोरंजन ही नहीं करते, बल्कि नयी एवं पुरानी पीढ़ी के ताकत, दमखम एवं

हॉकी खेलने की कला की परख भी करते हैं। साथ ही परम्परागत हॉकी खेलने की कला को भी वे सुरक्षित रखते हैं।

इस क्षेत्र के आदिवासी गाँवों में कारखाने में निर्मित हॉकी-स्टिक का प्रयोग नहीं करते। ये बाँस या केन्दु की लकड़ी के स्वनिर्मित-स्टिकों का प्रयोग करते हैं। इसी तरह ये बाँस के जड़ के करीबी हिस्से से बने बॉल का उपयोग करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में गोलकीपर पैड का इस्तेमाल भी नहीं करते हैं।

एस. एस. हाइस्कूल, खूँटी की टीम 1976 और 1977 में लगातार दो वर्ष जूनियर नेहरू हॉकी कप जीत चुकी है। 1977 में इसने जर्मनी की स्कूली टीम को हराया था। लेकिन इसके बाद परिणाम के स्तर पर इसका प्रदर्शन इतना अच्छा नहीं रहा और लगातार यह सेमी-फाइनल में हार रही है। इसके अतिरिक्त सन्त मरिया उच्च विद्यालय सिमडेगा की टीम 1974 में सेमी-फाइनल तक पहुँची थी। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि माइकेल किंडो एवं सिलवानियुस डुंगडुंग, ये दोनों ओलिम्पिक हॉकी खिलाड़ी इसी विद्यालय के छात्र थे।

राँची जिले के खूँटी एवं सिमडेगा को छोड़ पलामू जिले के महुआडाँड़ प्रखंड के सन्त जोसेफ उच्च विद्यालय को लगातार 1979 एवं 1980 में बम्बई में आयोजित चरणजीत राय स्कूली हॉकी प्रतियोगिता जीतने का गौरव प्राप्त है। इस क्षेत्र में हॉकी की शुरूआत 1960 के करीब से हुई है।

महिला हॉकी की शुरुआत बिहार में अगस्त 1975 से एस. एस. गर्ल्स हाईस्कूल बरियातू, राँची में बिहार सरकार द्वारा महिला हॉकी केन्द्र खोलने से आरम्भ हुई थी। तब से अब तक इसी स्कूल की टीम पूरे बिहार का प्रतिनिधित्व करती हुई अखिल भारतीय ग्रामीण खेलकूल प्रतियोगिता में चार बार चैम्पियन रह चुकी है तथा अखिल भारतीय स्कूली खेलकूद प्रतियोगिता में तीन बार चैम्पियन रह चुकी है, जिसमें 1978 में यह पंजाब के साथ संयुक्त विजेता रही है। यही स्कूली टीम 1979 एवं 1980 में क्रमशः पाँचवीं एवं छठी राष्ट्रीय महिला खेलकूद उत्सव में उप-विजेता रही है। इस स्कूल की जूनियर टीम ही इस प्रतियोगिता में सीनियर टीम के नाम से खेलती है। इस टीम के साथ एक दुर्भाग्य यह भी है कि राजय में राज्य महिला हॉकी एसोसिएशन के न होने के कारण यह टीम राष्ट्रीय महिला हॉकी चैम्पियनशिप में भाग नहीं ले पाती।

इस केन्द्र की सभी लड़कियाँ आदिवासी हैं और ये सभी राँची के खूँटी, सिमडेगा, तपकरा तथा मांडर प्रखंड की या इसके इर्द-गिर्द की हैं। देहातों में महिला हॉकी के लिए न तो कोई स्वस्थ परम्परा रही है और न उचित वातावरण, सिवाय कुछ स्कूलों को छोड़कर, फिर भी इनके खेल में इनकी पासिंग, बॉल कंट्रोलिंग, स्टिक वर्क गति देखने लायक होती है। अभी जो टीम में हैं और जो अच्छा खेल रही हैं, वे हैं, हन्ना धान (सेंटर हाफ), विश्वासी पुरती, (लेफ्ट हाफ), सावित्री पुरती (सेंटर फारवर्ड), अलमा गुड़िया (लेफ्ट एवं राइटइन दोनों पोजीशन) तथा फुलमणि हेरेंज (फुल बैंक)।

अखिल भारतीय ग्रामीण खेल-कूद प्रतियोगिता में कीर्तिमान स्थापित करने वालों

में जगतपाल मिंज–20 किलोमीटर दौड़ (1 घंटा 3 मिनट 20.4 सेकंड), अरविंद पन्ना, 10 किलोमीटर दौड़ (30 मिनट 25.6 सेकंड), दोनों 20 साल से कम उम्रवाले समूह में। सोलह साल से कम उम्रवाले समूह में, बन्धन टोप्पो–1500 मीटर दौड़ में (4 मिनट 6.7 सेकंड), सिलवेस्तर तिर्की के दो कीर्तिमान। भाला फेंक (59.48 मीटर) एवं ऊँची कूद में (1.83 मीटर) तथा लड़कियों में सुश्री सरोज लकड़ा–100 मीटर दौड़ (13.2 सेकंड), सुश्री विजयनीलमणि खलखो 800 मीटर दौड़ (2 मिनट 23 सेकंड) तथा सुशीला कुजूर–भाला फेंक (33.63 मीटर)।

मंजिल करीब लायी जा सकती है

इन कीर्तिमानों से स्पष्ट है कि आदिवासी खिलाड़ी हॉकी को छोड़कर अखिल भारतीय ग्रामीण खेलकूद प्रतियोगिता में सफल रहे हैं, किन्तु अन्य राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में अपनी चमक का सही परिचय नहीं दे पाये हैं। इसका प्रमुख कारण है, इनकी गरीबी। स्कूल में पढ़ते हुए खिलाड़ी किसी तरह खेलकूद करता रहता है, किन्तु स्कूल छोड़ने के बाद घर की अत्यन्त खराब हालत के कारण नौकरी की तलाश में ये उभरती प्रतिभाएँ अपने शैशव काल ही में दम तोड़ देती हैं।

इन विभिन्न प्रतिभाओं को सामने लाने के लिए छोटानागपुर क्षेत्र में स्कूली स्तर पर हर साल 'चक्रव्यूह' नामक प्रतियोगिता होती है। आज इस प्रतियोगिता को इस क्षेत्र में काफी मान–सम्मान प्राप्त है। सन्त इमनसियुस हाई स्कूल के प्राचार्य वनफल ने इसकी शुरुआत की है। इनकी हार्दिक इच्छा है कि इस क्षेत्र के आदिवासी फुटबॉल में भी अच्छा करें। इसकी शुरुआत में पिछले वर्ष इस स्कूल की टीम ने राज्य चैम्पियनशिप जीती। इस टीम के प्रशिक्षक सुशील कुमार वर्मा को आशा है कि भविष्य में ये लड़के राष्ट्रीय स्तर पर बेहतर प्रदर्शन करेंगे।

यह सही है कि इस क्षेत्र में विभिन्न स्थानों में राज्य सरकार द्वारा क्रीड़ा विकास केन्द्र खोलने के बाद ही ये परिणाम सामने आये हैं। यदि कुछ और केन्द्रों की या इन केन्द्रों की शाखाएँ खोलकर और अच्छे खिलाड़ियों को प्रशिक्षण दिया जा सकता है। सम्प्रति खूँटी एवं सिमडेगा में हॉकी केन्द्र लड़कों के लिए, गुमला में एथलीट केन्द्र लड़कों के लिए, राँची में हॉकी केन्द्र लड़कियों के लिए तथा महुआडाँड़, पलामू में एथलीट केंन्द्र लड़कियों के लिए है। जिन केन्द्रों के छात्रों ने अच्छा प्रदर्शन किया है। इन केन्द्रों के प्रशिक्षक हैं– रॉबर्ट किसपोट्टा एवं सरवर इमाम मल्लिक। इसके अतिरिक्त महुआडाँड़ के स्कूली हॉकी प्रशिक्षक थेयोडोर फ्लोरेंस कुजूर का नाम लिया जा सकता है।

क्रीड़ा केन्द्रों में मिल रही सुविधाएँ नाकाफी हैं। कई केन्द्रों को तो अभी तक खेल की पूरी सामग्री भी प्राप्त नहीं हुई है। साथ ही इन छात्रों के लिए अच्छे आवास और भोजन की भी समस्या है, जिसे सरकारी अनुदानों की राशि से सुलझाने का प्रयास किया जा सकता है। पंचायत एवं प्रखंड के स्तर पर भी हॉकी, फुटबॉल या अन्य खेलकूद

प्रतियोगिताओं का आयोजन कर प्रतिभाओं का पहचाना एवं प्रोत्साहन दिया जा सकता है, अभी हम प्रतिभाओं को हाईस्कूल में ही पहचान पाते हैं। यदि इन्हें और कम उम्र में पहचानें तो बेहतर होगा।

21 मार्च 1982, धर्मयुग,

जहाँ से जीत का जज्बा पैदा होता है

जब सौरभ गांगुली को टीम से हटाया गया तो अनेक लोगों ने शंका जताई कि अब तक के सफलतम कप्तान के हटने से भारतीय टीम का क्या होगा? लेकिन जैसाकि होता है इस दुनिया में किसी के जाने का अभाव तो खलता है लेकिन उसके वगैर चलने की प्रक्रिया हर किसी को अपनानी होती है। नेहरू के बाद कौन? ज्योति बसु के बाद कौन? सुनील गावस्कर के बाद कौन? कपिल के बाद कौन? पी टी उषा के बाद कौन? शेन वार्न के बाद कौन? जसपाल राणा के बाद कौन? सावित्री पुरती के बाद कौन? अलमा गुड़िया के बाद कौन? लियेंडर के बाद कौन? जैसे सवाल उठते रहेंगे और हर किसी का एक समय गुजर जाने के बाद दूसरी स्थानापन्न आता रहता है। इसलिए दादा के बाद कप्तान कौन? सवाल पूछा गया, तो द्रविड़ कप्तान के रूप में आ गए।

जैसाकि पूरी दुनिया ने देखा– टीम से हटाये जाने के बाद बंगाल में एक अजीब सी मायूसी छा गई। ऐसा लगता था जैसे उनका बहुत कुछ छिन सा गया। बंगला समाज की यह भावुकता कहें या वर्षों बाद एक बंगाली नायक का उभरना और उसका इस तरह अस्त होना शायद बंगाली समाज स्वीकार नहीं पा रहा था। कई तरह की टिप्पणियाँ। कई तरह की आलोचनाएँ। तब मेरे कई बंगाली मित्रों ने क्रिकेट देखना छोड़ दिया। उस पर कोई बात करता नहीं था। गांगुली का बंगला समाज में ऐसा प्रभाव देखना एक विचित्र अनुभव था। हर समुदाय में ऐसे नायक होते हैं जो उस समाज को एक नया आत्मविश्वास देते हैं। गौरव देते हैं। सौरभ जैसा नायक तब बंगला समाज को चाहिए था। उत्तम कुमार, सत्यजित रे आदि महान हस्तियों के बाद एक ऐसे नायक की आवश्यकता थी जो भारत को नेतृत्व प्रदान करता। सौरभ के रूप में उन्हें एक नया नायक मिल गया था जो बंगला गौरव को एक बार फिर शिखर पर ले जा रहा था।

और ऐसे नायकों को बनाते हैं अखबार एवं टीवी। जब दादा को भारतीय टीम से हटा दिया गया तो एक बंगला अखबार एक लेख छपा। जिसमें विद्वान समीक्षक ने कुछ इस तरह लिखा था कि– 'एक मराठी सचिन कप्तानी छोड़कर एक टीम का सामान्य खिलाड़ी बन महान हो सकता है तो एक बंगाली सौरभ क्यों नहीं?' फिर आगे सलाह दी गई थी कि– 'सौरभ को एक खिलाड़ी के रूप में स्वयं को साबित करना चाहिए।' – बंगला अखबार के सलाह को सम्भवत: सौरभ ने मान लिया। और शायद इसीलिए बंगला अस्मिता की पहचान के लिए स्वयं को पुनर्सज्जित एवं पनर्सृजित किया। क्योंकि

बदले माहौल में नायकत्व प्राप्त करने के लिए स्वयं को बदलना जरूरी था। सौरभ ने वही किया। उसने अपनी गलतियों से सीखा। अपने अहं को तोड़ा। खुद से संघर्ष किया। मेहनत की और अब एक खिलाड़ी के रूप में उनकी वापसी शानदार रही है। निश्चय ही महानता की ओर एक कदम और बढ़ने का सौरभ का एक सही प्रयास है।

ऐसा बताया जाता है क्षेत्रीय अस्मिताएँ कई बार नकारात्मकता को जन्म देते हैं। लेकिन खेल की दुनिया में कई बार सकारात्मक परिवर्त्तन भी लाते हैं। समाज, समुदाय एवं क्षेत्र विशेष को एक पहचान भी देते हैं। पूर्वी भारत में बंगाल में सौरभ, झारखंड में धौनी एवं उड़ीसा में दिलीप तिर्की के प्रभाव को देखा जा सकता है। क्रिकेट खिलाड़ी के अलावा हॉकी खिलाड़ी का भी उपयोग कोई कम्पनी अपने प्रचार के लिए कर सकती है। ऐसा होते न के बराबर देखा गया है। लेकिन उड़ीसा में एक कम्पनी, दिलीप तिर्की के पोस्टर के साथ 'होम ग्रोन, वर्ल्ड क्लास' के स्लोगन के माध्यम से अपने प्रोडक्ट का प्रचार करती है। जाहिर है, ऐसे अन्तरराष्ट्रीय स्तर के भारतीय खिलाड़ियों की, अन्य नायकों की अपनी एक अलग स्थानीय या क्षेत्रीय पहचान एवं प्रभाव भी होती है, जो उनमें कुछ कर दिखाने का आत्मबल, इच्छाशक्ति, उर्जा भरती है। एक अव्यक्त प्रतिद्वंदिता द्वारा प्रतियोगिता पैदा कर खिलाड़ी को श्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए उकसाती है, प्रेरित करती है। केवल सौरभ ही नहीं बल्कि सुनील गावस्कर, कपिल देव, पी.टी. उषा, सचिन, द्रविड़, राज्यवर्द्धन, जसपाल राणा, इरफान, मुनाफ, गोपीचंद पुलेला, जीव मिल्खा सिंह, युवराज सिंह, सानिया मिर्जा, श्रीसंत, जहीर, धौनी, दिलीप तिर्की, श्रीसंत, सायना, कोने : हम्पी आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। अगर कोई खिलाड़ी भविष्य में खुद को खिलाड़ी के रूप में बेहतर साबित करते हैं तो निश्चय ही इसका श्रेय उस क्षेत्रीय अस्मिता को भी दिया जाना चाहिए जो उस पर ऐसा प्रेरक दबाव बनाते हैं कि वे एक बेहतर खिलाड़ी के रूप में उभर सके। जाहिर है खेल के मैदान के बाहर भी एक खेल खेला जाता है, जहाँ से खिलाड़ी में जीत का जज्बा पैदा होता है।

हार के लिए प्रश्न और भी हैं

पिछले दिनों लोग दक्षिण अफ्रीका में भारतीय क्रिकेट टीम की हार के कारण कई लोग दुखी रहे। कई तरह के प्रश्न उठाये गए। टी.वी. अखबारों में वरिष्ठ खिलाड़ियों के टीका टिप्पणी, आलोचना या सुझाव सब कुछ छपे। खिलाड़ियों के प्रदर्शन पर सवाल खड़े किये। उनकी महानता, प्रतिभा एवं क्षमता पर सवाल खड़े किए। गली मुहल्लों से लेकर संसद तक लोग इसके लिए परेशान रहे। लेकिन दोहा से खबर आई वह इससे भी बड़ी बुरी खबर है कि इस बार एशियाई खेलों से हाकी टीम पहली बार बिना पदक के लौटेगी। मुझे लगता है मैं रोऊँ चिल्ला-चिल्ला कर अपना दुख हल्का करूँ लेकिन नहीं क्यों न इस बार कुछ सोचा जाय। मैं जो कुछ कह रहा हूँ हॉकी से उसका सीधा सम्बन्ध

नहीं है। बस एक उदाहरण है उस मानसिकता या स्थिति का कि खेल के लिए जो माहौल देना या मिलना चाहिए वह किस तरह उपलब्ध कराते हैं।

1968–69 के वर्षों में हम जैसे अनेक स्कूली बच्चों के मन यह आशा जगी थी कि रांची में एक खेल का बढ़िया स्टेडियम बनेगा। इसके लिए कचहरी रोड स्थित एक तालाब को चुना गया और उस तालाब को भरने के काम के लिए रांची स्थित स्कूली बच्चों के श्रमदान का सहारा लिया गया था। मेरी उम्र के अनेक छात्र छात्राओं ने श्रमदान किया। उस तालाब में जाकर मिट्टी हटाये, इस उम्मीद में कि एक खेल परिसर बनेगा। हम नहीं तो हमारी सन्तानें यहाँ खेलेंगी। लेकिन वहाँ जो कुछ हुआ उससे तो लगता है अब हमारी सन्तानें तो वहाँ खेल नहीं पायेंगी हाँ शायद उनकी अगली पीढ़ी भी खेल ले तो गनीमत है। मुझे याद है कि कई ऐसे छात्रों ने वहाँ मिट्टी में कुछ भी थोड़ा बहुत काम किया, वे जीवन में फिर दुबारा कभी यह काम नहीं किया होगा। लेकिन वहाँ खेल परिसर बनना नहीं था, नहीं बना। अब हमारे बच्चे भी खेलने की उम्र को पार कर रहे हैं। वहाँ खेल परिसर नहीं बनने के कई कारण कई बताये जा सकते हैं। लेकिन, उस स्थान का समुचित उपयोग किसी और कार्य के लिए भी तो नहीं किया गया। हाँ, कभी कुछ आयोजन आदि हो गये। लेकिन बात वहाँ से आगे नहीं बढ़ी।

रांची से हर साल महिला हॉकी के लिए कई खिलाड़ी चुने जाते हैं। तीरंदाजी में खिलाड़ी विश्व रिकॉर्ड बनाते हैं। कई खेलों में उभरती प्रतिभाएँ राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी अच्छा प्रदर्शन करती हैं लेकिन उससे और आगे वे बेहतर प्रदर्शन नहीं कर पाते। तो उसका कारण कुछ कुछ वैसा ही जैसाकि अभी हाल में हमारी क्रिकेट टीम का हुआ है। दक्षिण अफ्रीका में हार के लिए लोग इतने दुखी हुए कि खिलाड़ियों के घर के सामने प्रदर्शन से लेकर संसद तक में हंगामा किया। लेकिन किसी ने इस बात पर विचार नहीं किया कि हम हारे क्यों? प्रतिभा या खेलने की क्षमता सब कुछ नहीं होती। खेल के कंडीशन पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। हम भारत में बाउंसी पिच बनाते नहीं। तो स्वाभाविक है कि हमारी हार दक्षिण अफ्रीका एवं न्यूजीलेंड जैसे देशों में हो। हमे पता है कि वहीं कैसे वातावरण एवं स्थितियां मिलेंगी। लेकिन उसके लिए आवश्यक तैयारी के लिए खिलाड़ियों को मानसिक एवं शारीरिक तैयारी का समय एवं माहौल नहीं देते। और यह माहौल एक महीने या महीने भर में नहीं आती उसके लिए उस शहर, खेल परिसर में आवश्यक वातावरण बनाने की भी जरूरत है वैसी सुविधाएँ भी देने की जरूरत है। राष्ट्रीय या सैफ खेलों तक तो हमारा प्रदर्शन ठीक ठाक है लेकिन उससे आगे जहाँ अन्तरराष्ट्रीय खेलों जो सुविधाएँ एवं तकनीक प्रयोग में आते हैं वह हम नहीं करते। याद करे जसपाल राणा को जब उन्होंने अभ्यास के लिए कारतूस उपलब्ध नहीं कराये जाने पर जो भावनाएँ व्यक्त की थी। वीरेन्द्र रसकिन्हा ने मुम्बई में जो प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। फिर क्रिकेट हो या हॉकी या टेनिस या कुछ औरए जब तक उसके लिए राज्य स्तर पर विश्वस्तर की कुछ सुविधाएँ नहीं जुटाते हमारा प्रदर्शन बदतर हो सकता है। हाँ कभी हम जीतेंगे तो इसलिए कि उस दिन किसी

खिलाड़ी का प्रदर्शन तूफानी रहेगा। लेकिन हम हर दिन तूफानी बने रहें, जीतते रहें इसके लिए जिस प्रकार की सुविधाओं एवं मानसिकता की आवश्यकता है, यह कला या विज्ञान जो भी है वह हमें सीखनी ही होगी।

पत्रकारिता

झारखंड में पत्रकारिता और पत्रकारिता का झारखंड

किसी खास सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितिवश जनता की दबी एवं दमित आकांक्षाएँ जब एक भौगोलिक क्षेत्र-विशेष में जन्म लेती हैं तो वे उस क्षेत्र विशेष की पत्रकारिता उससे अछूती रह नहीं पाती है। इस सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक हलचल का प्रभाव उस क्षेत्र की पत्रकारिता पर देर-सबेर पड़ता ही है। झारखंड के सन्दर्भ में इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। जैसे आपात काल के बाद हिन्दी पत्रकारिता में एक नया परिवर्तन आ गया था, लगभग उसी प्रकार झारखंड गठन के बाद झारखंड की हिन्दी पत्रकारिता में एक अजीब-सी गहमागहमी एवं हलचल होती दिखाई पड़ रही है।

आज आप किसी भी पत्रिका की दूकान में जायेंगे तो आप पायेंगे कि झारखंड शब्द के आगे या पीछे संज्ञा या विशेषण से जुड़े शब्दों से कई पत्रिकाएँ दिखाई पड़ रही हैं। जहाँ एक ओर इंडिया टुडे की नाम के तर्ज पर झारखंड टुडे जैसी पत्रिका है तो दूसरी ओर झारखंड लहर, उदित झारखंड, झारखंड की पुकार आदि झारखंड नामधारी पत्रिकाओं की एक बाढ़-सी आ गयी है। कुछ उसी तरह जब लगा था कि झारखंड अब मिलने वाला है, तब मिलने वाला है, उस समय झारखंड नामधारी दर्जनों पार्टियाँ अस्तित्व में आ गयीं थीं। झारखंड के विकल्प के रूप में प्रस्तावित शब्द वनांचल नाम से जुड़ी पत्रिकाएँ भी बाजार में पाठकों को लुभाने हेतु बाजार में उपलब्ध हैं। हर पत्रिका अपनी नीति के अनुसार झारखंड को व्याख्यायित कर रही है या बेच रही है। कुछ पत्रिकाएँ झारखंड नाम को बेचकर आनन-फानन में नाम या दाम कमा लेने के फिराक में हैं तो कुछ पत्रिकाएँ सरकार की आलोचना कर और उसके भ्रष्टाचार का पर्दाफाश कर प्रजातन्त्र के चौथे पाये होने के दायित्व का निर्वाह कर रही हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ पत्रिकाएँ राजनीति, समाज, आदिवासी, सदान, दलित, पर्यावरण, विस्थापन, आरक्षण, विकास से जुड़े मुद्दों को झारखंड के सन्दर्भ में नयी परिभाषा की तलाश कर रही प्रतीत होती हैं। इस सिलसिले में कुछ पत्रिकाएँ आदिवासियों से जुड़े मसलों को ज्यादा महत्त्व दे रही हैं तो कुछ और लोगों की। कुछ संताल परगना की उपेक्षा के मुद्दे को उछाल रही हैं तो कुछ सरकार की पर्यटन, आर्थिक, आरक्षण नीति की आलोचना कर रही हैं। किन्तु, झारखंड की भाषा, संस्कृति, इतिहास के सवाल को प्रायः दरकिनार-सा कर दिया गया है। कहने का आशय यह कि झारखंड शब्द आज झारखंड की पत्रकारिता के क्षेत्र में नया कुछ कर दिखाने का या व्यवसाय करने का एक सुविधाजनक बिकाऊ शब्द बन गया है। अतः जिसके पास कुछ नया करने का उत्साह है, पैसा है, पूँजी है वे इस स्थिति का लाभ उठाने के प्रयास में लगे हैं।

निश्चय ही झारखंडी बाजार में आयी इस नयी माँग एवं आवश्यकता को पूर्ण करने

हेतु अनेकों प्रयास हो रहे हैं। बाजार की इस सामाजिक, राजनैतिक माँग एवं प्रतिद्वन्द्विता के परिणामस्वरूप विभिन्न पत्रिकाएँ विभिन्न मुद्दों एवं समस्याओं को उछालेंगी। कई आर्थिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भाषिक, विधिक, प्रशासनिक तथा पर्यावरण से जुड़े विकास के प्रश्नों को कई प्रकार से समझने–समझाने का प्रयास भी होगा। इस उठापटक में कुछ नायक उभरेंगे। वहीं दूसरी ओर कुछ चमकते नायकों का मानमर्दन भी हो सकता है। हो सकता है कुछ मतभेद उभरेंगे। हो सकता है कुछ मतभेद मिटेंगे। जनतान्त्रिक प्रणाली में ऐसे बहस–मुबाहसों की अत्यन्त आवश्यकता भी होती है। कुल मिलाकर कहें तो यह कि झारखंड गठन के बाद जितनी उथल–पुथल राजनीतिक हलकों में हो रही है उतनी ही पत्रकारिता के क्षेत्र में भी। या यूँ कहें कि झारखंड की राजनीतिक तापमान से नयी उभर रही झारखंडी पत्रकारिता प्रभावित है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। नये झारखंड में झारखंडी पत्रकारिता, इसका बैरोमीटर बनने का कितना आकांक्षी है या मार्गदर्शी यह तो अभी पता नहीं चलेगा। यह पता लगेगा तब जब आज से तीन, पाँच या इससे अधिक सालों तक कौन–सी पत्रिका कितनी पूँजी, घाटा या लाभ कमाकर समग्र झारखंडी जनता की आकांक्षाओं को किस हद तक और किस प्रकार व्यक्त कर जीवित रह सकी है? एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह भी है कि आदिवासी और गैर–आदिवासी एक–दूसरे को कैसे और कब समझेंगे? इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर प्रायः लोग विभाजित या खामोश नजर आते हैं। आदिवासी, दलित या अल्पसंख्यकों के मुद्दों या हितों की बात को बहुत हल्के स्वर में कहा जाता है, जो कि झारखंड ही नहीं समस्त भारतीय पत्रकारिता की एक बड़ी कमजोरी है। सवाल है नींद से जागती यह नवोन्मेष झारखंडी पत्रकारिता क्या इस राष्ट्रीय चरित्र की कमजोरी से मुक्त हो सकती है? मुद्दा चाहे झारखंड की भाषा, संस्कृति, आर्थिक विकास, पर्यावरण या पर्यटन का हो प्रायः वे एकांगी या एकपक्षीय ढंग से उठाये जाते हैं।

अतः जब तक सभी प्रकार के विकास के लिए आम झारखंडी के हिस्सेदारी को प्रतिष्ठापूर्ण स्थिति में लाने का प्रयास नहीं किया जाता झारखंडी आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो सकतीं। निश्चय ही इस कार्य या प्रयास में कई पारम्परिक सोच, पूर्वाग्रह या अन्य वैधानिक स्थितियाँ आड़े आ सकती हैं। इन सबकी समुचित व्याख्या, आलोचना, विश्लेषण से नयी दृष्टि, संवेदना या नया वातावरण विकसित किया जा सकता है जिसमें एक आदिवासी और गैर–आदिवासी दोंनों अपनी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, भाषिक, सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा करते सम्मान, सुख, शान्ति एवं समृद्धि के साथ रह सकें। वर्तमान झारखंडी पत्रकारिता की सबसे बड़ी चुनौती यही है कि वह इसके लिए क्या कर सकती है? कैसे कर सकती है? और किस हद तक कर सकती है?

सन् 2002

जीवन को बेहतर बनाने के लिए 'जीवन'

पूर्वोत्तर आने पर कई सारी नयी चीजें देखने को मिली हैं। पूर्वोत्तर की भौगोलिक, सांस्कृतिक, भाषिक, सामाजिक विविधता चकित तो करती ही है कई बार यहाँ के भोजन, परिधान, गृह निर्माण कला देखकर भी कोई मोहित हुए बिना नहीं रह सकता। यहाँ की एक और विशेषता आसाम में रह रहे गैर-आसामी लोगों की कि चाहे वे चाय-बागान के आदिवासी मजदूर हों या तेजपुर के सिख या राजस्थान से आये व्यवसायी या पंडित-पुजारी- प्राय: सभी ने असमिया भाषा, संस्कृति को अपनाया है जबकि इसी समुदाय के अन्य लोग अन्य राज्यों में उस प्रदेश की भाषा संस्कृति को अपनाने में परहेज करते देखे गये हैं। राजस्थान के कई लोगों से मुलाकात हुई है वे असमिया भाषा-संस्कृति को इस कदर अपना चुके हैं कि हिन्दी बोल तो लेते हैं लेकिन कई लोग हिन्दी लिखना, पढ़ना नहीं जानते। असमिया भाषा-संस्कृति के विकास में ऐसे लोगों का गहरा योगदान है। ज्योति प्रसाद अग्रवाल ऐसे ही समर्पित विद्वान थे जिन्होंने असमिया गीत-संगीत से लेकर असमिया फिल्म निर्माण में अपना योगदान दिया और आज असमिया भाषा-संस्कृति के सबसे बड़े संरक्षक और उद्धारक माने जाते हैं।

सम्भवत: इसी परम्परा की अगली कड़ी सुरेश चन्द्र गोदुका हैं, जिनके पूर्वज कभी राजस्थान से आये थे। सुरेश का बचपन शिवसागर जिले के सफराई गाँव में बीता। जिस स्कूल में वे पढ़ते थे वहाँ दीवारें नहीं थीं, फलत: रोज क्लास शुरू होने से पहले उन्हें स्कूल के कमरों से गोबर हटाने पड़ते थे और यदि बारिश हो गयी या आँधी आयी तो घर भागने के सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं रहता था। पन्द्रह साल की उम्र में सुरेश ने स्कूल को व्यवस्थित करने हेतु गाँव व उसके आस-पास एक आन्दोलन किया और अन्तत: स्कूल के प्रधानाध्यापक को, जो इसके पहले तक स्कूल का काम घर से करते थे, स्कूल से करना पड़ा। फिर स्कूल की नयी प्रबन्ध समिति भी बनी और स्कूल बेहतर ढंग से कार्य करने लगा।

सुरेश हमेशा फर्स्ट डिवीजनर रहे। उन्होंने सांख्यिकी में एम.एस-सी. भी प्रथम श्रेणी से पास की। कॉटन कॉलेज गुवाहाटी में पढ़ते हुए उन्होंने कॉलेज पत्रिका का सफल सम्पादन किया जिसके लिए उन्हें यूथ फेस्टिबल में सम्मानित किया गया। वे 1999 में फिल्म निर्माण से जुड़े। फिर दिल्ली में 'टेलीविजन न्यूज फीचर' से जुड़कर 'शोधकर्ता एवं स्क्रिप्ट-राइटर' का काम किया। इसके बाद वे 'डिस्कवरी चैनल' के लिए केरल, लद्दाख, तमिलनाडु, जम्मू कश्मीर, राजस्थान जाकर अट्ठारह छोटी डोक्युमेंट्री फिल्में बनायीं। उन्होंने कुछ देशी-विदेशी कम्पनियों के लिए भी कॉरपोरेट फिल्में बनायीं। भारत सरकार के सांस्कृतिक विभाग द्वारा प्राप्त फेलोशिप के अन्तर्गत उन्होंने 'असमिया मोबाइल थियेटर का अर्थशास्त्र' विषय पर दो वर्ष का अनुसन्धान कार्य भी किया। असमिया की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'गरोयसी' द्वारा 1997 में उन्हें असमिया के 20 सम्भावनाशील कवियों में आँका गया था। सुरेश ने कुछ दिनों तक डीवाई 365

चैनल के लिए भी काम किया।

लेकिन 2010 में सब कुछ छोड़कर उन्होंने एक स्वयं सेवी संस्था 'जीवन इनीशिएटिव' का गठन किया और तब से वे इसी के लिए समर्पित हैं। गुवाहाटी में एक किराये के मकान में रहते हैं। कमरे में ए.सी. नहीं और न अपनी कोई कार। अपनी संस्था के लिए वे बसों से आना-जाना करते हैं। अपनी संस्था के लिए कार्य करते हुए उन्होंने एक त्रैमासिक पत्रिका 'जीवन' का भी प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्रिका के अब तक 34 अंक प्रकाशित हैं। इस पत्रिका का उद्देश्य जीवन को बेहतर बनाने के प्रयास करना है। वे युवाओं की सृजनात्मक क्षमता को विकसित करने के लिए पूर्वोत्तर के दुर्गम स्थानों में भी स्थानीय लोगों एवं प्रबुद्ध लोगों की सहायता से कार्यशाला, संगोष्ठी, विचार विमर्श का आयोजन करते हैं। वे साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों के अलावा युवाओं में उद्यमिता विकसित करने के लिए भी आयोजन करते रहते हैं। इसके अलावा विभिन्न सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूकता लाने के उद्देश्य से भी वे अन्य आयोजन करते रहते हैं। इसलिए जीवन पत्रिका में आपको मात्र साहित्यिक रचनाएँ ही नहीं मिलेंगी बल्कि विविध विषयों पर अनेक देसी-विदेशी विद्वानों, चिन्तकों के विचार भी मिलेंगे। इसके ताजे अंक में गुवाहाटी स्थित विभिन्न सार्वजनिक स्थलों पर उपलब्ध जल-सुविधा का सर्वे रिपोर्ट है, जिसमें अनुसन्धान कर पाया गया कि इन सार्वजनिक स्थलों के पानी पीने लायक नहीं है। पत्रिका में असमिया के प्रसिद्ध कवि नीलिम कुमार की आत्मकथा प्रकाशित हो रही है और यह जानना सुखद आश्चर्य है कि आज जबकि अनेक लघु पत्रिकाएँ अपने रचनाकारों को पारिश्रमिक की बात छोड़िये पत्रिका में प्रकाशित रचना की एक प्रति भी बिना मूल्य नहीं भेजती, ऐसे में सुरेश उन्हें न केवल मानदेय देते हैं बल्कि यदि आप उनकी पत्रिका के वार्षिक ग्राहक हैं तो किसी दिन उसके कार्यालय से फोन पर पूछा जायेगा कि क्या जीवन पत्रिका आपको नियमित मिल रही है या नहीं? शायद ऐसी कर्मठता एवं समर्पण के कारण ही 2010 में इंडिया टुडे ने भारत के 35 सम्भावनाशील युवाओं में उन्हें भी शामिल किया था।

दिनांक 22.06.2012 के प्रभात खबर मॉय माटी में प्रकाशित

आदिवासी भाषा-संस्कृति और स्थानीय अखबार

कुछ दिन पहले मुझे कहीं से बंगला अखबार का एक पन्ना प्राप्त हुआ था। अखबार में जो कुछ था उसे देख मैं आश्चर्यचकित रह गया था। सहसा मुझे विश्वास ही नहीं हुआ था कि किसी अखबार में इस तरह की सामग्री कई चित्रों सहित पूरे एक पृष्ठ में प्रकाशित हो सकती है। क्योंकि आजतक मैं जितने भी हिन्दी अखबार पढ़ पाया हूँ उनमें आदिवासी साहित्य, साहित्यकार या आदिवासी-कला के बारे में रस्म निभाने लायक ही सामग्री देख पाया हूँ। वह भी कभी-कभार ही। अतः उस अखबार में दो लेखों, कुछ

कविताओं और दो-तीन चित्रों सहित संताली भाषा के कवि शारदा प्रसाद किस्कू के बारे में पूरे एक पृष्ठ की सामग्री देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। उस पृष्ठ को पूरा पढ़ लेने के बाद भी काफी देर तक उसे यूँ ही देखता रहा। क्योंकि यह मेरे लिए एक अप्रत्याशित और महत्वपूर्ण घटना से कम नहीं थी। तब से मन में एक प्रश्न हमेशा प्रतिध्वनित होता रहता है, 'आखिर हिन्दी अखबार वाले क्यों नहीं आदिवासी साहित्यकार, साहित्य या आदिवासी कला आदि के बारे में छापते? तब जबकि वे अखबार बेचने के लिए उनकी जेबों की ओर भी झांकते हैं और उन्हीं क्षेत्रों से प्रकाशित भी होते हैं।'

हिन्दी अखबार क्यों नहीं आदिवासी कला, साहित्य आदि के बारे में कुछ कहते? इस प्रश्न के उत्तर में अब तक जो कुछ भी सोच पाया हूँ वह यह कि आदिवासी कला साहित्य के बारे में कुछ कहना या लिखना स्थानीय अखबार संभवतः तीसरी-चौथी श्रेणी का कार्य मानते हैं या रस्म अदायगी। जबकि मध्यप्रदेश के अखबार इस बारे में ज्यादा जागरूक दिखते हैं दूसरा कारण यह है कि स्वयं आदिवासियों को अपने साहित्य, कला आदि के बारे में स्थानीय अखबारों में लिखने के लिए या तो रूचि नहीं है या स्थानीय अखबारों से उन्हें समुचित प्रोत्साहन और अवसर नहीं मिलता होगा। जबकि कई आदिवासी लेखक हैं जो आदिवासी कला, साहित्य के अतिरिक्त विभिन्न समस्याओं पर सरकार, मिशन या आदिवासियों से संबंधित किसी संस्था द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं—'आदिवासी', 'निष्कलंका', 'मसीही आवाज' या फिर 'सरना फूल' में खूब और अच्छा भी लिखते रहे हैं और सीमित अर्थों में ही सही अपनी भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने का अवसर प्राप्त करते रहे हैं।

वैसे एक आदिवासी की आम धारणा है कि जब अखबारों में उनका आदमी नहीं है तो उसके बारे में चिंता करने की सुध किसे है? आदिवासी, अखबार पढ़ते जरूर हैं और अपने बारे में छपी अच्छी सामग्री पर आपस में चर्चा भी करते हैं। कभी-कभी अपने ही बारे में छपे उल्टे-सीधे लेखों, खबरों के लिए गालियाँ भी जरूर दे लेते हैं। लेकिन अखबारों को वे आज तक आलोचक ही सही, एक जरूरी साथी के रूप में स्वीकार नहीं सके हैं, क्योंकि इस क्षेत्र में आने के बाद हर कोई उनका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दोहन करने में ही व्यस्त हो जाता है। रेडियो हो या दूरदर्शन सभी ने घोषणा की कि इसके खुलने से इस क्षेत्र का सांस्कृतिक विकास होगा लेकिन क्षेत्र का सांस्कृतिक विकास करने के बदले एक नए प्रकार का सांस्कृतिक आक्रमण उन पर किया गया। फलतः जनजातीय भाषाओं या संस्कृति के विकास का मार्ग अवरुद्ध रहा। चंद मिनटों की सरकारी वार्ता और दो-चार लोकगीतों के प्रसारण से किसका कितना भला हुआ यह अलग ही अनुसंधान का विषय है। हाँ, सरकार इस प्रयास से कुछ सरकारी लेखक, कवि, गीतकार आदि बनाने में जरूर सफल रही है। लेकिन इससे बुरी स्थिति स्थानीय अखबार बनाए रखना चाहते हैं। रेडियो या टीवी से अधिक स्वतंत्र रचनात्मक एवं अभिनव रूप से कार्य करने का अवसर होते हुए भी स्थानीय अखबारों की संपादकीय टीमें संभवतः एक औपनिवेशिक तथा सभ्य अहंकार

से ग्रसित हैं। फलस्वरूप रांची से प्रकाशित अखबारों में भोजपुरी कॉलम का नियमित रूप से प्रकाशन किया गया और भाषाई तथा जातीय श्रेष्ठता की दबंगता को स्थानीय जनता के बीच थोपने का प्रयास किया गया। जबकि सच यह है कि उससे अधिक संख्या में अखबार पढ़नेवाले स्थानीय भाषा-भाषी ही हैं, जैसे उराँव, मुंडा, संथाली, खड़िया, हो, पंचपरगनिया आदि। नागपुरी या मगही के स्तंभ प्रकाशित किए गए। यह स्तुत्य प्रयास है क्योंकि ये इस क्षेत्र तथा आसपास की आम जनता द्वारा पर्याप्त मात्रा में बोली और समझी जाती है, लेकिन भोजपुरी? आप स्वयं सोचें और देखें कि क्या यह इस क्षेत्र की आम जनता की भाषा है? यह कार्य अगर पटना के अखबार करें तो इसका औचित्य समझ में आता है लेकिन यह कार्य जनजातीय कहें जानेवाले क्षेत्र से भी हो तो इसे क्या कहेंगे? भाषाई साम्राज्यवाद का विस्तार? या क्योंकि अखबार में आपके आदमी हैं इसलिए उसका लाभ उठाना? सांस्कृतिक विस्तारवाद? या कुछ और?

व्यक्तिगत रूप से मुझे किसी भाषा से ईर्ष्या या द्वेष नहीं, लेकिन स्थानीय अखबारों में जिस तरह से इसका उपयोग किया गया और जाने अनजाने या शायद किसी विवशतावश ही स्थानीय भाषाओं की उपेक्षा की गई यह निश्चय ही आपत्तिजनक है। क्योंकि प्राय: सभी अखबार इस क्षेत्र से अपना प्रकाशन आरम्भ करते समय यही घोषणा करते हैं कि इससे इस क्षेत्र के सामाजिक, सांस्कृतिक और स्थानीय मुद्दों को राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर अभिव्यक्ति मिलेगी, या इसके प्रकाशन से इस क्षेत्र की जनाकांक्षा प्रतिबिंबित होगी या यह कि इस क्षेत्र के सामाजिक, सांस्कृतिक विकास में सहायता मिलेगी। ऐसा करते वक्त वे बिरसा मुंडा का नाम लेना भी नहीं भूलते, लेकिन बाद में होता क्या है? वही, जो पहले कहा जा चुका है, यानी सांस्कृतिक-सामाजिक शोषण का एक और दानव निकल आता है।

नागपुरी, मगही एवं भोजपुरी के साथ-साथ कम-से-कम महीने में एक बार अन्य स्थानीय आदिवासी भाषाओं के कॉलम क्रमानुसार हफ्ते में एक दिन या जैसी सुविधा हो, उसके अनुसार बारी-बारी से प्रकाशित किए जाएँ तो वह एक अभिनव एवं ऐतिहासिक प्रयोग होगा। तब संविधान में वर्णित सामाजिक-सांस्कृतिक के विकास में एक हिन्दी अखबार की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। वैसे आदिवासी भाषाओं के कॉलम प्रकाशित करने के और भी लाभ हो सकते हैं। इस पर अखबार के मालिक, संपादक, बुद्धिजीवी और नागरिक सोचें। वैसे इससे पहला लाभ तो स्वयं अखबार के मालिकों को ही होगा कि इस प्रयास में अखबार की प्रसार संख्या बढ़ेगी। दूसरा यह कि अखबार, जो यह दावा करते हैं कि वे स्थानीय लोगों की समस्याओं को समझना चाहते हैं, वह उद्देश्य पूरा होगा। तीसरा यह कि इसी बहाने स्थानीय भाषा एवं साहित्य के विकास में वे न केवल महत्वपूर्ण बल्कि ऐतिहासिक योगदान देंगे। यह सब प्रयास कर वे शायद और पूर्ण अखबार कहलाएँ। अखबार नित्य नए पाठकों की तलाश में तरह-तरह के कॉलम 'स्तंभ' आदि आरम्भ करते हैं। क्या नए पाठकों की तलाश में उपर्युक्त प्रयास नहीं किया जाना चाहिए? या 'नरभक्षी आदिवासी गिरफ्तार', 'डायन कहकर

भाभी की हत्या' या 'झारखंड आंदोलन बंद और उठापटक' के समाचार छापकर ही आदिवासियों को, स्थानीय जनता को अखबार का सनसनीखेज समाचार ही बना रहने दिया जाएगा? क्या यह अखबार बेचने हेतु आदिवासियों का शोषण नहीं?

नवंबर 1991 प्रभात खबर

(नोट– यह लेख अखबार में किसी और के नाम से छप गया था, जिसे बाद में सुधारा गया था।)

एक पत्रिका के बहाने

छोटानागपुर के विभिन्न क्षेत्रों से कई तरह की साहित्यिक, राजनैतिक तथा धार्मिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रही हैं। इनमें से दो पत्रिकाएँ तो पिछले कई दशकों से प्रकाशित होती रही हैं। पत्रिका 'घरबन्धु' पिछली शताब्दी से लगातार प्रकाशित होती रही है। यह बिहार की प्राचीनतम पत्रिकाओं में से एक है। दूसरी पत्रिका है 'निष्कलंका' दोनों ही ईसाई मिशनरियों की ओर से प्रकाशित धार्मिक पत्रिकाएँ हैं। लेकिन देश, काल, समाज और राजनीति के निरन्तर दबाव में आकर इन पत्रिकाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। अब इन पत्रिकाओं से यह अपेक्षा की जा रही है कि ये सभी विषयों को अपने कलेवर में स्थान दें। लेकिन जिस 'घरबन्धु' में पहले सामाजिक-राजनैतिक विषयों पर भी लेख और टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं। वहाँ अब मात्र धार्मिक रचनाएँ ही देखने में आ रही हैं। दूसरी ओर पत्रिका 'निष्कलंका' है, जो रचनाओं के मिले-जुले स्वर को लेकर आगे बढ़ रही है। पत्रिका में सामाजिक विषयों के अतिरिक्त राजनैतिक व आर्थिक मुद्दों को विश्लेषित करने वाली रचनाएँ भी स्थान पा रही हैं।

इसके हाल के कुछ अंकों को देखने से ऐसा लगा कि 'निष्कलंका' अब विशुद्ध धार्मिक पत्रिका भर नहीं रह गयी है। यही कारण है कि अब इसमें झारखंड से लेकर आदिवासियों की विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं पर शोधपूर्ण और विश्लेषणपरक लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं। अब यह सहज अनुभवगम्य है कि 'निष्कलंका' अपनी सीमाओं के बावजूद 'मिशन हाता' वाली मानसिकता से उबरना चाहती है।

नवम्बर 1988 के अंक में मुख्यपृष्ठ पर जहाँ एक ओर अम्बेदकर की तस्वीर छपी है और वहीं कुलदीप नैयर, डॉ. रामदयाल मुंडा, के बी सुलेख अशोक शर्मा, सुशीलचन्द्र वर्मा, विनोद कुमार मिश्र, एल आर बाली जैसे लेखकों, चिन्तकों के लेख संकलित हैं ये लेख आदिवासी-हरिजन समस्याओं से जुड़कर चले हैं। दिसम्बर 1989 के अंक में अम्बिकापुर में 'शुद्धिकरण मामले में प्रेस की भ्रामक रिपोर्ट' शीर्षक से एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। जिसमें ईसाइयों को हिन्दू धर्म में परिवर्तित किये जाने की घटना की पड़ताल की गयी है।

फरवरी 90 के अंक में थेयोडोर किड़ो ने कैथोलिक समाज में शिक्षा के लिए

माकूल माहौल का अभाव देखते हुए इन विपरीत स्थितियों के बारे में बड़े ही आक्रोशपूर्ण ढंग से अपनी बातें रखी हैं और लिखा है 'आज हमारे स्कूल क्या कर रहे हैं? सिर्फ नाकाम युवक-युवतियों की फौज खड़ी कर रहे हैं।' यह कथन एक बड़े सच को समाज के सामने लाता है। एक अन्य लेख श्याम किशोर टुडू का ख्रीस्तीय एकता से सम्बन्धित है। तेज कुमार टोप्पो ने आदिवासी समाज में सिन्दूर नारी, मर्यादा का प्रतीक' शीर्षक लेख में आदिवासी समाज में सिन्दूर के प्रचलन पर विस्तार से विचार किया है। 'पलु मुण्डा' का स्वास्थ्य से सम्बन्धित एक लेख 'शरीर के प्रतिरोधक शक्ति बढ़ाइये' शीर्षक से है।

मार्च 90 के अंक में 'आदिवासियों में पढ़ने की रुचि का अभाव' शीर्षक से महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय सम्पादकीय लिखा गया है। सम्पादकीय में इसके लिए चिन्ता प्रकट की गयी है कि राँची के 'सत्य भारती' स्थित पुस्तकालय में आदिवासी पाठकों की संख्या महज 20 प्रतिशत है आगे इसी सम्पादकीय में आदिवासियों में समाचार-पत्र पढ़ने की प्रवृत्ति विषय पर किये गये एक सर्वेक्षण की भी चर्चा है। जिक्र है कि सर्वेक्षण के अनुसार रायपुर में समाचार-पत्र पढ़ने वाले आदिवासी 100 में से 5 के अनुपात में हैं।

जाहिर है पढ़े-लिखे आदिवासी भी समाचार पढ़ने से परहेज करते हैं। ऐसा क्यों? सम्भवतः इसलिए कि अधिकांश समाचार-पत्रों में आदिवासियों की स्थिति को अत्यन्त विकृत रूप देकर प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे प्रयास वास्तव में बहुत कम हुए हैं, जिनके जरिये समग्र आदिवासी समाज को समझने का अन्तरंग और आत्मीय प्रयास किया गया हो। अधिकांश समाचार-पत्रों में आदिवासियों से सम्बन्धित तीन प्रकार के समाचार ही प्रमुखता से छपते हैं। (1) उनकी राजनैतिक आकांक्षाओं से सम्बन्धित, (2) उनकी धार्मिक समस्या से सम्बन्धित तथा (3) उनके विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित खोजपूर्ण समाचार। इसके अलावा अगर कुछ और छपता है तो वह शोध-पत्रों में या अँग्रेजी-बँगला की पत्र-पत्रिकाओं में। उनके इतिहास उनकी भाषा-संस्कृति उनके पर्व-त्योहारों से सम्बन्धित सामग्री कभी विशेष अवसरों पर ही छापी जाती हैं। वह भी कुछ ऐसे भाव से, मानो इसे छापकर बहुत बड़ा एहसान किया जा रहा हो। जाहिर है ये सारी बातें आदिवासी समझते ही होंगे और शायद इस कारण उनमें समाचार-पत्रों के प्रति विरोध का भाव भी पनपता होगा, एक उदासीनता आती होगी। विरोध-स्वरूप वे समाचार-पत्र से सरोकार ही नहीं रखते होंगे। स्थानीय अखबारों को इस मुद्दे पर अवश्य ही सोचना चाहिए। हालाँकि यह बात कुछ लोगों को तर्कसंगत न लगे फिर भी प्रयोग के तौर पर ही सही, स्थानीय अखबार अपनी सामग्री का दायरा बढ़ायें और आदिवासी समाज से जुड़ी तथ्यपरक सामग्रियों को स्थान दें तो उनके पाठक बढ़ सकते हैं।

आदिवासी और गैर-आदिवासी समाज के बीच आपसी समझ को बढ़ाने के साथ-साथ यह प्रयास देश की एकता को मजबूत करने की दिशा में भी एक प्रभावी कदम हो सकता है, क्योंकि ऐसा देखा गया है कि अखबार प्रायः क्षेत्रीय साहित्य-

संस्कृति की चर्चा या तो नहीं करते हैं या करते भी हैं तो बहुत ही कम फलतः आदिवासी पाठक अखबारों को पढ़ने में रुचि एवं उत्साह नहीं दिखाता। इन अखबारों में उसकी जो छवि प्रस्तुत की जाती है, वह शायद उसे स्वीकार्य नहीं। मीडिया जगत जब उसे कमजोर कहकर व्याख्यायित करता है तो निश्चय ही उसका आत्मसम्मान टूटता है। इस दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट होगा कि 'निष्कलंका' में छपे लेख इसी शून्य को भरने के प्रयास हैं। इन्हीं भ्रामक स्थितियों को तोड़ने की दिशा में एक पहल है।

क्योंकि कोई भी समुदाय या व्यक्ति विशेष जिसमें थोड़ी भी संवेदनशीलता है, अपने बारे में कहना, सुनना और सोचना जरूर चाहता है, समाज की इस स्वाभाविक प्रक्रिया को किसी भी प्रकार बाधित नहीं किया जा सकता।

इसलिए इस पत्रिका की जागरूकता को आंशिक रूप से 'आदिवासी प्रेस' की प्रतिक्रिया माना जा सकता है। आंशिक इसलिए कि इस पत्रिका के अपने कुछ धार्मिक पूर्वाग्रह हैं। इस कारण 'समग्र आदिवासी समाज' की भावनाएँ मुखरित नहीं होतीं। फिर भी आंशिक रूप से यही आदिवासी समस्याओं को समझने से ही सही आदिवासी समस्याओं को समझने की आत्मीयतापूर्ण कोशिश तो इस पत्रिका में जो कि अन्य किसी भी पत्रिका या अन्य पाठ्य-सामग्रियों में दुर्लभ है।

प्रभात खबर, 8 अप्रैल, 1990

अखबार में बहुभाषिकता—जनतान्त्रिक देश में भविष्य की जरूरत?

गुवाहाटी से प्रकाशित अँग्रेजी दैनिक 'दि सेंटीनल' प्रति शुक्रवार अखबार के साथ एक परिशिष्ट भी उपलब्ध कराता है जिसका नाम है 'मल्टी लिंग्वल'। इस परिशिष्ट में अँग्रेजी के अलावा हिन्दी, बाँगला, बोडो, मिजो, अओ एवं कार्बी आदि भाषाओं में लेख, रिपोर्ट, सामान्य जानकारी और पूर्वोत्तर की विभिन्न भाषा-साहित्य विशेषतः, असम की जनगोष्ठियों से सम्बन्धित भाषा के लेख, कविता आदि प्रकाशित होते हैं। सेंटीनल हिन्दी के सम्पादक एवं असमिया से हिन्दी के प्रसिद्ध अनुवादक दिनकर कुमार बताते हैं कि आरम्भ में हिन्दी सेंटीनल में बहुभाषिक समाचार प्रकाशित करने की प्रक्रिया आरम्भ की गयी थी और तब हिन्दी सेंटीनल में पूर्वोत्तर की भाषाओं के अलावा मैथिली, भोजपुरी भी इसमें स्थान पाती थीं। चाय बागान में रह रहे प्रवासी आदिवासियों की भाषाओं में भी कभी कुछ विवरण आदि प्रकाशित होते थे। लेकिन बाद में यह सिलसिला कुछ कारणों से बन्द करना पड़ा। फिर कालान्तर में मात्र अँग्रेजी सेंटीनल में ही यह बहुभाषिक परिशिष्ट हफ्ते में एक दिन यानी प्रति शुक्रवार को प्रकाशित किया जाने लगा। आज इस बहुभाषिक परिशिष्ट में छह से आठ पृष्ठ तक की सामग्री होती है। इस तरह यह पूर्वोत्तर की विभिन्न जन समुदायों की भाषा को बचा सकने एवं नयी पीढ़ी को उनकी भाषा से जोड़े रखने

का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। निश्चय ही भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश में किसी अखबार के द्वारा किया जा रहा यह एक बेहद सराहनीय प्रयास है। इसका अहसास इसके पाठक एवं प्रकाशक दोनों को है। कुछ विशेषज्ञों की राय में यह देश के अन्य भागों से प्रकाशित बहुभाषिक परिशिष्ट के मुकाबले अपना विशिष्ट स्थान बना चुकी है।

लेकिन इसके विपरीत राँची, जमशेदपुर, धनबाद से प्रकाशित कुछ दैनिक अखबार जो झारखंड आन्दोलन के समय झारखंडी भाषाओं से सम्बन्धित विविध लेख आदि प्रकाशित कर रहे थे, अब एकाध अखबार को छोड़कर बाकी ने इसे बन्द कर दिया है। अँग्रेजी सेंटीनल का उदाहरण देखें तो झारखंड से प्रकाशित दैनिकों को यह कृत्य बेहद ही निराशाजनक है। अब जबकि इसकी जरूरत है इन दैनिक समाचार-पत्रों ने स्थानीय भाषाओं से मुँह मोड़ लिया है। ऐसा क्यों? क्या अब उन्होंने इसकी जिम्मेदारी 'जोहार दिशुम खबर' और 'झारखंडी भाषा-साहित्य संस्कृति अखड़ा' को दे दिया है? क्योंकि ये दोनों बहुभाषी अखबार एवं पत्रिका हैं और उनके हितैषी हैं? या बाजार में उनकी जरूरत नहीं है? अगर वे सोच रहे हैं कि बाजार में इस तरह की बहुभाषिकता लाने की जरूरत नहीं है तो वे गलत सोच रहे हैं। वैसे अगर झारखंड के सन्दर्भ में उनकी तंग एवं सीमित दृष्टिकोण आड़े आ रही है, तो यह अलग बात है। वे इंटरनेट में विभिन्न भाषाओं का उफान देख लें। उन्हें पता चल जायेगा कि वे कहाँ हैं? क्या सोच रहे हैं? और क्या कर रहे हैं? इसके अलावा 'टाइम्स ऑफ इंडिया' जैसा पुराना और कई नगरों से प्रकाशित अँग्रेजी अखबार पिछले कुछ महीनों से अपने कोलकाता संस्करण के साथ सप्ताह में एक दिन बँगला परिशिष्ट प्रकाशित कर रहा है। यानी वह बँगला पाठकों को अँग्रेजी के साथ कभी-कभी बँगला पढ़ने की सुविधा उपलब्ध करा रहा है ताकि बँगला पाठक की वफादारी उससे जुड़ी रहे। अतिरिक्त कुछ बँगला पढ़ने के लिए बँगला के अखबार न पढ़े और उसके ही अखबार का पाठक बना रहे। बाजार के दृष्टिकोण से देखें तो यह ग्राहक के भावनात्मक दोहन का एक शानदार नमूना हो सकता है। लेकिन ये इसका अन्य निहितार्थ यह भी है कि आज सिर्फ अँग्रेजी ही, बाजार के अनुकूल, जरूरत की भाषा नहीं है। अँग्रेजी अखबार को भी क्षेत्रीय भाषा की शरण लेनी पड़ी है, विचारणीय यह है। यह बाजार एवं उपभोक्तावाद के नजरिये से मूल्यांकन करने वालों के लिए स्थानीय भाषाओं वस्तु (अखबार) को बेचने का साधन है। लेकिन अन्य नजरिये से देखें तो यह किसी एक भाषा में सीमित अखबारों का विस्तार एवं जनतान्त्रिकरण भी है। भले इसका एक कारण बाजार बन गया है। इसलिए जिस तरह अँग्रेजी को क्षेत्रीय भाषाओं की शरण लेनी पड़ी है, हिन्दी अखबारों को स्थानीय भाषाओं के उपयोग के बारे भविष्य में गम्भीरतापूर्वक सोचना ही पड़ेगा। क्योंकि बिहार, यूपी, राजस्थान व छत्तीसगढ़ के कुछ समाचार-पत्रों को इसका पूर्वाभास हो गया है और वे स्थानीय भाषाओं के महत्त्व को ध्यान रखते हुए स्थान देने के लिए प्रेरित हुए हैं या बाध्य हुए हैं।

पिछले कुछ वर्षों से राँची से एक पाक्षिक अखबार 'जोहार दिशुम खबर' का प्रकाशन अश्विनी कुमार पंकज के सम्पादकत्व में हो रहा है। इसके अलावा एक पत्रिका

'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' का प्रकाशन बन्दना टेटे द्वारा किया जा रहा है। ये दोनों बहुभाषिक हैं। पिछले कुछ सालों से नियमित रूप से प्रकाशित हो रहे हैं। इनमें झारखंडी भाषाओं की रचनाएँ स्थान पाती हैं। इसमें नये-पुराने युवा एवं बुजुर्ग पीढ़ी की रचनाओं को प्रकाशित किया गया है। इसके अलावा हिन्दी के ऐसे विद्वानों की रचनाएँ भी स्थान पाती रही हैं जो झारखंड की भाषा-संस्कृति साहित्य के विकास से सम्बन्धित हैं। 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' ने झारखंड से सम्बन्धित कई विशेषांक प्रकाशित किये जिनमें साक्षात्कार अंक, पुरखा साहित्यकार अंक, लोक-संस्कृति अंक, लाखो बोदरा अंक, माँझी भाई अंक आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें झारखंडी भाषाओं के भूले-बिसरे लेकिन महत्त्वपूर्ण विद्वानों के कार्यों एवं कृतियों का मूल्यांकन भी किया गया है। इन विशेषांकों में झारखंडी भाषाओं के छात्रों, विद्वानों एवं शुभचिन्तकों को अपनी भाषाओं के एवं साहित्यकारों के बारे में नये सिरे से सोचने एवं जानने का अवसर दिया। नये लेखकों को लिखने का अवसर दे रहा है। उनकी नयी पीढ़ी तैयार कर रहा है यह इस पत्रिका का एक बेहद सराहनीय प्रयास है।

उपर्युक्त उदाहरणों को देख कहा जा सकता है भविष्य में अखबारों की दुनिया में और भी नये परिवर्तनीय सोच आने वाले हैं जिनमें से एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा-- जनतन्त्र, स्थानीय भाषा-भावना, और बाजार से अविभाज्य रूप से जुड़ा होगा। जिस तरह मात्र अँग्रेजी ही अपने पाठकों को सन्तुष्ट करने में सक्षम नहीं है वैसे ही मात्र हिन्दी से ही पाठक सन्तुष्ट नहीं रहेंगे। कई अखबारों ने इसे समझ लिया है और इस दिशा में यह कार्य करना शुरू कर दिया है। स्थानीय भाषाओं में रचनाएँ आदि प्रकाशित कर इसे स्वयं प्रमाणित भी कर रही हैं। इसे बहुभाषिक एवं बहुसांस्कृतिक देश की स्वाभाविक इन्द्रधनुषी अभिव्यक्ति भी माना जा सकता है। वैसे इसका एक अन्य सामाजिक, आर्थिक पक्ष यह है कि उपभोक्तावाद यानी एक में अनेक की चाह ने, अनजाने में स्थानीय भाषाओं के महत्त्व को सिद्ध करने की दिशा में एक कदम बढ़ा दिया है। परिणामस्वरूप, जैसे-जैसे लोगों में यह इच्छा और जागरूकता बढ़ेगी, अपने घर की भाषा, अपनी माँ की भाषा से भी प्रेम बढ़ेगा और बहुभाषिक अखबारों या पत्रिकाओं का महत्त्व भी। कम्प्यूटर एवं मोबाइल में क्षेत्रीय भाषाओं की बढ़ती सुविधा ने इस दिशा में एक अतिरिक्त कदम उठा दिया है। अब बारी समाचार-पत्रों की है।

सन् 2011

सारिका टाइम्स और अंकलश्री संस्कृति

जब से कहानियाँ पढ़ना आरम्भ किया, तब से 'सारिका' मेरे लिए एक अनिवार्य पत्रिका बन गयी थी। कभी इसे पूरी तरह पढ़ा तो कभी उसे अधूरा भी छोड़ा। लेकिन, सहेजकर उसे रखते हुए भी बाद में फुर्सत के क्षणों में उलटने-पुलटने एवं पढ़ने की कोशिश अवश्य करता रहता। कहानियाँ पढ़ने की इच्छा ने कुछ और पत्रिकाओं से भी रिश्ता कायम करने के लिए विवश किया। फलतः, कहानी, पहल, साक्षात्काार, कथादेश, सम्बोधन, कथानक, अब आदि से लेकर 'हंस', 'वर्तमान-साहित्य', 'कहानियाँ मासिक चयन', 'इन्द्रप्रस्थ-भारती', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'अक्षरा', 'कतार' आदि छोटी-बड़ी पत्रिकाएँ पढ़ने की कोशिश करता रहा।

'सारिका' को छोड़ प्रायः सभी पत्रिकाओं को प्राप्त करने में कठिनाई होती रही। बस 'सारिका' ही ऐसी पत्रिका थी जो नियमित रूप से छोटे-बड़े शहर या कस्बे में भी प्राप्त हो जाती थी।

सत्तर के दशक में अन्तिम वर्षों से 'सारिका' से परिचय हुआ। तब से अब तक चाहे-अनचाहे इसे पढ़ता रहा हूँ। कुछ वर्षों से सारिका की सामग्री, सजावट तथा मूल्य से असन्तुष्ट रहने के बावजूद, इसे खरीदना एक विवशता बनी हुई थी। लेकिन कल जब सारिका 'सारिका टाइम्स' के रूप में हॉकर द्वारा प्राप्त हुई, तो मन बिल्कुल निराश हो गया और पुनः एक हिन्दी पत्रिका की मौत पर रोना आया। चूँकि अब 'सारिका' पत्रिका न होकर शायद साहित्यिक अखबार का रूप धारण कर चुकी है, इसलिए पत्रिका की तरह इसकी दीर्घकालीन उपयोगिता न रह पायेगी। फिर सामग्री भी कैसी? बानगी देखिये। 'हिन्दी कहानी में सेक्स और अभिव्यक्ति का संकट' 'श्रीदेवी बनाम भाग्यश्री' आदि। इन सबके अतिरिक्त अन्दर के पृष्ठों में फैशन सम्बन्धी दो रंगीन पन्ने भी हैं। नागार्जुन की कविता और गाब्रिएल गार्सिदा मार्खेज जैसे अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के लेखक की कहानी भी है। आशय यह कि अब सारिका, साहित्यिक पत्रिका न होकर विभिन्न मसालों से युक्त ऐसा अखबार बन गया जहाँ आपको सांस्कृतिक पतन के सारे उद्‌गमबिन्दु प्राप्त हो जायेंगे।

इस पत्रिका की मौत के पहले भी हिन्दी की कई पत्रिकाओं की मौत देख चुका हूँ– कहानी, कल्पना, माधुरी, 'श्रीवर्षा', हिन्दी-एक्सप्रेस, रविवार, गंगा आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन पत्रिकाओं की मौतें एक बहादुरी भरी मौतें थीं। क्योंकि इन्होंने मूल्यों, परम्पराओं, आदर्शों आदि से समझौता न कर मृत्यु को स्वीकारना बेहतर समझा।

हाल ही में 'धर्मयुग' का साप्ताहिक से पाक्षिक हो जाना भी एक तरह से पत्रिका के मौत की ही निशानी है। इन सारी स्थितियों को देखकर लगता है, हिन्दी पत्रिकारिता किसी गहरे संकट के दौर से गुजर रही है। आखिर क्या वजह है कि ये पत्रिकाएँ या तो धड़ाधड़ बन्द होती जा रही हैं या अपने रंग, रूप, आकार तथा चरित्र आदि में परिवर्तन कर अपने नामों के पीछे अँग्रेजी का पुछल्ला लगाकर जीवित रहने को विवश हैं। कुछ

नये साप्ताहिक अखबार भी बाजार में आये हैं, जो शुद्ध अँग्रेजी नामों को ही लेकर अपना अस्तित्व और बाजार खड़ा करने में स्वयं को समर्थ पा रहे हैं।

इन स्थितियों को देखकर लगता है कि कहीं पर हिन्दी पत्रिकाएँ अपने पाठकों से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पा रही हैं। अगर ऐसा है, तो इसके कारणों की तलाश की जानी चाहिए। पहला कारण तो पत्रिकाओं के मूल्य में भारी वृद्धि है, जिससे पाठक-वर्ग त्रस्त हैं। फलत: उन्होंने हाल में प्रकाशित साप्ताहिक अखबारों का जोरदार स्वागत किया है जो अब तक प्रकाशित हो रहे साप्ताहिकों से मूल्य में कम हैं। दूसरा कारण है हिन्दी माध्यम से परोसी जा रही अँग्रेजी पत्रकारिता का जूठन, जिसे खालिस दूध में पकी खीर समझकर लोग चखने ही नहीं, खाने को विवश हैं। दरअसल, यह हिन्दी पाठक की मानसिक कमजोरी है जिसे व्यवसायी गण भुना रहे हैं। अनुवादी पत्रकारिता का असर यह हो रहा है कि हिन्दी पत्रकारिता की मौलिक सोच कहीं पर उपेक्षित हो रही है। बावजूद इसके हिन्दी पाठक इसे अपना रहे हैं। तीसरा कारण यह हो सकता है कि पाठक, जो कुछ पढ़ना चाह रहे हैं वह हिन्दी पत्रिकाएँ नहीं दे पा रही हैं। यह स्थिति लेखक, सम्पादकों तथा पाठकों के बीच आपसी संवाद की माँग करती है और आत्मविश्लेषण की भी।

ऊपर वर्णित दूसरे और तीसरे कारण को कभी कहानी की पत्रिका रह चुकी 'माया' के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। 'माया' अब समाचार पत्रिका है। यह सनसनीखेज समाचारों के प्रकाशन के लिए चर्चित रही है। इस पत्रिका ने भी कुछ महीनों से विदेशी पत्रिकाओं से अनूदित सामग्री प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया है। जाहिर है वह प्रतियोगिता के स्तर पर भी हिन्दी पाठक के अँग्रेजी मोह का ज्यादा लाभ उठाना चाहती है और बाजार में अपना अस्तित्व भी बनाये रखना चाहती है।

पत्रिकाओं के इस प्रकार के अस्तित्व संकट के पीछे एक वजह और हो सकती है। वह है पत्रिकाओं का पाठकीय रिश्ता, जो कहीं पर बाधित हो रहा है। आखिर ऐसा क्यों? पिछले कुछ अनुभवों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि वे ही पत्रिकाएँ या अखबार प्रसार संख्या बढ़ाने में सफल रही हैं, जिन्होंने क्षेत्रीय आकांक्षाओं को भी महत्त्व दिया। क्षेत्रीय, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्या को समझने का प्रयास करने वाली पत्रिका या अखबार उन सीमित दृष्टिकोण वाले अखबारों से ज्यादा सफल रही, जिन्होंने खुले मंच के रूप में छोटी-बड़ी तथा उपेक्षित हर समस्या को स्थान दिया और अपना सत्ता-विरोधी रुख अपनाये रखा।

लेकिन आज हिन्दी की स्थापित पत्रिकाएँ अपना बाजार विकसित करने में सबसे बड़ी बाधा, मूल्य को पा रही हैं। शायद वे पत्रिकाओं के वर्तमान ढाँचे में उतना लाभ नहीं कमा पा रही हैं, जितना कि उनसे अपेक्षित हैं। पिछले कुछ महीनों में इनकी प्रसार संख्या में लगातार गिरावट आयी है। हाल में प्रकाशित कुछ साप्ताहिक अखबारों ने अपने स्वरूप को आकर्षक बनाने के लिए नये तरीके ढूँढ़े हैं। उदाहरणार्थ 'संडे मेल' साप्ताहिक अखबार के साथ साप्ताहिक पत्रिका भी उपलब्ध कराता है। जो हिन्दी

पाठक के लिए बिल्कुल नया अनुभव है। वह साप्ताहिक अखबार और साप्ताहिक पत्रिका दोनों का आनंद ले रहा है। शायद यही कारण है कि इसकी प्रसार संख्या तेजी से बढ़ी है। पत्रिका के मूल्य का पाठक से इसी जरूरी रिश्ते ने कई पत्रिकाओं को मौत के कगार पर पहुँचाया है। हिन्दी का पाठक वैसे भी किताबों-पत्रिकाओं के लिए खर्च नहीं करने के लिए बदनाम रहा है और यह सच भी है। हिन्दी अखबारों, पत्रिकाओं के पाठक लाखों में तो मिल जाते हैं (जो कि उनकी आबादी को देखते हुए कम है) लेकिन, साहित्यिक या अन्य गम्भीर विषयों से सम्बन्धित किताबों के क्रेता कम हैं। स्पष्ट है देश की सर्वाधिक आबादी वाले भाषाभाषियों के बीच पुस्तक खरीदकर पढ़ने की संस्कृति विकसित नहीं की जा सकी है। इस संस्कृति के अभाव के कारण ही वे पत्रिका या पुस्तक की बढ़ी कीमतें देने को तैयार नहीं होते। हिन्दी पाठक की एक बड़ी कमजोरी है, सामग्री न देखकर पत्रिका की मोटाई नापना। जो पत्रिका कम कीमत पर जितनी मोटी मिलेगी वह उतनी ही अधिक बिकेगी, चाहे वहाँ सामग्री के नाम पर कोरी गप्प ही क्यों न हो? सस्ते साहित्य, सस्ते कामिक्स आदि की धुआँधार बिक्री इसके प्रमाण हैं।

हिन्दी पाठक की एक कमजोरी यह भी मानी जाती है कि वह एक ही पत्रिका में सारा कुछ चाहता है, राजनीति, अर्थ, खेल, साहित्य, फैशन, फिल्म तथा हल्की हास्य सामग्री से लेकर कामिक्स तक। शायद यही कारण है कि अलग-अलग विषयों के लिए स्वतन्त्र पत्रिकाओं का हिन्दी में अभाव-सा है। खेल, अर्थ, विज्ञान आदि से सम्बन्धित स्वतन्त्र एवं उच्च-स्तरीय पत्रिकाओं का अभाव, हिन्दी का गम्भीर पाठक निरन्तर महसूसता है।

मूल्य के अनुपात में पन्नों आदि में वृद्धि न होने के कारण ही हिन्दी पत्रिकाएँ पाठकों से दूर होती रही हैं। और इस कमी को सिने तारिकाओं आदि की अर्द्धनग्न तस्वीरें छापकर पाठकों को रिझाने का प्रयास करती रही हैं। पाठकीय एवं व्यावसायिकता के इसी गड्डमड्ड रिश्ते से तालमेल न बिठा पाने के कारण ही शायद पत्रिकाएँ या तो बन्द होती हैं या अपना स्वरूप परिवर्तित करने को विवश होती है। सम्भवत: यही कारण है कि एक रुपये से सात रुपये तक की कीमत छूते 'रविवार' का अवसान हो जाता है। इसी तरह पचास पैसे से आठ दस रुपये की महँगी यात्रा करने वाले 'दिनमान' अपने रंग-रूप, आकार आदि बदलकर 'दिनमान टाइम्स' हो जाता है। और अब 'सारिका'— 'सारिका टाइम्स'। टाइम्स समूह की पत्रिकाओं के आगे 'टाइम्स' जुड़ने की यही रफ्तार रही तो शीघ्र ही हमें 'धर्मयुग टाइम्स', 'पराग टाइम्स' आदि अखबारनुमा पत्रिकाएँ देखने को मिलेंगी। पत्रिका से अखबारी आकार में किसी पत्रिका का छपना कोई आपत्तिजनक बात नहीं। आपत्तिजनक है हर अच्छे नामों के पीछे अँग्रेजी का पुछल्ला जोड़ना। 'सारिका' या 'दिनमान' जैसे सुन्दर, अच्छे और अर्थपूर्ण नाम के पीछे टाइम्स का जुड़ना कुछ वैसे विरोधाभास को जन्म देता है जैसे 'अंकलश्री' कहना।

भारतीय नामों के पीछे अँग्रेजी पुछल्ले जोड़ने से भारतीयता या भारतीय संस्कृति

की दुहाई देने वालों के दिल नहीं जलते? भारतीय भाषाओं के ये शब्द अगर अपने नामों में अधूरे होते, तो माना जा सकता था कि चलो कुछ चीज उधार ले ली। लेकिन जब एक समर्थ शब्द को जबरदस्ती लँगड़ा करने या पंगु करने की कोशिश की जाती है तो आवाजें क्यों नहीं उठतीं? सम्पादकीय कुर्सी से चिपके एवं हिन्दी संस्कृति, भारतीय एवं हिन्दी स्वाभिमान की गर्जना करने वाले अन्य बुद्धिजीवी एवं विद्वान तब क्यों खामोश हो जाते हैं? तब स्वयं को 'काउबेल्ट वाला' सम्बोधित करने से चिढ़ने वाले हिन्दी-प्रेमी क्यों अपने मोटे कवचों के अन्दर अपना सिर छिपा लेते हैं?

जाहिर है हम चाहे लाख हिन्दी प्रेम की बातें करें हममें हिन्दी प्रेम शायद विवशता के कारण है या तो हम हिन्दी-प्रेमी, संस्कृत-प्रेमी या देशी भावनाओं से जुड़े लोग नहीं हैं या अँग्रेजी-परस्ती के शिकार हो चुके हैं। यह दोनों ही स्थिति उस गुलाम और बीमार मानसिकता से उपजी है, जिसकी गिरफ्त में समस्त हिन्दी जनता आ चुकी है। शायद यह उपभोक्तावादी संस्कृति की चरम परिणति ही है कि हमें देशी नामों के पीछे अँग्रेजी शब्द जोड़ना पड़ा। व्यावसायिकता के नाम पर एक संस्कृति, एक परम्परा, एक भाषा, एक देशी भावना का यह घोर अपमान नहीं तो और क्या है?

इस तरह 'सारिका' को 'सारिका टाइम्स' होते या 'दिनमान' को 'दिनमान टाइम्स' होते देखना सांस्कृतिक पतन का ज्वलन्त उदाहरण है। हिन्दी की गौरवशाली पत्रकारिता के नाम पर यह एक कलंक है जहाँ व्यावसायिकता के नाम पर भाषायी तथा जातीय स्वाभिमान की बलि देते हुए 'अंकलश्री' की संकर संस्कृति को मान्यता दे दी गयी।

प्रभात खबर 28.10.1990

बिरसा माँझी का पत्र पढ़कर

कल ही भांजे रविशंकर ने दिल्ली से अपने भाई के लिए कुछ पत्रिकाएँ भेजीं। निश्चय ही ये पत्रिकाएँ उसके पढ़ाई से सम्बन्धित थीं। वे सारी पत्रिकाएँ 'ज्योग्राफी एंड यू' के पुराने अंक थे। चूँकि प्रकाशक पुरानी पत्रिकाओं को एक-एक साल के जिल्द बाँधकर बेचता है। इसलिए सारी पत्रिकाएँ जिल्द में बँधी थीं, जनवरी-फरवरी-07 के एक अंक को छोड़कर। भूगोल कभी अपना प्रिय विषय था, इसलिए जब कभी भूगोल सम्बन्धी कुछ सामग्री, किताब या पत्रिका में मिल जाती तो उसे एकाध बार देखने का प्रयास अवश्य करता हूँ। जाहिर है इस पत्रिका को भी उलटा-पलटा। पत्रिका के ताजे अंक में ऊर्जा संरक्षण, चावल उत्पादन, जनसंख्या, यूरेनियम तथा समुद्र किनारे मछली पालन पर सामग्री को सरसरी निगाह से देखा और पत्रिका पलटते लेटर्स टू दि एडीटर पर निगाहें जमीं। वहाँ देखा कि सात पाठकों के पत्र छपे हैं और इनमें से एक पत्र झारखंड के बिरसा माँझी का है। पत्र में बिरसा माँझी ने लिखा है कि– 'पत्रिका उसे राँची में मिली और वे आदिवासियों की दुर्दशा के बारे में लिखना चाहते हैं। पत्र में उन्होंने

अनुरोध किया है कि वे हिन्दी में लिख सकते हैं जिसे इंगलिश में अनूदित कराया जाय।'

आदिवासी या ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले किसी पाठक का किसी पत्रिका में लिखने की इच्छा प्रकट करते पत्र लिखने और उसकी इच्छा को छापने की घटना मेरे लिए अचम्भित करने वाली है। क्योंकि आज तक ऐसे बहुत कम आदिवासी छात्रों को देखा है जो लिखने के लिए महत्त्वाकांक्षी रहे हों। प्राय: कुछ धार्मिक, स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं, स्कूल-कॉलेज की वार्षिक पत्रिकाओं या सेवोनियर में कुछ लिख-छपकर उन्हें सन्तुष्ट होते देखा है। अत: बिरसा माँझी का यह पत्र पढ़कर मुझे बहुत खुशी हुई कि चलो कोई तो निकला जो सम्पादक से आग्रह करता है कि– 'वह आदिवासियों के बारे में लिखेगा'। नहीं तो प्राय: लोग अपने आदिवासी नहीं होने का प्रमाण देने की चेष्टा करते हैं और आदिवासियों के बारे में कम-से-कम बात कहना चाहते हैं। परिस्थितिवश यह कुछ स्थितियों में सही हो सकता है, हर बार नहीं। अत: इस तरह की नयी पीढ़ी में अपने आदिवासी होने का गर्व एवं आत्मविश्वास पिछली पीढ़ी से ज्यादा दिखता लगता है। इसी तरह 'जीएंडवाई' के सम्पादक की भी सराहना की जानी चाहिए कि उसने बिरसा माँझी के पत्र को छापा। वरना पिछली पीढ़ी के अधिकांश सम्पादकों की तरह वह भी बिरसा माँझी के पत्र की उपेक्षा कर सकते थे। यह देख ऐसा लगता है कि तमाम तरह की कट्टरता, नासमझी, संवादहीनता, उच्चता बोध आदि से ग्रसित समाज के बीच भी नयी पीढ़ी के अनेक लोग चाहे वे किसी भी समुदाय के हों एक-दूसरे से संवाद करना चाहते हैं, एक-दूसरे को समझने के अवसर को जाने देना नहीं चाहते। यह शुभ संकेत है भविष्य के भारत के लिए।

बिरसा माँझी का लेख कब छपेगा यह कहना कठिन है। यह बिरसा माँझी ही बता सकते हैं। उन्होंने छपने की इच्छा जाहिर की है। यह बड़ी बात है। यदि बिरसा माँझी ने अपनी इच्छा पर भरोसा एवं धैर्य रखा तो निश्चय ही छपेगा। शायद उन्हें नहीं मालूम कि यह पत्रिका भूगोल और आप नाम से हिन्दी में भी प्रकाशित होती है। उसका लेख हिन्दी में भी छप सकता है। निश्चय ही इसके लिए उसे मेहनत भी करनी होगी। उसके छपने की सम्भावना अधिक इसलिए है कि वह लिखने की शुरुआत करने के लिए कविता नहीं लिख रहे हैं। वरना आरम्भिक दौर में हर लिखने वाला पहले कविता ही लिखता है और कविताएँ नहीं छपने पर निराश होकर अपनी सृजनात्मक क्षमता को समय से पहले मार देता है। बिरसा के पत्र और पत्रिका के विषय को देखकर लगता है बिरसा, आदिवासियों के बारे में कोई रपट, शोधपरक लेख आदि लिखने वाले हैं। यदि उसने कुछ नये मुद्दे उठाये, कुछ नये तथ्य लेख में उभारे या कोई नया दृष्टिकोण अपने लेख में लाया तो उसका लेख अवश्य छपेगा। लेख के साथ यदि वह चित्र, आँकड़े, रेखाचित्र आदि भी भेजेगा तो वह अपने लेख को ज्यादा आकर्षक बना सकता है। उसका पत्र पढ़कर मुझे विश्वास हो रहा है कि अब आदिवासी कलम उठाने के मामले में महत्त्वाकांक्षी होने लगे हैं। पहले यह महत्त्वाकांक्षा बहुत संकुचित, सीमित एवं शर्मीली होती थी। यही कारण था कि आदिवासी प्रतिभाएँ उभर नहीं पाती थीं। अब नयी पीढ़ी मुखर हो रही है,

वाचाल हो रही है और उन क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा दिखाना चाहती है जहाँ कि उसका अस्तित्व नहीं के बराबर है। यह देखना मेरे लिए एक नवजागरण से कम नहीं है। क्योंकि अपने छात्र जीवन और उसके बाद भी मुझे यह सवाल बहुत परेशान करता था कि क्यों नहीं लिखते आदिवासी? क्योंकि मैं जहाँ पढ़ता था वहाँ कई आदिवासी शिक्षक, हिन्दी के अलावा अँग्रेजी भी पढ़ाते थे। लेकिन अखबारों पत्रिकाओं में लेख, कविता, कहानी की बात तो दूर आदिवासी पाठकों के पत्र भी नहीं छपते थे। जबकि कई बार उनके बारे में बहुत कुछ लिखा होता था। शायद तब उनमें सामाजिक, साहित्यिक चेतना नहीं जगी थी। या ऐसे साक्षर लोग एकदम कम रहे होंगे।

अब सबसे अच्छी बात तो यह लगती है कि बिरसा माँझी जैसे लोग अपने समाज के बारे लिखना चाहते हैं। शायद वे उन विद्वानों से कहीं पर असहमत होते होंगे या उनके विचारों, तथ्यों, दृष्टिकोण को और विस्तार देना चाहते हैं। क्योंकि कई बार ऐसा लगता है कि इस विद्वान ने ये कुछ मुद्दे छोड़ दिये जिसे लेख या किताब में जोड़ा जाना चाहिए था। हालाँकि ऐसा नहीं है कि एक आदिवासी, आदिवासी समाज के बारे में सही ही लिखेगा और एक गैर-आदिवासी विद्वान कुछ गलत ही। हाँ, कुछ समस्याओं, मुद्दों के अवलोकन एवं विश्लेषण के दृष्टिकोण में अवश्य अन्तर दिख सकता है, क्योंकि एक आदिवासी, दलित या उपेक्षित समुदाय का लेखक अपनी समस्याओं को एक इनसाइडर के नजरिये से भी देख सकता है। ऐसा करने में वह हृदय से ज्यादा काम ले सकता है। अत: कई मुद्दों के भावनात्मक पक्ष भी उजागर होने की सम्भावना बनी रहती है। अब जबकि नयी आदिवासी, दलित पीढ़ी– स्वयं अध्ययन के विषय नहीं बनना चाहती बल्कि अपने बारे में, अपनी समस्याओं के बारे में, खुद लिखना, समझना चाहती है तो कलम के लिए बन्द दरवाजों में से कुछ तो खुलेंगे ही।

अधिकांश सम्पादक चाहे वे किसी दैनिक अखबार, संस्थान विशेष या सरकारी अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पत्रिका के हों, प्राय: देखा गया है कि आदिवासी, उपेक्षित, दलित समुदाय के बारे में दबे स्वर के साथ कुछ कहा जाता है और अगर कहा भी जाता है तो वहाँ उनके विचार या तथ्य के नकारात्मक पहलुओं को तवज्जो दी जाती है। इस मामले में अधिकांश का मानना है कि इस तरह के मुद्दों पर लिखना, छापना आदि एक प्रकार का जातिवादी एवं आत्मकेन्द्रित लेखन है। लेकिन, यह नहीं समझा जाता है कि इस तरह के लेखन से ही समाज की नयी समस्याओं को समझने में सहायता मिलती है, आपसी समझदारी बढ़ती है, एक नागरिक होने के नाते हमारी सामाजिक चेतना परिपक्व होती है। एक-दूसरे के प्रति गलत धारणाएँ एवं अनावश्यक पूर्वाग्रह टूटते हैं और नयी दृष्टि एवं चेतना विकसित हो पाती है। समाज में हर स्तर पर संवाद बढ़ती है, वैचारिक खालीपन भरता है। अत: ऐसे समुदाय के लोग जो अब कलम उठाना सीख रहे हैं उन्हें और प्रोत्साहित, प्रेरित करने की आवश्यकता है। ऐसे संवेदनशील, उदार एवं दृष्टि-सम्पन्न सम्पादकों की संख्या कम है। कम ही सही कुछ तो ऐसे हैं जो इस उपेक्षित समुदाय के पाठकों, लेखकों को अवसर देना चाहते हैं, जैसा कि इस प्रकार की चुनौती को

स्वीकार करते 'समकालीन भारतीय साहित्य के अंक 124' में सम्पादक अरुण प्रकाश ने सम्पादकीय 'आमुख' में साहित्य के सन्दर्भ में लिखा है– 'समाज का कोई तबका साहित्य में आने से छूट न जाये, कोई भी उल्लास अथवा पीड़ा की चीख साहित्य में आने से रह न जाय।' शायद 'ज्योग्राफी एंड यू' के सम्पादक एस. चट्टोपाध्याय भी अरुण प्रकाश के उस विचार से सहमत हैं। वे भी अपनी पत्रिका के माध्यम से यही करना चाहते हैं। विमर्श की यह प्रक्रिया– बिरसा माँझी के पत्र के बहाने या समकालीन भारतीय साहित्य के सम्पादकीय आदि के माध्यम से जनता, बुद्धिजीवी वर्ग, नीति निर्धारक प्रशासनिकों के अलावा अगर राजनीतिज्ञों से भी संवाद करती है तो यह प्रक्रिया, हर स्तर पर, बिन्दास चलते रहना चाहिए, आपसी समझ को परिपक्व बनाने के लिए।

अरावली उद्घोष

स्थानीय ज्ञान, भाषा, संस्कृति एवं अनुभव बचाने हेतु क्या कुछ नहीं कर सकते हैं दैनिक अखबार!

कुछ ही दिन पहले मेरे मित्र सुप्रिया राय एवं के.बी. बरूवा दफ्तर के काम से गौहाटी जा रहे थे। तब मैंने उनसे आग्रह किया था कि एकाध कैसेट बीहू गीतों के ले आये। इस बीच मुझे राँची आना पड़ा और जब कोलकाता लौटा तो मित्रों ने मुझे बीहू का कैसेट तो दिया ही साथ में गौहाटी से प्रकाशित अँग्रेजी अखबार सेंटीनल का एक सप्लीमेंट भी दिया और कहा– यह खास तुम्हारे लिये! मुझे आश्चर्य हुआ। प्रसन्नता भी कि मित्र मेरी रुचि का इतना ख्याल रखते हैं। एक अखबार का सप्लीमेंट खास मेरे लिए? खैर जब मैंने वह सप्लीमेंट पूरी तरह उलट-पुलटकर देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। यह देखकर कि अँग्रेजी अखबार का यह सप्लीमेंट पाँच भाषाओं में विभिन्न प्रकार के लेख, सूचनाओं, कविताओं, कहानियों तथा अन्य समाचारों से भरपूर था। मैं यह देखकर बहुत खुश हुआ। मुँह से निकल पड़ा– वाह! जनतान्त्रिक आकांक्षाओं का इतना सम्मान! यह सुनकर मित्रों ने कहा– पता नहीं जनतान्त्रिक आकांक्षाओं का सम्मान या कुशल ग्राहक सम्बन्ध प्रबन्धन! जब उन्होंने यह कहा तो मैं भी सोच में पड़ गया। मेरी दृष्टि से यह तो जनतान्त्रिक आकांक्षाओं का सम्मान था, लेकिन मित्र इसे कुशल ग्राहक सम्बन्ध प्रबन्धन के नजरिए से देख रहे थे।

गौहाटी से प्रकाशित दि सेंटीनल प्रत्येक शुक्रवार को पाँच भाषाओं– असमिया, हिन्दी, बँगला, बोडो एवं मिजो में एक सप्लीमेंट प्रकाशित करता है। इसमें प्रत्येक भाषा-समुदायों से सम्बन्धित विविध समाचारों के अलावा कविता, कहानी आदि प्रकाशित होते हैं। बँगला एवं हिन्दी की सामग्री पढ़ने के बाद असमिया पढ़ने का प्रयास किया। काफी कुछ पढ़ सका। लगा यदि अभ्यास किया जाय तो यह भाषा सीखी जा सकती है। लेकिन, मिजो भाषा का सप्लीमेंट हालाँकि रोमन अक्षरों में लिखा था लेकिन

एक भी शब्द समझ नहीं सका। उच्चारण की कठिनाई थी ही। इसी तरह बोडो भाषा का कॉलम देवनागरी लिपि में था, लेकिन इसे भी समझना और उच्चरित करना काफी कठिन लग रहा था। कुछ उसी तरह जिस तरह मराठी यद्यपि देवनागरी में लिखी जाती है तथापि इसे बोलना गैर–मराठी के लिए आसान नहीं होता। यह देखकर अच्छा लगा कि कोई अखबार अपने ग्राहकों की भाषा के बारे में सोचता है और उसे विकसित करने का प्रयास भी करता है। निश्चय ही इससे जनता की माँगें पुख्ता होंगी।

देश के कई छोटे–बड़े शहरों से हजारों समाचार–पत्र हिन्दी–अँग्रेजी के अलावा आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होती हैं। क्या वे सेंटीनल की तरह प्रयोग करने के बारे में सोच सकते हैं। प्रत्येक सप्ताह न सही पाक्षिक या मासिक स्तर पर ही सही इस तरह के परिशिष्ट प्रकाशित करने के बारे में निर्णय ले सकती हैं? पटना, मुजफ्फरपुर से प्रकाशित अखबार भोजपुरी, मगही, अंगिका एवं मैथिली में परिशिष्ट प्रकाशित कर सकते हैं। राँची के अखबार उराँव, मुंडा, नागपुरी, खड़िया एवं पंचपरगनिया में परिशिष्ट प्रकाशित कर सकते हैं। कोलकाता के अखबार संताली, नेपाली, भोजपुरी, राजस्थानी आदि में परिशिष्ट प्रकाशित कर सकते हैं। जमशेदपुर के अखबार संताली, हो, भोजपुरी, मैथिली को सुविधानुसार स्थान दे सकते हैं। इस तरह देश के विभिन्न छोटे–बड़े शहरों से प्रकाशित होने वाले अखबार अपने स्थानीय पाठकों के लिए उनकी मातृभाषाओं में विशेष आयोजन कर सकते हैं। इस तरह वे एक नया पाठक–वर्ग बनाने में समर्थ तो होंगी ही, उस भाषा विशेष को विकसित करने में अपना योगदान दे सकती हैं। एक अखबार के सम्पादक की कल्पना करें कि उनके थोड़े–से उत्साह से एक समुदाय की न केवल भाषा बच जायेगी बल्कि समुदाय विशेष के ज्ञान, अनुभव तथा जीवन के विभिन्न तकनीक बचाये जा सकते हैं। क्योंकि यू.एन.ओ. की एक रिपोर्ट के अनुसार हर पन्द्रह दिन में विश्व के किसी कोने में एक भाषा मर रही है। इसलिए दैनिक अखबार के सम्पादक थोड़ी देर के लिए अपने एकभाषी पर्यावरण से बाहर निकलें और दूसरे भाषिक, सांस्कृतिक वातावरण का आनन्द लेने का प्रयास करें तो दुनिया से समाप्त होती भाषाओं को बचाया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में फादर बैपटिस्ट हॉफमैन को ऐसा एहसास हुआ था कि भविष्य में मुंडा भाषा सम्भवत: समाप्त हो जायेगी और साथ ही इस समाज का ज्ञान। तब उन्होंने मुंडारिका इन्साइक्लोपीडिया पर काम आरम्भ कर दिया था। आज उतना बड़ा कार्य एक संस्था के वश की भी बात नहीं। ऐसी हालत में भाषा बचाने का काम कोई देसी सम्पादक नहीं कर सकता क्या? जो उससे ज्यादा सुविधाओं से लैस है! क्या सम्पादकीय कुर्सी पर बैठा आदमी यह सोचकर उद्वेलित, उत्तेजित नहीं है कि उसके छोटे–से प्रयास से एक भाषा, एक लुप्त होता तकनीक, एक लुप्त होता भावपूर्ण गीत, एक मजेदार लोककथा, इतिहास का कोई उपेक्षित अध्याय, कोई जीवन रक्षक औषधीय ज्ञान, फल–फूल उगाने का कोई पारम्परिक तरीका या इसी तरह कोई अन्य ज्ञान इस छोटे प्रयास से बच जायेगा! सप्ताह में ऐसे एक परिशिष्ट नहीं तो कम–से–कम महीने में एक परिशिष्ट नहीं निकाला जा सकता है?

मात्र हिन्दी ही नहीं अँग्रेजी के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगू, उड़िया, पंजाबी, उर्दू, मलयालम आदि सभी भाषाओं के अखबारों के सम्पादक कुछ ऐसा सोचें तो कितनी सार्थक बातें उभर सकतीं हैं। स्थानीयता या क्षेत्रीयता में संकीर्णता की दृष्टि से न देखें जैसे स्थानीय समाचार आपके लिए महत्त्वपूर्ण हैं वैसे ही स्थानीय भाषाओं का महत्त्व है। अगर स्थानीय समाचारों को अखबारों में जगह दी गयी है तो स्थानीय भाषाओं को भी महत्त्व देना अखबारों का एक व्यावसायिक दायित्व है। इस दृष्टि से देखें तो गणतन्त्र के चौथे पाये ने अपनी भूमिका निभाने में कंजूसी दिखायी है। लेकिन क्या ऐसा कर वे एक नये पाठक-वर्ग से जुड़ने से वंचित नहीं रह गयी हैं?

दि सेंटीनल के बहुभाषी परिशिष्ट से एक दैनिक अखबार के सम्पादक कितना सहमत हैं यह जानना मुश्किल है, लेकिन इस सन्दर्भ में यह अवश्य कहा जा सकता है यदि किसी अखबार ने इस तरह का प्रयास किया तो वह व्यावहारिक रूप में लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत एवं पुख्ता कर रहा होगा। साथ ही मनुष्य के विविध ज्ञान एवं अनुभवों को बचाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। न केवल हिन्दी बल्कि तमाम भारतीय भाषाओं के अखबारों के पास इस तरह सही मायनों में जनाकांक्षा का प्रतीक बनने का सुनहरा अवसर है। प्रभात खबर, घूमता आईना जैसे कुछ अखबार पहले ऐसा प्रयोग कर चुके हैं। यह पत्रकारिता को नयी दिशा दे सकने के लिए एक चुनौती भी है। आप इसे क्या कहेंगे? कुशल ग्राहक सम्बन्ध प्रबन्धन? मार्केटिंग कौशल? या जनतन्त्र को पुख्ता करने की दिशा में उठाया गया महत्त्वपूर्ण कदम? या पागलपन? लेकिन इससे अलग यह मनुष्य के ज्ञान भंडार को बचाने जैसा एक सार्थक सम्पादकीय कदम नहीं है क्या? और कोई भी सजग, प्रबुद्ध सम्पादक पत्रकारिता के इस चुनौती से बचा रह सकता है क्या? आजादी के पचास साल बाद भारतीय पत्रकारिता कितनी परिपक्व एवं जनता की पक्षधर हो पायी है, देखना यह भी है। जनतन्त्र के रक्षक समाचार-पत्र और सम्पादक इस मुद्दे पर क्या कर सकते हैं? या यह उनके सम्पादकीय नीति से मेल नहीं खाता? या कुछ और व्यापक दृष्टिकोण चाहिए? या क्या? वैसे इस विषय एवं मुद्दे पर चाहे जिस भी दृष्टिकोण से देखें, यदि किसी भी भाषा के ये दैनिक अखबार अच्छा करें और अपनी भाषाई दबंगता एवं उच्चता-बोध से मुक्त हों तो बहुत कुछ कर सकते हैं, क्योंकि एक अनुमान के अनुसार देश के ग्रामीण इलाकों की 80 प्रतिशत जनता द्विभाषी है जबकि एक शहरी या अर्द्ध-शहरी को तीन से पाँच भाषाओं का ज्ञान होना आम बात है।

सन् 2003

सभ्य मीडिया की नसीहत और झारखंड की पारम्परिक हॉकी स्टिक

पिछले दिनों खेल कूद से सम्बन्धित एक टी.वी. कार्यक्रम (दिनांक 28.11.03

स्पोर्टसलाईन कार्यक्रम) में झाड़खंड में हॉकी की चर्चा की गई और जानकारी देते विमल लकड़ा को उनके स्कूल में दिखाया गया। बांस से बने हॉकी स्टिकों से आदिवासियों को खेलते हुए दिखाया गया और बाद में रिपोर्टर द्वारा टिप्पणी की गई कि यदि आप चैम्पियन बनना चाहते हैं तो बाँस के स्टिकों का प्रयोग न कर अच्छे हॉकी स्टिकों का प्रयोग करें! सरकार के लिए, हॉकी संघ के लिए कोई टिप्पणी नहीं थी कि वह रांची के अलावा सिमडेगा, खूँटी, गुमला, आदि स्थानों में कोई एस्ट्रो टर्फ वाली हॉकी स्टेडियम का निर्माण करा दे तो आदिवासी खिलाड़ी और आगे बढ़ सकते हैं। जो विपरीत स्थितियों के बावजूद आगे बढ़ गया उसके पीठ थपथपाने के बदले उसमें हीनता भरने एवं छोटा करने का काम करते हैं। आदिवासी प्रतिभाएँ चाहे कुछ भी करें उनके आगे पीछे कुछ भी अगर मगर जोड़ने की यह पुरानी एवं समृद्ध सभ्य भारतीय परम्परा है।

सभी को पता है जयपाल सिंह भारत के प्रथम ओलंपिक हॉकी टीम के कप्तान थे। लेकिन, कई बार यह सूचना प्रकाशित होने के बाद कि जयपाल सिंह आदिवासी थे तो बाद में कई जगह बताया गया कि वे मैच नहीं खेले थे। इसके अलावा वे ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में ऑक्सफोर्ड ब्लू के सम्मान से सम्मानित किए जाने वाले प्रथम भारतीय भी थे इसकी चर्चा शायद ही किसी ने की हो। अस्सी के दशक में भारतीय हॉकी टीम के एक प्रमुख सदस्य माइकेल किन्डो को माइकेल कुन्डू कहकर गैरआदिवासी बताया गया। भला आदिवासी होकर कोई भारतीय टीम में खेलता कैसे? इसी तरह एक प्रमुख हॉकी खिलाड़ी जो आज राजनीति में आ गए हैं ने तब एक अँग्रेजी साप्ताहिक स्पोर्टसवर्ल्ड को एक साक्षात्कार में बताया था कि 'आदिवासीज आर टू गुड, बट दे प्ले सोल्जर हॉकी।' मतलब खेलने के लिए उनके पास स्पीड, स्टेमिना एवं स्किल तो है लेकिन दिमाग नहीं है। इसके विपरीत एक बार रूसी महिला हॉकी टीम की कप्तान से पूछा गया कि उसे किसका खेल सर्वाधिक पसन्द है? तो उसने तब विश्वस्तरीय सर्वश्रेष्ठ महिला हॉकी खिलाड़ी के रूप में अलमा गुड़िया का नाम लिया था।

यानी पहले तो कोशिश की जाती है कि किसी आदिवासी, दलित प्रतिभा को कोई प्रसिद्धि, पुरस्कार या सम्मान न मिले या उसकी चर्चा न हो। फिर भी यदि किसी ने तमाम विपरीत स्थितियों को झेलते हुए आगे कदम बढ़ा ही लिया तो कोशिश की जाती है कि उसे कमतर बताने के कारण एवं परिस्थितियाँ तलाशी जायं। यदि इसमें भी कमी रह जाती है तो उसकी सफलता का श्रेय लेने के कई दावेदार पैदा हो जाते हैं। आखिर सफलता से जुड़ना किसे बुरा लगता है? चाहे वह किसी की भी क्यों न हो। फिर टी.वी. वाले इसमें क्यों नहीं इस इलाके में आएँ और झाड़खंडी सफलता के साथ स्वयं को जोड़ें! तब भी कई बार ऐसा हुआ है कि इनकी सफलताएँ अचर्चित एवं अनजानी ही रह जातीं हैं।

सही है कि आर्थिक सम्पन्नता किसी भी समाज को आगे बढ़ने के लिए बल देती है। आदिवासी समाज के पिछड़ा होने का एक प्रमुख कारण उनकी गरीबी एवं आर्थिक विपन्नता है। गरीबी के कारण यह समुदाय बढ़ते समाज एवं सभ्यता से होड़ लेने में स्वयं को कई बार कमजोर पाती रही है और अपना आत्मविश्वास खोती रही है। फिर

भी नए वातावरण, समस्या, स्थितियों से जूझने की उनकी नैसर्गिक एवं प्राकृतिक शक्ति उन्हें कुछ–न–कुछ सिखाता रहता है और वे सीखते रहते हैं। इस प्रक्रिया के विरोध या किसी को छोटे करने वाली मानसिकता को आधुनिक बुद्धिजीवियों ने भी विरोध ही किया है। किन्तु, लोग अपनी उच्चता बोध से मुक्त हों तभी तो वे जीवन को देख सकेंगे क्योंकि जहाँ सवाल जीने का है वही महत्व सिर्फ रोटी का है रोटी के साथ नमक या दाल की बात तो बाद में आती है। झाड़खंडी गाँवों में हॉकी को इस सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। हॉकी के साथ वे जिन्दा रहे और आज भी जिन्दा हैं तभी वे विमल लकड़ा को आगे ला सके और आगे भी और बेहतर चैंपियन खिलाड़ी भी ला सकेंगे। लेकिन, यदि एक परम्परा, एक आदत, एक जिजीविषा ही मर जाय तो उसके आधुनिकीकरण की बात करना बेईमानी ही होगी। उन्होंने हॉकी के साथ जीने की परम्परा को जीवित रखा भले बाँस के जड़ से बने बॉल एवं केंदु के स्टिक से खेलकर। बड़ी बात यह है। उन्हें आगे बढ़ने की सलाह देने के लिए सिर्फ स्टिक बदलने की नसीहतें देने के साथ ही सरकार से भारतीय हॉकी संघ से इन इलाकों में आधुनिक एस्ट्रो टर्फ मैदान देने की सिफारिश भी कीजिए और अगले दस, बारह सालों में हॉकी का बदलता चेहरा आप स्वयं देख लेंगे।

देश की अन्य राज्यों की सरकारें अपने राज्य की कला, साहित्य, खेल आदि की परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए विशेष कार्यक्रम आयोजित ही नहीं करतीं हैं इसे विकसित करने के लिए विशेष अभियान भी चलाती हैं। इसके लिए आवश्यक है कि राज्य सरकार भी रूचि दिखाए। यह रूचि एवं उत्साह झारखंड दिवस पर प्रदर्शनी हॉकी मैच के आयोजन तक सीमित न रहे और इसके लिए गम्भीरतापूर्वक कुछ सार्थक पहल करे तो इसके अच्छे परिणाम भविष्य में अवश्य दिखेंगे और तब बिमल लकड़ा और 'लकड़ा' (बाघ) की तरह कई फुर्तीले लकड़ानुमा खिलाड़ी वास्तविक रूप में राष्ट्रीय स्तर पर उभरते, खेलते, गोल मारते दिखेंगे।

सन् 2002

आधुनिक तकनीक और समाज

कौन बनायेगा लखटकिया नैनो ट्रैक्टर?

रतन टाटा जी एक बार पति पत्नी और बच्चे को बारिश में भींगते देखा और उनके मन में यह बात आई कि क्यों न ऐसे परिवार के लिए एक लाख की कार बनाई जाय? रतन टाटा जी का बहुत धन्यवाद कि अब कई ऐसे लोग कार लेने की बात सोच रहे हैं जिन्होंने सपने में कार लेने के बारे नहीं सोचा था। उन्होंने अपनी टीम के साथ इस पर सोचा, अनुसंधान किया और अन्तत: एक लाख की कार दुनिया के सामने ले आये। अब इसकी चर्चा विश्व कार जगत में जबरदस्त ढंग से हो रही है। इतनी सस्ती कार? कई दम्भी रईसों की नींद भी उड़ गई कि अब उसकी सेवा करने वाले लल्लू पंजू लोग भी कार खरीद लेंगे। जाहिर है ऐसे दम्भी लोगों की नींद उड़ गई है। हर नई सामग्री सीधे, रईस कहे जानेवालों के लिए होती है और बहुत बाद में ही वह आम लोगों तक पहुँच पाती है। उदारवाद के बाद भारत में मध्यवर्ग ने जिस प्रकार की क्रूरता का इजहार किया है वह भी चिन्ताजनक मसला है। एक लाख की कार होने के बावजूद करोड़ों लोगों के हाथ नहीं आयेगी। फिर भी लोग खुश हैं। उपभोक्तावादी मानसिकता का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है।

हमारा देश किसानों का देश कहा जाता है। देश की सत्तर प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है। हर छोटा बड़ा नेता किसानों का नाम लेना नहीं भूलता। कई उद्योगपति भी आम आदमी का ध्यान रखते हैं। फिर वे अब ग्रमीण बालाओं को शैम्पू बेच रहे हैं या सात सौ रुपये की मोबाईल। या फिर टी.वी. फ्रिज, कूलर या पंखे तेल साबुन या और कुछ भी वे आम आदमी के लिए सोचते रहते हैं। अगर कुछ सोचा, कुछ नहीं किया जाता तो वह है किसानों के लिए। किसान, सेज के लिए डैम के लिए फैक्टरी के लिए तो कभी कुछ के लिए विस्थापित किया जाता है। कर्ज इतने लाद दिए जाते हैं उसके जीने की असुविधा इतनी बढ़ा दी जाती है कि वह अब आत्महत्या करने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। ऐसी हालत में कई उद्योगपति भी किसानों के हित की बात कर चुके हैं कि किसानों की स्थिति में कुछ सुधार होना चाहिए। कहा नहीं जा सकता इसमें कब तक सुधार सम्भव है। सरकार भी उनके बारे परेशान है। छात्र, स्कूलों में भारत को किसानों को देश बताते रहते हैं। लेकिन सच पूछा जाय तो देश अब नव धनाढ्यों का बनता जा रहा है। जहाँ सिर्फ उभरते नव धनाढ्य वर्ग और मध्यवर्ग की आकांक्षा पूर्ति की बात की जाती है। वहाँ गरीब एवं किसान पिटने एवं विस्थापित किए जाने के लिए हैं। ऐसे में उन्हें कुछ देने की बात कोई नहीं सोचता। कोई यह नहीं बताता कि कम बिजली का विकल्प क्या है? और उससे कैसे सिंचाई एवं रोशनी की व्यवस्था की जाय? दुर्गम गाँवों में आवागमन के लिए बैलगाड़ी से आगे की व्यवस्था कैसे हो सकती है? एक ट्रैक्टर कैसे पहाड़ी एवं मैदानी इलाके में कार्य करने के लिए सक्षम बनाया जा सकता है? ऐसे में एक संवेदनशील और किसान

प्रेमी रतन टाटा जैसे किसी शख्स को थोड़े दुर्गम गाँवों में जाकर उनकी कठिनाई को देखना होगा जैसाकि रतन टाटा ने बारिश में स्कूटर पर सवार परिवार को बारिश में भींगते देखकर एक लाख के कार बनाने के बारे सोचा। उसी प्रकार कोई किसान प्रेमी उद्यमी, मेकानिक या उद्योगपति या नया कुछ कर दिखाने का जज्बा रखनेवाले युवा को सामने आना होगा, क्योंकि लखटकिया कार सड़कों पर आने से पहले ही उसके खतरे गिनाने शुरू हो गए है। ट्रैफिक जाम, तेल की अधिक कीमत, प्रदूषण के खतरे से लेकर जैविक उर्जा से उठनेवाले खतरों के बारे बताया जाने लगा है।

लेकिन ऐसा नहीं है कि किसानों या आम जनता के लिए किसी ने कुछ नहीं किया। आम जनता या किसानों का ख्याल रखने के लिए हीरो सायकिल कम्पनी के निर्माता बृजमोहनलाल, एम.एस. स्वामीनाथन कृषि वैज्ञानिक, दुग्ध क्रान्ति के लिए वर्गीज कुरियन के प्रयासों की सराहना की जाती रही है। और दूर क्यों जायें– बिहार झारखंड एवं बंगाल में सुधा डेयरी की सफलता भी एक प्रेरक उद्यम है। हाल का उदाहरण लें तो हरीश हाँडे का सौर उर्जा उद्यम, अंधेरे में डूबे ग्रामीण भारत में रोशनी लाने का एक अच्छा प्रयास कहा जा सकता है। आज जब बड़ी कम्पनियाँ दाल चावल सब्जी फल फूल के व्यवसाय में उतर गईं हैं तो यह प्रश्न और प्रासंगिक हो जाता है कि 30 प्रतिशत शहरी लोगों के लिए और गाँव के कुछ धनी किस्म के लोगों के लिए एक लाख की कार आ सकती है तो किसानों के एक लाख की ट्रैक्टर क्यों नहीं होनी चाहिए? निश्चय ही एक लाख के ट्रैक्टर के बारे सोचने के लिए शायद रतन टाटा जैसे लोग नहीं आयेंगे। ऐसा कोई इंजीनियर या उद्यमी ही सामने आयेगा जो गाँव के किसानों की समस्या से गहरे जुड़ा हो। शायद वह ऐसा व्यक्ति होगा जो मैदानी एवं पहाड़ी इलाकों में आसानी से काम कर सकनेवाले ट्रैक्टर का आविष्कार कर पायेगा। अगर हम एक लाख के ट्रैक्टर के बारे सोचें तो देश की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को कुछ हद तक मजबूती प्रदान कर सकेंगे। ट्रैक्टर के इस मॉडल से गहरे कुओं से पानी खींचने, पिसाई मशीन चलाने की सुविधा एवं वक्त पड़ने पर जेनरेटर का भी काम लिया जाय। इसमें कुछ और उपकरण जोड़कर इसे ज्यादा उपयोगी बनाया जा सकता है। यह पहाड़ी इलाकों में, तिरछे ढलानों पर भी संतुलन कायम रख जुताई का काम कर सके। खेत जोतने के अलावा माल ढोने, सिंचाई करने, जेनरेटर का काम करने के धान कूटने या गेहूँ की पिसाई मशीन चलाने के लिए ट्रैक्टर काम में लाए जाते रहे हैं, उपयोगी बनाया जाय तो छोटे किसानों की हालत को कुछ बेहतर बनाया जा सकता है, उनकी उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। लगभग सवा लाख की कीमत का जो पावर–टिलर बाजार में उपलब्ध है वह भी मैदानी क्षेत्र के लिए ही ज्यादा उपयोगी है लेकिन झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, उतरांचल, महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर, तथा उत्तर पूर्वी राज्यों के पठारी एवं तीखे पहाड़ी क्षेत्रों के लिए कम उपयोगी हैं। ग्रामीण स्तर पर उनकी आवश्यकता के लिए तकनीक की सुविधाएँ यान्त्रिक उपकरणों से छोटे स्तर पर बढ़ाये जायें तो किसान की उत्पादकता को बढ़ाई जा सकती है जैसे बैकहो लोडर (जेसीवी) जैसा वाहन छोटा होने तथा आगे पीछे दोनों

तरफ से खुदाई एवं ढुलाई का कार्य कर सकने तथा अपनी तेज गति के कारण दुनिया भर में लोकप्रिय बना हुआ है। टैंक में लगाये जाने वाले 'रबर-क्लैड स्टील ट्रैक' वाले चक्के का उपयोग पहाड़ी इलाके के उबड़-खाबड़ खेतों के लिए उपयोगी हो सकते हैं। क्या यह तकनीक पहाड़ी इलाकों की आवश्यकता के अनुकूल हो सकता है? ट्रैक्टर की कोई भावी डिजाइन जो तकनीक एवं आकार में ऐसी हो कि वह पहाड़ी-मैदानों/खेतों के लिए बहुउपयोगी हो तो ट्रैक्टर की उपयोगिता और बढ़ जायगी, देश का कृषि उत्पादन भी। लेकिन ऐसा नैनो ट्रैक्टर बनायेगा कौन? – रतन टाटा? नहीं, कोई और। .... और कहीं वो शख्स आप ही तो नहीं?

सन् 2007

कम्प्यूटर, किताब और भाषा-विकास

अश्वेत केन्याई लेखक न्गूगी वा थ्योंगो का पिछला उपन्यास पेटल्स ऑफ ब्लड अँग्रेजी में 1977 में प्रकाशित हुआ था और उसके बाद अब विजार्ड ऑफ दि क्रॉ कुछ दिन पहले अँग्रेजी में प्रकाशित हुई है। इस बीच वे अपनी मातृभाषा गिकुयू में लिखते रहे और यह उपन्यास भी मूलतः गिकुयू में लिखी गयी और स्वयं लेखक द्वारा अँग्रेजी में अनूदित की गयी है। इस तरह की आत्मसजगता किसी अल्पसंख्यक भाषा को एक सांस्कृतिक ऊँचाई देती है– लेखक की द्विभाषिकता या बहुभाषिकता के कारण। झारखंड के सन्दर्भ में निर्मला पुतुल की लोकप्रियता इसका एक अन्यतम उदाहरण है। शायद कोई अन्य कारण भी हो। जबकि साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित संताली कवि जदुमनि बेसरा के मुकाबले उसकी कम किताबें प्रकाशित हुई हैं, लेकिन हिन्दी में रचनाएँ प्रकाशित होने के कारण निर्मला की रचनाएँ चर्चा में आ गयीं। हिन्दी के अलावा छोटी-बड़ी भारतीय भाषाओं का विकास, साक्षरता वृद्धि के साथ-साथ बाजार के कारण भी हो रहा है। इसका ज्वलन्त उदाहरण भोजपुरी है जो हाल के कुछ वर्षों में अपने नये अस्तित्व में उभरकर आयी है। कई भारतीय भाषाएँ किसी यूरोपीय भाषा से संख्या में अधिक हैं। यही कारण है कि कई सॉफ्ट वेयर कम्पनियों ने भारतीय देशी भाषाओं के विकास में अब सहयोगात्मक रुख अपनाया है। पिछले दिनों विश्व प्रसिद्ध प्रकाशक हार्पर कॉलिन्स की अध्यक्ष जेन फ्रीडमैन भारत के दौरे पर आयी थीं। वे भारतीय पुस्तक बाजार में पुस्तकों की बेहतर सम्भावनाएँ देखती हैं। जैसा कि अन्य उपभोक्ता वस्तुओं की उत्पादक कम्पनियाँ भारत को एक लाभदायक बाजार के रूप में देखती हैं। उसी प्रकार फ्रीडमैन भी भारत को एक बड़े बाजार के रूप में आकर्षक पाती हैं। इसीलिए वह अँग्रेजी के अलावा हिन्दी में भी किताबों का प्रकाशन करना चाहती हैं। इसकी शुरुआत सी.एस. लुईस की किताब दि क्रॉनिकल्स ऑफ नारनिया के हिन्दी अनुवाद से होगी। वे भारतीय प्रतिभाओं से काफी प्रभावित हैं और वह इनका उपयोग करना चाहती हैं। इसके

पहले पेंग्विन, हिन्दी और भारतीय भाषाओं में किताबें प्रकाशित करना आरम्भ कर चुका है। हालाँकि मैकमिलन अपना हिन्दी प्रकाशन बन्द कर चुका है परन्तु क्या पता वह भी इस दौड़ में पुन: शामिल हो जाय या शायद कोई अन्य प्रकाशक भी।

प्रसिद्ध शिक्षाविद कृष्ण कुमार मानते हैं कि अँग्रेजी प्रकाशन व्यवस्था लगातार सुनियोजित तरीके से बढ़ रही है जबकि हिन्दी में ऐसा प्रयास नहीं दिखता। लेकिन इसका एक दूसरा पहलू यह है कि हिन्दी में विविध विषयों पर किताबें, छोटी-बड़ी संस्थाओं द्वारा न केवल हिन्दी बल्कि अहिन्दी प्रदेशों से लगातार प्रकाशित हो रही हैं और छोटे पैमाने पर अपना काम खामोशी के साथ करती जा रही हैं। हाँ, ये किताबें कई बार स्थानीय महत्त्व की होती हैं जिसके कारण सम्भवत: इनकी चर्चा नहीं हो पा रही है। यहाँ यह विचारणीय है कि ऐसा क्यों? हिन्दी प्रकाशन को लेकर समयान्तर जैसी वैचारिक पत्रिका ने लेखक, प्रकाशक के बीच संवाद किया और इस सम्बन्ध में विशेषांक भी प्रकाशित किया। इसके अलावा भी कई हिन्दी पत्रिकाओं एवं अखबारों में इसकी चर्चा होती रहती है, संवाद गोष्ठियाँ आयोजित होती रहती हैं। लेकिन, बार-बार लेखकों से यह शिकायत आती रहती है कि हिन्दी का प्रकाशन जगत अँग्रेजी, बँगला, मलयालम, मराठी की तरह हिन्दी लेखक को जीने लायक आय नहीं देता। फिर भी हिन्दी में किसी भी भाषा से अधिक किताबें, पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। शायद इसलिए कि हिन्दी प्रकाशक को अपना व्यवसाय चलाने लायक आमदनी हो जाती होगी और वह अपना ट्रेड सीक्रेट कि हिन्दी किताबें नहीं बिकतीं का रोना रोता रहता है और लेखकों, बुद्धिजीवियों को झाँसा देता रहता है। यह अटपटा एवं अविश्वसनीय लगता है कि 40 करोड़ से अधिक आबादी वाले हिन्दी भाषी देश में एक हजार (1000) किताबें नहीं बिकतीं। यह इसलिए भी विश्वसनीय नहीं लगता, क्योंकि हिन्दी की कई मासिक एवं त्रैमासिक पत्रिकाएँ इधर लगातार प्रकाशित हो रही हैं। हिन्दी अखबारों की प्रसार संख्या में भारी वृद्धि हुई है। इसके अलावा कादम्बिनी, नवनीत आदि पत्रिकाएँ नये कलेवर में प्रकाशित हो रही हैं। कई त्रैमासिक पत्रिकाएँ— शिखर, मधुमती मासिक हो गयी हैं, समकालीन भारतीय साहित्य त्रैमासिक से द्वैमासिक हो गयी है। इसका सीधा अर्थ है हिन्दी में पढ़नेवालों की संख्या घटी नहीं, बढ़ी है। जबकि उससे कम आबादी वाले बँगला भाषी एक किताब की पाँच हजार (5000) प्रतियाँ तक बेचते हैं। लेकिन इस तरह न केवल अँग्रेजी या भारतीय भाषाएँ बल्कि 15-20 लाख की जनसंख्या वाले भाषाओं में भी किताबों की बिक्री की सम्भावना दिखती है। कोंकणी से ज्यादा संख्या कई आदिवासी भाषाभाषियों की है और उत्तर-पूर्व के आदिवासी बहुल राज्यों से लेकर झारखंड, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, केरल, बंगाल, आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान में कम आबादी वाली भाषाओं के लेखकों, प्रकाशकों ने छोटे स्तर पर प्रयास किया है और अपनी सार्थक उपस्थिति का एहसास कराया है। ऐसे में यह कहना कि पाठकों की संख्या घटी है, गलत है। ऐसा लगता है तेजी से बदलती सामाजिकता के अनुकूल विद्वानों, लेखकों ने उन्हें किताब उपलब्ध नहीं कराया है। जैसे टीवी के आगमन पर हिन्दी जगत ने एक

कोई भी भाषाभाषी अब अपनी भाषा के ज्यादा करीब पहुँच रहा है। क्योंकि अब वह सम्बन्धित भाषा के साईट पर जाकर न केवल मातृभाषा में रचनाएँ पढ़ सकता है बल्कि कई तरह की अन्य जानकारियाँ भी हासिल कर सकता है। गूगल ने हिन्दी में 'खोज' की सुविधा प्रदान कर दी है। विकीपीडिया का हिन्दी संस्करण पहले से ही उपलब्ध है और एमएसएन डॉट कॉम हिन्दी में जल्द ही उपलब्ध होने वाला है। निश्चय ही भारत जैसे गरीब देश में इसका उपयोग सीमित है। लेकिन तकनीक के बढ़ते कदमों को देख, हो सकता है जिसे हम महँगा मान रहे हों वह मार्केट के दवाब में सस्ता हो जाय। जैसे मोबाइल के ठीक पहले सन्देश भेजने का पेजर तकनीक ऐसा लगता है पैदा होते ही मर गया और आउटडेटेड हो गया। हो सकता है अभी कई लोगों को यह अव्यावहारिक या अटपटा लगे। लेकिन दुनिया में बढ़ते तकनीकी उपयोग को देखते हुए अगले दस-बीस सालों में यह असम्भव नहीं कि हम किताबों को सुनने की भी स्थिति में हों। जैसा कि जापान, कोरिया आदि देशों में अब मोबाइल पर कॉमिक्स पढ़ने, सुनने का चलन आ गया है जिसे कॉमिक्स के तर्ज पर मॉमिक्स कहा जा रहा है। कम्प्यूटर की तकनीक ने भाषाओं के विस्तार की सम्भावनाओं को एक नया आयाम दे दिया है, एक नयी दिशा दे दी है। अगले बीस-तीस सालों के बाद लोग किताबें इंटरनेट में ही पढ़ेंगे (वैसे अभी भी पढ़ रहे हैं)। और सम्भवतः किताबों का वर्तमान अस्तित्व बदल जाय। तब शायद किताब के उपयोग के लिए कागज न हो या पर्यावरणीय कारणों से कागज का उत्पादन कम हो जाय तब हमें किताबों का बदला यह रूप सम्भवतः ज्यादा भायेगा। ऐसी हालत में कम्प्यूटर के माध्यम से वे भाषाएँ लुप्त होने से बच सकती हैं, जिन पर कि यह खतरा मँडरा रहा है। ऐसी आशा इसलिए भी बँधती है क्योंकि न्यूयार्क स्थित 'लिबरी फॉक्स' आम लोगों के लिए ऑडियो किताबों को इंटरनेट पर उपलब्ध करा रही है। और अब तक 100 से अधिक अँग्रेजी किताबों के ऑडियो संग्रह एमपी-3 फॉर्मेट पर उपलब्ध कराया जा चुका है। एक अनुमान के अनुसार अब तक दो करोड़ डॉलर से अधिक की ऑडियो किताबें पूरी दुनिया में बिक चुकी हैं। भविष्य में यह तकनीक भी भारत में भी सुलभ हो जायेगा। ऐसी हालत में भाषा संरक्षण की वर्तमान समस्या का समाधान होता नजर आता है। तब लुप्त होती भाषाओं को सदा के लिए बचाने एवं विद्यमान भाषाओं के विकास कार्य में तेजी आ सकती है और सम्भव है उस भाषा को नया आयाम मिल जाय। और तब अंडमान के आदिवासी भाषाओं को बचाने के लिए प्रयासरत डॉ. अब्बी जैसे लोगों के प्रयासों की सार्थकता सिद्ध हो। तब सम्भव है उनके प्रयोक्ताओं की संख्या कुछ बढ़ जाय। जैसा कि इतिहास बताता है कि एक भौगोलिक एवं राजनीतिक अस्तित्व मिलने से कैसे इजरायल नामक राष्ट्र को उदय होता है और विश्व-भर में बिखरे हिब्रू भाषा को नयी संजीवनी मिल जाती है। न्यूजीलैंड के आदिवासियों की माओरी भाषा का विकास होता है। केन्याई लेखकों के प्रयास से गिकुयू आदि भाषाएँ नये अस्तित्व को ग्रहण करती हैं, बँगला देश के निर्माण से एक भाषा का नवोन्मेष रूप उभरकर आता है। रूस या यूगोस्लाविया के राजनीतिक परिवर्तन से विभिन्न भाषाओं को एक नया संस्कार प्राप्त होता है। अब इन

स्थितियों के वगैर भी भाषाओं का पुनर्जीवन सम्भव है। अगर हम भाषा को उसकी जातीय विशिष्टताओं के घेरे से ऊपर इसे मात्र भाषा की ही नजर से देखें तो इसके महत्त्व को गहरे समझ सकते हैं, नहीं तो हम इसका नकारात्मक पहलू ही देख पायेंगे जैसा कि अब तक हम सोचते और करते आये हैं। कम्प्यूटर को हौवा मानकर या इसे पूँजीवादी व्यवस्था का अंग मानकर, पश्चिमी देशों की साजिश मानकर इसके उपयोग से झिझकते रहेंगे तो यह हमें डराता रहेगा और हम अपने चहुँमुखी विकास के नजदीक आते अवसर को कुछ दूर और धकेल देने के लिए ही उद्धत होते रहेंगे। सूचना प्रौद्योगिकी ने भाषाई विकास के अनन्त सम्भावनाओं के द्वार खोल दिये हैं, इस तथ्य को हम जितनी जल्द समझेंगे हम बेहतर कार्य कर सकेंगे और चाहे वे अंडमान या झारखंड की लुप्त होती कोई भाषा हो या अन्य कोई भी भारतीय भाषा या अफ्रीका की कोई लिपिविहीन भाषा, उसे पूरी तरह बचा सकते हैं। यह काम हम भले न करें, नयी पीढ़ी यह काम करने के लिए तैयार है जैसा कि नामवर सिंह ने नयी पीढ़ी के बारे कहा है कि– वह इलेक्ट्रॉनिक विधि को तेजी से अपना रही है। इसलिए तमाम सामाजिक, आर्थिक, अन्तर्विरोधों, दबावों के बावजूद पश्चिमोन्मुख नयी पीढ़ी में कुछ ऐसे कम्प्यूटर विशेषज्ञ मौजूद हैं जो यह काम चुपचाप कर रहे हैं– समाज के लिए, देश के लिए, भाषा–संस्कृति को बचाने के लिए और शायद किताबों को नया रूप देने के लिए।

सन् 2007

'ग्रामीण तकनीक'–विकास का महत्वपूर्ण किन्तु उपेक्षित पहलू

कुछ दिनों पहले एक समाचार पढ़ा कि कैसे सियांग घाटी में अदि समुदाय के आदिवासियों ने गाँव की पंचायत की सहायता से एक हजार पाँच सौ फुट लम्बा बाँस एवं बेंत का पुल बनाकर अपने आने–जाने की समस्या का समाधान किया। संजय काक उनके इस प्रयास से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इस पर एक डोक्यूमेंटरी फिल्म इन दि फॉरेस्ट हैंगस ए ब्रिज ही बना डाली। ग्रामीण क्षेत्र के तकनीक–ज्ञान के बारे कुछ बताया या लिखा नहीं जाता और दूसरा कि मशीनी–तकनीक से किये गये कार्यों को तकनीक माना जाता है। इसलिए इसे ग्रामीण, देशज या पारम्परिक तकनीकी ज्ञान कुछ भी नाम दें लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश में जहाँ सुनियोजित सरकारी विकास के सुनहरे कदम नहीं पहुँच पाएँ हैं वहाँ आज भी छोटे–छोटे पारम्परिक ज्ञान का महत्व बना हुआ है। इसका यह एक छोटा–सा उदाहरण भर है। आगे इसे कुछ अनुभवों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा।

बचपन में जब मैं कुएँ से पानी भरने लायक हुआ तबसे वर्षों तक बाल्टी को रस्सी से बांधकर पानी निकालता रहा। अत: जब घर में अधिक मात्रा में पानी की आवश्यकता होती तो पानी खींचते कई बार थकान इतनी अधिक हो जाती थी कि दूसरा कोई काम

करने की स्थिति में नहीं होता था। क्योंकि तब वहाँ घिरनी या पानी खींचने कुछ आसान तरीके उपलब्ध नहीं थे। यही हाल ढेंकी से धान कूटते को समय होती। घर में छोटा होने कारण कभी इस काम से बच जाता था लेकिन जब परिस्थितिवश यह काम भी मेरे जिम्मे आ गया। जाड़े के दिनों में भोर में उठकर ढेंकी से धान कूटने में बहुत मजा आता था क्योंकि कुछ देर धान कूटने के बाद शरीर में गर्मी आ जाती और रांची के कड़ाके की ठंड में शरीर की यह गर्मी बहुत आनन्ददायक लगती। अत: जाड़े के दिनों में अक्सर ढेंकी से धान कूटने का आनन्द लेता। लेकिन कई बार कड़ाके की ठंड में बिस्तर से उठना कष्टदायक अनुभव हुआ करता था।

एक बार ऐसा हुआ कि मैं अपने मित्र के यहाँ गया और वहीं धान कूटने का अवसर पाया। कूटने के लिए पाँव द्वारा ढेंकी पर दवाब देते अनुभव किया कि ढेंकी काफी हल्के ढंग और थोड़ा तेज गति से चल रहा है। मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। क्योंकि इतने भारी लकड़ी के ढेंकी का हल्के दबाव पर तेजी से उठना गिरना मेरे लिए पहला अनुभव था। मैंने जिज्ञासावश पूछा तो मित्र ने बताया कि उनके एक भाई ने ढेकी के आधार पर दोनों खम्भों पर बॉल बियरिंग लगा दिया है इसलिए यह हल्का चल रहा है। कुछ महीनों बाद रांची के आस पास के गाँवों में यह तकनीक कुछ प्रचलन में जरूर आया और जो समर्थ लोग थे उन लोगों ने अपने ढेंकी में बॉल बियरिंग लगवा लिए। तब मेरे एक मित्र ने बताया था कि अब इस विधि से कूटने से उसका लगभग आधा से पौन घंटा बच जाता है और वह बचे समय का उपयोग पढ़ाई या अन्य कार्यों के लिए करता है। एक छोटे से तकनीकी परिवर्त्तन से लाभ देखने का यह पहला परिचय था। सत्तर के आस पास रांची के आस पास तक गाँवों में प्राय: कूंड़ लट्ठे से ही पानी निकाला जाता था। अब भी यह विधि कायम है लेकिन कई पढ़े लिखे घरों में परिवर्त्तन भी दिख भी रहा है। तब मैंने एक बार देखा कि गाँव में सायकिल के रिम का उपयोग पानी खींचने के लिए किया जा रहा है। इस विधि से फायदा यह था कि कुएँ से दो लोग साथ साथ पानी खींच सकते थे। यह विधि कूंड़ लट्ठे से पानी खींचने से ज्यादा आसान एवं समय का बचत करने वाला था। लोग अब भी इसका उपयोग कर रहे हैं लेकिन बदलते समय में इन गाँवों में थोड़ी तरक्की से कुछ किसान अब मोटर पंप का उपयोग करने लगे हैं।

यानी चाहे वह छोटा तकनीक हो या बड़ा वह समाज की उत्पादकता को प्रभावित करता है मनुष्य की क्षमता में वृद्धि करता है। तकनीक कहने से प्राय: मशीनी तकनीक ही समझा जाता है और छोटे स्तर या ग्रामीण परिवेश के तकनीक के बारे कभी कभी गलती से सोच लिया जाता है। उच्च तकनीक के यानी मशीनीकरण सामाजिक, आर्थिक पक्ष के मुद्दे पर चर्चा अवश्य की जाती है। लेकिन तब पंजाब, हरियाणा के गाँव आदर्श माने जाते हैं और झारखंड, बिहार, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्य प्रदेश आदि राज्यों के गाँवों की समस्याओं का समाधान भी पंजाब या अन्य विकसित समृद्ध राज्यों के संदर्भ में किया जाता है और इन राज्यों की भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक ढांचे की विशिष्टताओं को अक्सर भूला दिया जाता है। परिणाम होता है कि इस तरह कई बार विकसित एवं समृद्ध

राज्यों या शहर के संदर्भ में गाँव की स्थानीय तकनीक की जरूरतें उपेक्षित रह जातीं हैं।

अधिकांश भारतीय बुद्धिजीवी तकनीक से सामाजिक रिश्ता कायम करने में अरूचि प्रदर्शित करते हैं। यही कारण है हिन्दी प्रदेश सामाजिक रूप से पिछड़े हैं। क्योंकि सामाजिक आर्थिक विकास का एक पैमाना यह भी है कि समाज में तकनीक का किस रूप में और कितना प्रयोग हो रहा है। विभिन्न समाजों के संदर्भ में इसे अच्छी तरह देखा जा सकता है। वे समाज या क्षेत्र आर्थिक रूप से समृद्ध हुए हैं जहाँ ग्रामीण स्तर पर भी तकनीकी परिवर्तन हुए हैं। बुद्धिजीवियों के सन्दर्भ में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। पिछले दिनों एक वरिष्ठ हिन्दी लेखक ने दिल्ली से प्रकाशित अखबार के अपने साप्ताहिक कॉलम में बताया कि उन्होंने हाल ही में संगीत पर एक किताब अँग्रेजी में लिखी। जिसे लिखने में उसे काफी मशक्कत करनी पड़ी। गर्वपूर्वक उन्होंने बताया कि कम्प्यूटर में वे लिख नही पाये। हालाँकि उन्होंने बताया कि हिन्दी में वे सीधे टाइपराईटर पर लिखते हैं। यह एक छोटा सा उदाहरण है हमारे हिन्दी पट्टी की मानसिकता को बताने के लिए। इसके विपरीत हम देखते हैं कि दक्षिण के राज्य कई सारे तकनीक अपना कर समृद्धि की ओर बढ़ रहे हैं लेकिन उत्तर भारत के राज्य इस मामले में कछुआ चाल चलने के लिए मानो बने ही हैं। हम न तकनीक अपना पाते हैं न सामाजिक शांति बना पाते हैं न अपने लिए अच्छी शिक्षा की व्यवस्था कर पाते हैं। फिर भी विश्व गुरू होने का बिल्ला सबसे ऊपर एवं सबसे पहले लगाने के लिए तत्पर रहते हैं।

कुछ साल पहले दक्षिण के कुछ राज्यों में देखा कि कुछ लोग पुरानी मोटरसायकिल के मशीन का उपयोग करते तिपहिया ठेले रिक्शा को ऑटो-रिक्शा जैसा रूप दे दिया है और वे उसमें बोरे आदि लादकर पास के मंडी में जा रहे हैं और इधर से लौटते समय कुछ सवारी या अन्य सामान लादकर ले आ रहे हैं। जाहिर है ग्रामीण किसान के पास वही तकनीक उपयोगी नहीं है जो उच्च तकनीकी परीक्षण से होकर गुजरती है और बड़ी कम्पनियों द्वारा निर्मित्त होती है। वह अपनी जरूरत के हिसाब से आविष्कार करने का प्रयास करता रहता है। परिणाम मशीन से चलता यह तिपहिया-ठेला-रिक्शा। इसी तरह एक किसान नें सायकिल से कीटनाशक छिड़कने का एक नायाब तकनीक विकसित किया जिससे पीठ पर लादकर दवा छिड़कने के मुकाबले तीन गुना छिड़काव किया जा सकता है। नलगोंडा जिले के अठ्ठाईस वर्षीय वलीसेट्टी नरेन्द्र ने हाल ही में एक ऐसे उपकरण का विकास किया जिसकी सहायता से किसान घर बैंठे अपने पानी सींचने वाले मशीन को चला सकता है। मोबाइल हैण्डसेट के अलावा इसमें दो सौ रुपये मात्र खर्च होते है। उस इलाके के किसानों को अब साँप काटने का डर नहीं है क्योंकि वे अब उस उपकरण की सहायता से रात में किये जा रहे सिंचाई के कार्य को घर बैठे नियन्त्रित कर सकते हैं।

पिछले दिनों जानकारी मिली कि आज भी खरे हैं तालाब किताब की एक लाख से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं। यह पुस्तक पानी बचाने के पारम्परिक ज्ञान को पुनर्भाषित करने वाली एक उपयोगी किताब है। इस पुस्तक में तालाब की उपयोगिता के बारे

विस्तृत वर्णन है। इस किताब का उपयोग किसान एवं कई स्वयंसेवी संस्थाओं ने किया है और कई स्थानों में पानी की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है।

वह समाज जो शारीरिक परिश्रम करने वाले को अपमानजनक दृष्टि से देखता है वहाँ ऐसे छोटे-छोटे आविष्कारों को निरंतर प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक उन्नति के लिए ऐसे छोटे छोटे आविष्कारों का अपना प्रभाव क्षेत्र एवं उपयोगिता है। जो निचले स्तर पर जनता की उत्पादकता को बढ़ा सकते हैं– गुण एवं मात्रा दोंनों के स्तर पर। देश में सत्तर (70) प्रतिशत गाँव हैं लेकिन गाँव के विकास के लिए तकनीक का विकास सरकारी स्तर पर या कुछ जिद्दी एवं पागलनुमा लोगों द्वारा किये ही जाते हैं। इस उपेक्षित वर्ग के लिए अब समाज में सम्मानीय वातावरण बनाने का प्रयास जारी किया गया है। सम्भवत: यही कारण है कि एनडीटीवी, आविष्कार नाम से हर शनिवार आधे घंटे का कार्यक्रम प्रसारित करता है। यह सराहनीय है। लेकिन भारत जैसे विशाल देश के लिए नाकाफी है। ऐसे और भी कार्यक्रम होने चाहिए और क्षेत्रीय प्रिंट मीडिया भी आवश्यक सजगता एवं उत्साह दिखाए तो वर्त्तमान स्थिति को बेहतर बनाया जा सकता है। मोबाईल, टीवी, ओवेन, कैमरा, बाईक, कार, पावडर क्रीम एवं शहरी जनता के लिए उपयोगी या उपभोक्ता सामग्रियों की नवीनतम उपकरणों आदि की जानकारी अतिरिक्त उत्साह के साथ अखबारों में भी हर सप्ताह प्रकाशित किए जाते हैं। लेकिन ऐसी जानकारी देनेवाला कोई साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक कॉलम हिन्दी अखबारों में नियमित नहीं छपता है तो क्यों? और फिर तब ऐसा दावा क्यों किया जाता है कि वे ग्रामीण जनता या सामान्य जन का भी ख्याल रखते हैं!

सन् 2005

आधुनिक शिक्षा, कृषि के देशज तरीके और विकास

आज के भूमंडलीकरण एवं कम्प्यूटर के जमाने में शिक्षा पद्धति बदल सी गयी है और पारम्परिक शिक्षण पद्धतियों में एक बड़ा परिवर्त्तन आ चुका है। अब हर जगह कम्प्यूटर का बोलबाला है। बच्चे को स्कूल में दाखिला दिलाते ही कम्प्यूटर से परिचित किया जाने लगा है। ऐसा लगता है यदि कोई कम्प्यूटर नहीं अपनायेगा तो दुनिया में पिछड़ जायगा। इतना ही नहीं एक कम्पनी ने तो भारतीय कम्प्यूटर विज्ञानियों द्वारा विकसित सिंप्यूटर को गाँव गाँव तक पहुँचाने का बीड़ा उठा लिया है। इस सिंप्यूटर के बारे में प्रचारित किया गया है कि यह उपयोग में बेहद आसान होगी और इसे गाँव का एक किसान भी थोड़ी से ट्रेनिग के बाद बेझिझक परिचालित कर सकता है। इस स्थिति को देखें लगेगा कि हमारा देश बस अब कम्प्यूटरमय होने ही वाला है। आखिर देश सुपर कम्प्यूटर से सिंप्यूटर तक पहुँच गया तो इसका सीधा अर्थ लेना चाहिए कि देश ने कम्प्यूटर के उपयोग को विज्ञान के जटिलतम कार्यों से लेकर आम किसान तक की आवश्यकता को पूरी कर सचमुच

देश को इक्कीसवीं सदी में ले जाने के लिए एक लम्बी छलांग लगा चुका है।

लेकिन ऐसा है क्या? शायद नहीं। क्योंकि कम्प्यूटर के उपयोग के लिए समर्थ बनाने में देश को अभी और कई साल लगेंगे। फिर भी ऐसा प्रयास जारी है और जारी रहेगा। लेकिन इस वैज्ञानिक युग में आज ऐसे कई शिक्षाविद, विचारक, स्वतन्त्र कार्यकर्त्ता भी हैं जो मानते हैं कि आधुनिक शिक्षा हमारे देश, समाज से बहुत कुछ छीन रही है और इसे बचाने के लिए इस आधुनिक शिक्षा के समानांतर शिक्षा के देशज तरीकों को भी ढूँढ़ना और बचाना अनिवार्य बन गया है। ऐसे प्रयास होते रहे हैं। विज्ञान की पढ़ाई के लिए होशंगाबाद की एक स्वयंसेवी संस्था एकलव्य ने नए तरीके ढूँढ़े और प्रयोग के तौर पर कई शहरों में इसे लागू किया और देखा गया कि यह तरीका काफी कारगर एवं प्रभावी रहा। जिन तरीकों से विज्ञान की आधुनिक स्कूली शिक्षा प्रदान की जाती है उसके मुकाबले उनका यह प्रयास बच्चों के लिए ज्यादा आसान एवं समझने योग्य था। इस पद्धति को बाद में और संस्थाओं में अपनाया किन्तु जिस देश में पश्चिम शिक्षा को ही श्रेष्ठ समझने की एक समृद्ध परम्परा बन गई हो वहाँ ऐसे इक्के-दुक्के प्रयास समान्तर देशज तरीकों को लोकप्रिय बनाने के लिए नाकाफी हैं। कुछ ऐसा ही प्रयास पचास-साठ के दशक में कुछ आदिवासी बुद्धिजीवियों ने आदिवासी भाषा, जीवन एवं सामाजिक परम्पराओं, कृषि तकनीकों को बचाये रखने के उद्देश्य से कांके, रांची में धुमकुरिया स्कूल खोलकर किया था। उनका प्रयोग आधुनिक शिक्षा पद्धति के अंधड़ में उड़ गया। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद उनका यह प्रयास सम्भवतः अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक माना गया होगा। उन्हें स्वयं आदिवासी समाज का भी समर्थन प्राप्त नहीं हुआ और आदिवासी समाज के लिए उनकी ग्रामीण, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल एक शिक्षा परम्परा को विकसित करने का उनका स्वप्न अधूरा ही रह गया। यह कल्पना संवेदनशील बुद्धिजीवियों को आज भी सालता है।

किन्तु, आश्चर्य है कि आज यही आकांक्षा एवं स्वप्न दूसरे रूप में पलवोन्चा, भद्रचलम, आंध्र प्रदेश के आदिवासी क्षेत्र में जीवित हो रही है। जहाँ आईआईटी दिल्ली के एक शोधकर्ता विद्वान आर. सुधाकर के सत्प्रयासों से ग्रामीण विकास के लिए ऐसे तकनीकों के विकास का प्रयास किया है जिनका प्रयोग कर ग्रामीण भारत को चेहरा बदला जा सकता है। श्री सुधाकर ने 12 एकड़ की जमीन इस आदिवासी इलाके में ली और अपने कुछ समान विचार वाले मित्रों की सहायता से एक ऐसे स्कूल की स्थापना की जो ग्रामीणों के उत्पादक गतिविधियों एवं क्रियाकलापों के लिए प्रासंगिक हो सकें। यह कार्य काफी धैर्य का था और सुधाकर को मालूम था कि इसमें लम्बा समय भी लग सकता है। किन्तु उनके प्रयास ने रंग लाया। उन्होंने वहाँ बांस एवं सीमेंन्ट का प्रयोग कर वहाँ के स्थानीय पर्यावरण के अनुकूल स्कूल के घर आदि बनाये। साथ ही वहाँ उन्होंने कुछ छात्रों को पढ़ाना आरम्भ किया जिन्हें अभी वहाँ दसवीं कक्षा तक की पढ़ाई की सुविधा प्राप्त है। ये छात्र केन्द्र में उपजा, अनाज सब्जी आदि का उपयोग करते हैं। वहाँ के ग्रामीण एवं आदिवासी छात्र अपने परिवेश के बीच पढ़ाई करते हुए विज्ञान की

बारीक तथ्यों को बहुत तेजी से सीख रहे हैं और भविष्य में किसी भी प्रतियोगी परीक्षाओं में शामिल होने के लिए भी स्वयं को तैयार कर रहे है। आज उनके साथ सुधाकर द्वारा प्रशिक्षित दस शिक्षक हैं। कुछ वर्ष पहले सुधाकर की स्कूल की तर्ज पर 25 स्कूलों को पर्यावरण शिक्षा केन्द्र, आंध्र प्रदेश सरकार ने चुना और शिक्षकों को उसी तरह शिक्षा देने के लिए प्रशिक्षित कराया। इससे वे काफी उत्साहित हैं। अन्तत: उनकी पत्नी को बैंक की अपनी नौकरी छोड़कर पति सुधाकर का साथ देने के लिए आना पड़ा। आज सुधाकर के द्वारा बनाए गए बांस के घर को ग्रामीण क्षेत्रों के उपयोग हेतु बेहतर विकल्प माना जा रहा है और ग्रामीण गृह निर्माण मंत्रालय इनके द्वारा अपनाये तकनीक से काफी प्रभावित है। सुधाकर ने इसके अलावा भी कई ऐसे आविष्कार किये हैं जो ग्रामीण आवश्यकता की पूर्ति हेतु काफी लाभदायक हैं। इनमें से एक है सायकलिंग द्वारा इडली का पारम्परिक गीला आटा तैयार करना। उन्होंने इडली बनाने के पारम्परिक तरीके को सायकलिंग से जोड़कर एक नया आसान तरीका ईजाद कर लिया है। इसी प्रकार उन्होंने ग्रामीण आवश्यकताओं के अनुकूल और कई सहज तरीके ढूँढ़ निकाले हैं। आज आईआईटी के प्रशिक्षित इंजीनियर जहाँ सीधे विदेश जाने की महत्त्वाकांक्षा रखते हैं वहीं सुधाकर जैसे लोग भी हैं जिन्हें लगता है कि ग्रामीण भारत में तकनीकी सुधार के लिए काफी कुछ किया जा सकता है। और सच कहा जाय तो देश में ऐसे भी प्रशिक्षित इंजीनियरों को ग्रामीण भारत में काम करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आज से पचास साल पहले कांके, रांची में धुमकुड़िया स्कूल के माध्यम से ग्रामीण परिवेश में शिक्षा देने का स्वप्न भले टूट गया हो किन्तु यह सपना कहीं और जिन्दा तो हुआ जहाँ ग्रामीण या आदिवासी अपनी भाषा में बिना किसी हीनता के शिक्षा पा रहे हैं। क्योंकि आधुनिक शिक्षा का सबसे बड़ा दोष है कि यह ग्रामीण या आदिवासी परिवेश से आनेवाले छात्रों के मन में सबसे पहले एक हीनता की ग्रन्थि भर देता है जिससे वह जीवन भर उबर नहीं पाता। इस पीड़ा को सभ्य समाज के छात्र या अभिभावक समझ नहीं सकते इसे एक भुक्तभोगी ही समझ सकता है। अत: ऐसे प्रयासों का स्वागत किया जाना चाहिए और शिक्षा के इस वैकल्पिक व्यवस्था को समाज के कमजोर वर्गों के लिए विशेषत: ग्रामीण क्षेत्रों में रह रहे बच्चों के लिए उपलब्ध कराने एकल या सामूहिक प्रयास निरंतर होने चाहिए ताकि ग्रामीण भारत का भी स्वाभिमान जगे। क्योंकि देश की आय का एक बड़ा हिस्सा कृषि से ही आता है जो निश्चय ही ग्रामीण क्षेत्र है। बोकारो, रांची। जमशेदपुर से प्रतिवर्ष सैकड़ों छात्र इंजीनियरिंग की परीक्षा पास कर देश की विभिन्न इंजीनियरिंग संस्थानों में प्रवेश लेते हैं। इसके अलावा सैकड़ों कृषि स्नातक भी तैयार होते हैं और यह देश की विडंबना ही कही जायगी कि इनमें से शायद ही कोई गाँव में कृषि के विकास के बारे में सोचता है। क्या वे कभी अपने ग्रामीण भाइयों या बुजुर्गों के लिए ऐसी कुछ चुनौती स्वीकार सकते हैं? लेकिन, अभी तुरन्त नहीं, कुछ रुक कर ही सही। सुधाकर की तरह या इससे अलग किसी और तरीके से या अलग रास्ता अपनाकर?

सन् 2002

कुछ संस्मरण

मूल से कटे पौधों का, पेड़ बनना

जब डुमनी चाय बागान से कुछ मित्र वहाँ करमा मनाने के लिए निमन्त्रण देने आये तो निमन्त्रण स्वीकारने में एक मिनट की भी देरी नहीं की। कारण एक तो शनिवार को छुट्टी थी और दूसरा दिन रविवार था। वर्षों पहले झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ से चाय बागानों में काम करने गये लोगों से मिलने की इच्छा थी। बचपन में भूटान सरकार के लिए कुछ वर्षों तक पिताजी ने कार्य किया था, अत: कुछ दिनों के लिए फुंटशॉलिंग में रहते दालसिंगपाड़ा, हासीमारा, राजाभातखावा, हैमिल्टनगंज, अलीपुरद्वार आदि जगहों में और भूटान-भारत सीमा के कुछ इलाकों में 1966 में मई-जून के महीनों में घूमने का अवसर मिला था। छह सप्ताह के प्रवास में दो-तीन दिन के लिए कुछ चाय बागानों में घूम चुका था। वहाँ के लोगों को झारखंड की तरह सादरी, उराँव और मुंडा में बोलते बतियाते, गाते देखकर मुझे तब बहुत अच्छा लगा था। लेकिन तब उनकी तकलीफों के बारे नहीं जाना था। हालाँकि बचपन में गाँव से कोड़ा जाते लोगों को उनकी कुछ तकलीफों को देखता रहा था। एक बार गाँव के कुछ लोग कोड़ा से गाँव लौटते हमारे घर में रुके। तब इतना छोटा था कि ढाई-तीन साल के एक बच्चे की मृत्यु एक माँ के लिए कितनी तकलीफदेह हो सकती है यह समझ नहीं सकता था। लेकिन माँ के समक्ष गाँव की उस काकी ने रोते हुए अपने दु:खों का बयान किया कि किस तरह बस एवं ट्रेन में लोग बच्चे को मरा न समझें इसलिए दूध पिलाने का नाटक करती वह हमारे घर तक पहुँची थी। इस घटना को अब याद करता हूँ तो काँप जाता हूँ। और पता नहीं किन-किन तकलीफों, अपमानों को झेलते वे कोड़ा (ईंट भट्ठा और चाय बागान) आदि जगहों में जाते-आते थे। बीजू टोप्पो की डोक्यूमेंट्री फिल्म 'कोड़ा राजी' के लोगों के तकलीफों के बारे बहुत कुछ बयान करती है। प्रसिद्ध नागपुरी गीतकार मधु मंसूरी हँसमुख के 'कोड़ा मइत जाबे चाँदों, हमर प्रीत छोड़ी'। गीत में नायक फागु, अपनी प्रेमिका चाँदो से कोड़ा राजी न जाने का आग्रह करता अपने बचपन को याद दिलाता है। और कहता है कि तुम कहीं भी जाओगी ऐसी प्यारी और सुन्दर धरती नहीं पाओगी। जहाँ भी जाओगी तुम परदेशी ही बनोगी। गीत में कोड़ा न जाने का निवेदन करते झारखंड की सामाजिक, सांस्कृतिक भावनाओं एवं स्थितियों का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है जिसे सुनकर आज भी लोगों के आँखों में आँसू छलक उठते हैं।

लेकिन बदलते समय के साथ स्थितियाँ धीरे-धीरे ही सही, बदल रही हैं। अनेक बुराइयों, कठिनाइयों के बावजूद संघर्षों और शिक्षा ने इन चाय बागानों में रहनेवालों को बदला है। नयी पीढ़ी अब ज्यादा मुखर एवं महत्त्वाकांक्षी है। बंगाल और आसाम में उनकी समस्याएँ अलग-अलग हैं। बँगाल में रहते चाय बागान के आदिवासी, बंगाली

संस्कृति को अपनाते तो हैं लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में बंगला भाषा को अपनाने में वे इनकार करते हैं और शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी माध्यम की माँग करते रहे हैं। इसके विपरीत आसाम के चाय बागान के आदिवासी असमिया भाषा-संस्कृति को अपनाकर भी, अपनी भाषा-संस्कृति को बनाये रखा है। बंगाल में लोगों ने अपनी पुरानी संस्कृति को बनाये रखा है और वहाँ भी कहीं-कहीं बंगाली एवं नेपाली संस्कृति का प्रभाव दिखता है। जैसे आसाम में मेहमानों के स्वागत के लिए आसाम की तामुल संस्कृति को अपना लिया गया है। वहाँ कई लोगों को असमिया साहित्य में विशेष योगदान के लिए पुरस्कृत, सम्मानित भी किया गया है। समीर कुमार तांती, अनन्त तांती जैसे कुछ नाम असमिया साहित्य में आदर के साथ लिए जाने लगे हैं। यह देखकर आश्चर्यमिश्रित खुशी होती है कि असमिया राष्ट्रवाद के लिए संघर्षरत पार्टी– असम गण परिषद के एकमात्र सांसद जोसेफ टोप्पो चाय बागान से उभरे एक आदिवासी नेता हैं। इसी तरह पृथ्वी माँझी आसाम विधान सभा के अध्यक्ष रह चुके हैं और सम्प्रति मन्त्री हैं। कई परिवार अपनी मूल धरती झारखंड, उड़ीसा, बंगाल, छत्तीसगढ़ आदि राज्यों से आये। दो-तीन पीढ़ी से रह रहे कई परिवार अपने पूर्वजों के मूल निवास का पता भूल चुके हैं। अब इन लोगों में सम्मान के साथ जीने की इच्छा जग चुकी है। वे अपनी दयनीय स्थिति से मुक्त होना चाह रहे हैं। यहाँ उन्हें आरक्षण की वैसी सुविधा नहीं हैं जैसे झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा या बंगाल में। तब भी वे विभिन्न संस्थानों में छोटी-बड़ी नौकरियों में हैं। यह देखकर अच्छा लगता है कि कुछ ने नौकरी छोड़कर अपना छोटा-मोटा व्यवसाय भी शुरू कर दिया है। आज उन्हें मालूम है कि आसाम के राजस्व प्राप्ति में उनकी पसीने की बूँदों की कीमत भी शामिल हैं। अब जबकि झारखंड में अनेक परम्पराओं, सामाजिक मूल्यों का तेजी से क्षरण हो रहा है यह देखना सुखद आश्चर्य है कि उन्होंने असमिया और स्थानीय भाषा-संस्कृति को अपनाकर भी अपनी मूल संस्कृति को बचाये रखा है। यही कारण है कि वे अपने पर्व-त्योहारों को एकजुट होकर बड़े पैमाने पर मनाने का प्रयास करने लगे हैं और 'करमा' उनमें से एक है। समाजकर्मी सिरिल तिर्की ने बताया कि– 'आरम्भ में कुछ लोग ही कहीं-कहीं करमा या अन्य त्योहार छोटे पैमाने पर मनाते थे। चाय बागानों में अखड़ा की सुविधा नहीं थी। पहले शिलांग में पढ़ाई करते छात्रों ने करमा मनाना शुरू किया, क्योंकि वहाँ राँची या झारखंड के लोग सहयोग देने के लिए उपलब्ध थे। पिछले 10-15 सालों में 'ऑल असम आदिवासी स्टूडेंट्स एसोसिएशन' के छात्रों द्वारा किया गया सांस्कृतिक कार्य इसके लिए प्रेरक बना। फलतः अब कई जगहों पर बड़े पैमाने पर योजनाबद्ध तरीके से करमा मनाया जाने लगा है।' बीर बुधु भगत कॉलेज चान्हो, राँची से आमन्त्रित प्राचार्य 'सुशील कुमार मिंज' ने करमा की कहानी उपस्थित श्रोताओं को बहुत विस्तार में सुनायी। इसके बाद डुमनी में रात-भर करमा मनाते, नृत्य प्रतियोगिता होती रही। करीब 10-12 हजार लोगों ने रात-भर इसका आनन्द उठाया। अखड़ा का यह नया स्वरूप दिखा। यह भी महसूस किया कि अपने मूल गाँवों के अलावा अन्य जगहों में अखड़ा संस्कृति को मूल

रूप में बचा पाना कठिन है। क्योंकि जब कोई अपनी मूल धरती से कटकर विभिन्न भाषाभाषी एवं संस्कृतियों के बीच रहता है तो उनसे संवाद करना, उनका सहयोग लेना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी हालत में एक नयी मिश्रित संस्कृति जन्म ले लेती है, जैसा डुमनी में करमा मनाते देखा कि वहाँ न केवल उराँव, मुंडा, खड़िया आदि करमा में भाग ले रहे थे बल्कि दूसरे दिन बोडो, नेपाली समुदाय के लोगों ने भी अपना नृत्य कार्यक्रम प्रस्तुत किया। ऐसी स्थितियाँ एक सामाजिक, सांस्कृतिक सहिष्णुता को भी जन्म देती हैं जहाँ भिन्न संस्कृति के लोग एक-दूसरे के रीति-रिवाज, खान-पान, पहनावा, धार्मिक विश्वास आदि का सम्मान करना भी सीखते हैं। संस्कृतियों का यह पारस्परिक संवाद, भिन्न संस्कृति की भावनाओं, रस, रंग, गन्ध, स्वाद, भाषा आदि को एक नया आकार और विस्तार भी देते हैं। किसी की भावनाओं को बिना चोट पहुँचाये, यदि हम ऐसी स्थितियों में सामाजिक, सांस्कृतिक सौहार्द्र विकसित कर सकते हैं, तो ऐसे आयोजनों की संख्या बढ़नी चाहिए।

वहाँ कई बोडो महिलाएँ अपने पारम्परिक परिधान 'दखना' पहने कार्यक्रम में उत्साहपूर्वक भाग ले रही थीं तो कई आदिवासी महिलाएँ नये किस्म का गाढ़े कत्था रंग के बॉर्डर के साड़ी पहने दिखीं। एक एनजीओ ने इस साड़ी का पुनरुद्धार किया है जो धीरे-धीरे आदिवासी महिलाओं के बीच लोकप्रिय हो रहा है। दिलचस्प बात यह कि झारखंड एवं छत्तीसगढ़ से भी इस साड़ी के लिए ऑर्डर मिले हैं। लोगों का यही उत्साह रहा तो सम्भव है भविष्य में यह उनकी सांस्कृतिक पहचान का उसी तरह अनिवार्य परिधान बन जाय– जैसे कभी जतरा, करमा आदि में नृत्य के लिए पुरुषों के बाईस हाथ के 'कारया' और महिलाओं के लिए 'पढ़िया साड़ी' आदि थे। भोजन, नाश्ते आदि के कई स्टॉल बने थे जहाँ पारम्परिक आदिवासी स्वाद के पकवान के अलावा स्थानीय पकवान आदि भी बिक रहे थे। एक प्रदर्शनी का भी आयोजन था वहाँ, आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त लुप्तप्राय सामग्रियों, खेती के उपकरण, तीर-धनुष, स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त पुराने आभूषण, खेती के तरीके और अनेक पुराने उपयोगी घरेलू सामानों की प्रदर्शनी लगायी गयी थी। साथ ही एक पुस्तक स्टॉल भी था। दूसरे दिन पुरुषों, महिलाओं के लिए तीरन्दाजी प्रतियोगिता आयोजित थी। 'मुर्गा लड़ाई प्रतियोगिता' का भी आयोजन किया गया था। कार्यक्रम में वॉलंटियरों की तत्परता और अनुशासनबद्धता देखने लायक थी। ऐसा नहीं था कि यहाँ पिये हुए आदिवासी नहीं दिखे। दिखे, लेकिन शराब का सीमित उपयोग करते। वे इतना पिये नहीं थे कि बहक रहे थे, वे स्वयं नियन्त्रित थे। देखकर अच्छा लगा कि परदेश में रहते उन्होंने अपनी कमजोरी पर नियन्त्रण करना सीख लिया है। शायद यही सीखना, कोड़ा राजी में आज उनकी बड़ी ताकत बन गयी है।

डुमनी के कुछ छात्रों से बातचीत करने का मौका मिला। पूछने पर सिर्फ एक छात्र ने बताया कि वह राँची गया है। लेकिन कुछ कर दिखाने की उनकी महत्त्वाकांक्षाओं के बारे में जानकर आश्वस्त हुआ जा सकता है कि अपनी मूल धरती से कटकर वे ज्यादा

ही संवेदनशील, दृष्टि–सम्पन्न, सजग, सचेत और दृढ़ संकल्प हुए हैं। इस नये अनुभव से गुजरना अच्छा लगा। दूसरे दिन आसाम के परिवहन मन्त्री चन्दन ब्रह्म भी आमन्त्रित थे। उनके बोलने के पहले कुछ लोग बोल चुके थे। अधिकांश आमन्त्रित, असमिया में बोल रहे थे। लेकिन जब चन्दन ब्रह्म के बोलने की बारी आयी तो कुछ वाक्य असमिया में बोलने के बाद वे लगभग पैंतालीस मिनट तक हिन्दी में बोले। यानी आसाम के चाय बागानों में कुंड़ुख, मुंडा, खड़िया, संताली, असमिया, बोड़ो, नेपाली भाषियों के बीच हिन्दी प्रमुख सम्पर्क भाषा के रूप में स्थापित हो चुकी है?

रविवार शाम को लौटते हुए देखा रास्ते के किनारे दूर–दूर तक हरे धान के पौधे लहरा रहे हैं, बीच–बीच में कुछ गाँव, पेड़–पौधों का झुंड और दूर नीला पहाड़। लगा अरे! यह दृश्य तो झारखंड का है। यह दृश्य देखता खो–सा जाता हूँ। उस ओर देखते गाईड ने कहा– 'सर, वे पहाड़ देख रहे हैं न। वह भूटान है, बस 17–18 किलोमीटर दूर।' अरे हाँ, मैं तो आसाम, भूटान में हूँ, सिर झटकते मैं जैसे नींद से जागता हूँ। लगता है, हमारे पुरखों को चाय बागान में काम करने की मजबूरी के बावजूद वातावरण की यही समानता यहाँ रास आ गयी थी। कुछ पहाड़ और इसके बीच मीलों फैले खेत। लौटते वक्त उत्साहित हूँ। बिजय एक्का, बिपिन तिर्की, नेपाल तांती, मुन सिंह ब्रह्म, महेश बंडो, लेवो लकड़ा, थॉमस टोप्पो, लहकर मिंज, राजेश पन्ना, बंडा एक्का, लुईस मूसाहारी के अलावा और भी सैकड़ों लोग हैं जिनके अथक परिश्रम से यह आयोजन सफल हुआ है। एक अनजान कड़ी ने डुमनी के सारे लोगों से मुझे जोड़ दिया है शायद करम कहानी के भटके, बिछुड़े भाइयों की तरह।

नवम्बर 2011

झारखंड दा पुत्तर– मंजीत सिंह सन्धू

यह प्रभात खबर ही था जिसमें सबसे पहले मंजीत सिंह सन्धू का नाम देखा। कुछ लेख हिन्दी में देखा, कुछ दिनों बाद देखा कि मंजीत सिंह सन्धू ने मुंडा भाषा में भी लेख लिखा है। अच्छा लगा। यह सोचकर खुश हुआ चलो और एक मुंडा लड़का– मंजीत सिंह भी लिखने लगा है। उसके कुछ और लेख पढ़ने के बाद उससे मिलने की इच्छा रोक न सका। (स्व.) सामू से कहा कि– ये दूसरे मुंडा लड़के से मिलवा दो। सामू इस बात पर बहुत हँसा। उसकी हँसी का कारण तब नहीं समझा। लेकिन उसने वादा किया कि वह मंजीत सिंह से मिलवा देगा। एक दिन सामू एक सरदार को साथ लेकर मेरे घर आया और परिचय कराया कि– 'ये हैं– मंजीत सिंह सन्धू।' सहसा विश्वास ही नहीं हुआ कि– एक सरदार, मुंडारी एवं हिन्दी में भी– झारखंड के बारे में, मुंडा समाज के बारे में इतनी अन्तरंगता से लिख सकता है। खैर देर तक बातें हुईं और फिर कब मंजीत सिंह अपना आदमी हो गया पता ही नहीं चला। फिर तो वह कई बार मेरे दु:ख–सुख का

भी साथी रहा और जीवन के कुछ कठिन घड़ियों में मेरे साथ खड़ा भी रहा। जो मैं भूल नहीं सकता। दूसरे सरदारों की तरह ही उसे भी सरदारों के बारे में चुटकुला सुनाने में मजा आता था। साथ, कहीं बाहर जाने पर अक्सर वह सरदारों के बारे लतीफे सुनाया करता था। चूँकि मेरे पिताजी मुंडारी धारा प्रवाह बोलते थे। अत: वे कभी-कभी पिताजी से मुंडारी में बातें कर लेता था। उसके साथ कुछ लेख वगैरह भी लिखा जो अँग्रेजी में छपे। इस तरह वह हिन्दी, अँग्रेजी के अलावा एक आदिवासी भाषा, मुंडा– कुल मिलाकर तीन भाषाओं में लिखता था। मेरे जानते स्व. बासुदेव बेसरा ही हिन्दी, अँग्रेजी के अलावा संताली तीन भाषाओं में लिखते थे। तीन भाषाओं में से कोई एक भाषा– मंजीत की मातृभाषा नहीं थी। तीनों भाषाएँ अर्जित की गयी भाषाएँ थीं, जिनमें वे लिखा करते थे। शायद वे पंजाबी में लिखते रहे होंगे, लेकिन यह कभी उनसे पूछा नहीं और न ही मंजीत ने इसके बारे मुझे कुछ बताया। वह कुछ मित्रों के बीच झारखंड का 'मुंडा सरदार' बन गया था और जब हम उसकी चर्चा करते तो उसे 'मुंडा सरदार' ही कहते। जैसे हमें जानना हो कि 'मंजीत' कब आयेगा? तो हम कहते 'मुंडा सरदार' कब आयेगा?

वह बीच-बीच में बहुत मजेदार बातें बताया करता था। मुंडा समाज के रीति-रिवाज इतिहास का वह अच्छा जानकार हो गया था। उसके रिपोर्ट अब 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में भी छपने लगे थे। बहुत सारे पत्रकार, लेखक आदि से मिलना हुआ है, लेकिन उन सबसे मंजीत अलग लगे। क्योंकि उसने जिस इलाके के लिए और जिन लोगों के बारे लिखा, कम-से-कम उन लोगों से उन्होंने उनकी मातृभाषा में बात की। सिर्फ राँची ही नहीं कोलकाता, भुवनेश्वर में भी ऐसे लेखक, पत्रकार नहीं देखा जो अपनी मातृभाषा को छोड़ तीन अर्जित भाषाओं में लिखता हो। राँची में अनेक लेखक विद्वान हैं और थे भी। उनमें से कुछ तो अन्तरराष्ट्रीय स्तर के हैं। वे आदिवासियों पर, झारखंड के ग्राम्य जीवन के बारे बड़ी, मोटी किताबें लिख चुके हैं लेकिन उनमें शायद ही किसी विद्वान ने उन ग्रामीणों से बिना दुभाषिये की मदद लिये, उनसे बातें की हों। अधिकांश लोग हिन्दी या नागपुरी से काम चला लेते हैं। ऐसे में सम्भवत: वह अकेले पत्रकार हैं जो ग्रामीणों, आदिवासियों से सीधे उनकी मातृभाषा में बात कर सकते हैं।

बीच में मंजीत की शादी की बात चलती रही और पता चला कि वह श्रीमती जी के पास कनाडा जाने वाला है और सचमुच एक दिन मंजीत कनाडा चला गया। इस बीच न उससे बात हुई और न कभी उनका फोन मिला। फिर एक दिन अचानक कुछ वर्षों बाद उनसे राँची में मुलाकात हो गयी। तब वह कनाडा के बारे बताता रहा। उसने बताया कि वह टैक्सी चलाता है और बीच-बीच में वहाँ के अखबारों के लिए लिखता भी है। वहाँ के इंडीजीन्यस लोगों से भी मिलने-जुलने का प्रयास करता है। उसने बताया कि आगे वह लिखने का काम करता रहेगा और कोशिश करेगा कि कुछ अच्छा काम मिल जाय। फिर हम विदा हो गये। जो फोन नम्बर उसने दिया था, वह कहीं गुम हो गया। इस बीच मेरा स्थानान्तरण भुवनेश्वर हो गया और मंजीत को एक तरह से भूल-सा गया।

एक दिन दोपहर में अपने बेटे के साथ टी.वी. देख रहा था। अचानक हम बीबीसी न्यूज देखने लगे। कुछ देर बाद न्यूज रीडर ने बताया कि वे कनाडा, मांट्रियल से सीधे बी.बी.सी. संवाददाता मंजीत सिंह सन्धू से वहाँ के बारे रिपोर्ट सुनेंगे। मैं चौंका, लेकिन अगले ही क्षण हमने देखा सूट, टाई पहने, माइक थामे मंजीत सिंह सन्धू बी.बी.सी. के लिए रिपोर्टिंग कर रहे थे। बेटे ने कहा– 'बाबा, सरदार-अंकल!' हमने कहा– हाँ 'मुंडा-सरदार!'

दिनांक 15.06.2012 मे प्रभात खबर में प्रकाशित

याद आता है फादर कामिल बुल्के का आशीर्वाद

मैं पहली बार फादर के पास जा रहा था। मई महीना 1968 का कोई एक शुक्रवार का दिन। हाफ पैंट पहने बच्चे से बात करेंगे? क्या कहेंगे?...। डाँटेंगे? आदि सवाल एवं डर मुझे आतंकित कर रहे थे। चूँकि फादर कामिल बुल्के से जो लोग परिचित थे और मेरा परिचय फादर से करा सकते थे, उन्होंने मुझ स्कूली बच्चे को बड़ो द्वारा पढ़े जाने वाली पुस्तकों के लिए, फादर से मिलाने से इनकार कर दिया था। इसलिए फादर के पास जाकर, स्वयं परिचय देने के सिवाय कोई रास्ता नहीं बचा था। मैंने बहुत सोचा, विचारा और पाया कि अत्यन्त बुरी स्थिति में फादर मुझे केवल डाँट सकते हैं या किताब देने से मना कर सकते थे। इससे ज्यादा नुकसान मेरा नहीं होने वाला था। लेकिन ये यदि परिचय पाकर फादर ने किताब देना स्वीकार कर लिया तो छुट्टियों में फादर के निजी पुस्तकालय से मनपसन्द किताबें लेकर पढ़ने का आनन्द कुछ और हो सकता था। एक खजाने के मिलने जैसा यह आनन्द था। इस कल्पना से ही मैं रोमांचित हो रहा था। किताबें पा सकने की उम्मीद करता, डरते हुए लेकिन पूरी हिम्मत के साथ मैं मानरेसा हाउस में फादर कामिल बुल्के के अध्ययन कक्ष के सामने खड़ा था। देखा, फादर अपनी पांडुलिपि के कुछ पन्ने सजा रहे हैं। मैंने दरवाजा खटखटाया। शायद, वे सुन नहीं पाये। अत: इस बार ज्यादा हिम्मत के साथ दरवाजा जोर से खटखटाया। आवाज सुन फादर ने दरवाजे की ओर देखा और दो-चार पन्ने सजाते मेरे करीब आये। मैंने प्रणाम किया। पूछा– 'क्या चाहिए?' यह पूछने में थोड़ी रुखाई थी। क्योंकि अक्सर जरूरतमन्द बच्चे फादरों के पास कुछ-न-कुछ माँगने आ जाया करते थे। फादर बुल्के ने भी शायद मुझे उनमें से एक समझा। अनुकूल जबाव न पाकर मैं थोड़ा विचलित था। फिर भी डरते हुए कहा– 'उपन्यास चाहिए'। पहले तो फादर सुन नहीं पाये या जो मैंने कुछ कहा उस पर उन्हें शायद विश्वास न हुआ। उन्होंने अपना ईयरफोन ठीक करते कहा– 'मैं बहरा हूँ। जरा जोर से बोलो। सुन नहीं पाता हूँ।' मैंने दुबारा कहा– 'उपन्यास चाहिए।' यह सुनने के बाद सम्भवत: फादर ने मेरी परीक्षा लेने चाही। उन्होंने कहा कि मैं कुछ लेखकों और किताबों के नाम बताऊँ, जिन्हें पढ़ना चाहता हूँ। मैंने प्रेमचन्द के अलावा इलाचन्द्र

जोशी, अमृतलाल नागर, धर्मवीर भारती, यशपाल, रांगेय राघव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर, विमल मित्र आदि के नाम लेते हुए, उनके द्वारा लिखित दो एक उपन्यासों के नाम भी बताता गया। शायद फादर को मुझसे इतनी जानकारी की उम्मीद नहीं थी। यह सुनकर उनका व्यवहार बदल गया। अब वे ज्यादा सहज और आत्मीय लगे। उन्होंने बरामदे में रखी चार आलमारियों की ओर इशारा करते कहा– 'इनमें से चुन लो। पन्द्रह दिनों के लिए दो किताबें मिलेगी'। उन्होंने यह भी पूछा कि कहाँ पढ़ता हूँ, कहाँ रहता हूँ। पिताजी क्या करते हैं आदि। मैंने दो किताबें चुनीं और इस तरह फादर कामिल बुल्के के निजी पुस्तकालय से किताबें लेनेवाला, नवीं कक्षा में पढ़ता पहला और सम्भवतः अकेला हाई स्कूल का छात्र था। सन्त जॉन स्कूल से मैट्रिक पास करने तक फादर से लम्बी छुट्टियों के समय ही किताबें लेता था। फिर कॉलेज की पढ़ाई के सिलसिले में भी उनसे नियमित किताबें लेता। उस दिन किताब लेकर विदा लेते समय फादर बुल्के ने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद देते उन्होंने जो कुछ कहा मेरे लिए अप्रत्याशित था। उन्होंने तब जो कहा– उसके बारे में वर्षों सोचता रहा। फादर बुल्के ने जो कुछ कहा था क्या मैं उस काबिल हूँ? वर्षों खुद को कुरेदता रहा। इसके चौदह साल बाद जब हिन्दी की सबसे बड़ी पत्रिका 'धर्मयुग' में 30 अगस्त, 1982 में मेरा पहला लेख प्रकाशित हुआ तो सहसा अनुभव किया कि फादर की बातें सच थीं। फादर ने जो कुछ कहा था उस दिशा की ओर बढ़ते ये पहले कदम थे। मेरे लिए यह अब भी एक रहस्य से कम नहीं है कि फादर ने उस पहली मुलाकात में ही ऐसा क्या देखा था कि वे यह बात कह गये, जो वर्षों बाद होनी थी। क्या फादर कामिल बुल्के भविष्यद्रष्टा थे? या सामुद्रिक?

खैर कुछ भी हो उनका आशीर्वाद आज भी मेरे लिए प्रेरणास्रोत है।

हॉकी, कलम, धर्मयुग और फिल्म का खेल

वह शायद जून-79 का महीना था। जब रोज की तरह डालटनगंज में दफ्तर में बैठा अपने रूटीन कार्यों को निपटाने में लगा था कि डाकिये ने मुझे चिट्ठी दी। यह वर्गाकार हल्के भूरे रंग का लिफाफा था जिसमें बहुत ही सुन्दर अक्षरों में मेरा पता लिखा था और बायीं तरफ कुछ मोटे अक्षरों में 'धर्मयुग' लिखा था। आँखों को विश्वास नहीं हो रहा था कि यह सच है। धर्मयुग से पत्र? मैं अवाक! शायद इस अप्रत्याशित से हतप्रभ हो गया था। काफी देर बाद विश्वास कर पाया कि मैं सपना नहीं देख रहा हूँ और यह पत्र हकीकत है। कहना न होगा कि 'आदिवासी क्षेत्र में हॉकी' जैसे विषय पर लेख लिखने का ऑफर मेरे लिए क्या था! इस ऑफर से इतना खुश हुआ, इतना खुश हुआ कि वह लेख तुरन्त लिख नहीं पाया। तब दो घटनाएँ हो गयीं। एक छुट्टी का अभाव दूसरा कैमरा नहीं था अपने पास। फिर सोचा, लिखना ही है तो क्यों न उन खेलकूद केन्द्रों की यात्रा

कर ली जाय। जिसके लिए कम-से-कम आठ-दस दिन की यात्रा करनी थी। खूँटी, सिमडेगा, महुआडाँड़, गुमला, बोकारो, बरियातू-राँची, राउरकेला जाने की योजना बनायी। कहाँ जाना है? कैसे जाना है? किनसे मिलना है, कहाँ ठहरना है? आदि योजना बनाते देर हो गयी और समय पर यह लेख भेज नहीं सका। और इस तरह धर्मयुग में लिखने के पहले-पहले अवसर का उपयोग करने में असफल हो गया।

लेकिन जैसा कि कहा जाता है असफलता, सफलता की पहली सीढ़ी होती है। कुछ ऐसा ही घटा मेरे साथ। धर्मयुग में छपने की इच्छा रखना और धर्मयुग से मिले अवसर को पूरा उपयोग करना दोनों अलग बातें थीं। लेकिन, अब अपने पर भरोसा हो चुका था कि सम्पादक नये विषयों की तलाश में रहते हैं और नये लेखकों या लेखन के प्रति रुचि रखने वालों को प्रोत्साहित भी करते हैं बशर्ते हम उस पत्रिका या अखबार के रुझान को समझ सकें और सम्पादक दृष्टि-सम्पन्न हो। अत: हिम्मत के साथ फिर एक लेख लिखा और धर्मयुग को भेज दिया। महीनों स्वीकृति पत्र नहीं मिला तो निराश हो गया। लगभग साल-भर बाद किसी लेख की प्रतिक्रिया में धर्मयुग को पत्र लिखा और साथ ही पिछले पत्र का भी हवाला दिया। फिर 'आदिवासी क्षेत्र में हॉकी' लिखने के लिए पत्र मिला। इस बार अवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहता था। दस दिन की छुट्टी लेकर सबसे पहले महुआडाँड़ गया। वहाँ के खेल केन्द्र के प्रभारी रॉबर्ट किसपोट्टा से परिचय प्राप्त कर चुका था। अत: सीधे उनके घर गया। फिर वहाँ से सन्त जोसेफ स्कूल। जब वहाँ के प्राचार्य को पता चला कि मैं धर्मयुग के लिए हॉकी पर लेख लिखने वाला हूँ तो वे बहुत खुश हुए। सन्त जोसेफ स्कूल द्वारा मुम्बई से लगातार दो साल तक जीती ट्रॉफी दिखायी। चूँकि फादर यूरोपियन थे, वे स्थानीय लड़कों के कई गुणों के बारे में भी मुझे बता रहे थे। इसी क्रम में उन्होंने उस स्कूल के पूर्व प्राचार्य की एक मूर्ति दिखायी और बताया कि यह एक लड़के ने बनायी है। उनका मानना था यहाँ के लोगों में एक कलाकार होने का गुण जन्मजात है। कुछ और बातें करने के बाद उन्होंने आग्रह किया कि मैं असेम्बली में छात्रों को सम्बोधित करूँ और प्रोत्साहन के कुछ शब्द कहूँ। क्योंकि महुआडाँड़ जैसे दुर्गम, पहाड़ों से घिरे स्कूल के छात्रों के खेल के बारे कुछ जानने के लिए आना बड़ी बात है। अब मेरी हालत खराब। हाई स्कूल के छात्रों को तथा शिक्षकों को सम्बोधित करना मुझे अजीब लग रहा था। स्कूल एवं कॉलेज के भाषण प्रतियोगिताओं में भाग लेकर असफल होता रहा था। अत: डर रहा था कि फिर बोलते हुए फिर असफल न हो जाऊँ। कैसे सम्बोधित करूँ। कैसे बोलूँ? क्या बोलूँ? सोचने लगा। तब तक प्राचार्य मुझे मंच तक ले आये थे। सामने करीब चार-पाँच सौ छात्र पंक्तिबद्ध खड़े थे। प्राचार्य ने जब मेरा परिचय धर्मयुग के प्रतिनिधि के रूप में कराया और छात्रों को जोरदार तालियाँ बजाकर मेरा स्वागत करने को कहा। छात्रों ने जोरदार ताली बजाते मेरा स्वागत किया। शायद तालियों की गड़गड़ाहट में कुछ शक्ति अवश्य होती है जो मंच पर आसीन कलाकार या मैदान में खेलते खिलाड़ी को अतिरिक्त उत्साह एवं ऊर्जा से भर देती है। मैंने अनुभव किया कि मैं न बोल पाने की हीनता एवं भय से मुक्त हो रहा हूँ। तालियाँ सुनकर इस

हताश-सा था, लेकिन कुछ किया नहीं किया जा सकता था। नये वातावरण में नये लोगों के साथ कुछ सीखने की ललक-भर थी कि मैं फिर एक बार खुद को सहेजता, शहडोल जाने के लिए निकल पड़ा।

वहाँ पहुँचकर लगा बच्चों को लेकर देखे गये सपने टूट रहे हैं। जिला मुख्यालय होते हुए भी शहडोल की आबादी तब एक लाख से भी कम थी और चिकित्सा एवं पढ़ाई की राँची जैसी सुविधा नहीं थी। अत: भविष्य को लेकर हमेशा आतंकित और भयभीत रहता था। वहाँ से बेहतर जगह जाने की इच्छा हमेशा बनी रहती थी। वहाँ के सामाजिक स्थिति में मुझे, पत्नी एवं बच्चों को भी सही वातावरण मिल नहीं पा रहा था। एक तरह से वहाँ के आरम्भिक दिनों में हम सभी मानसिक रूप से अस्वस्थ से थे। बच्चे बाद में, स्कूल में अपने दोस्तों के संग रमने लगे। लेकिन, करीब साल डेढ़ साल मैं बहुत परेशान रहा। नयी नौकरी की कोशिश भी की। लेकिन सफल नहीं हो सका। अचानक इस निराशा ने मन में आत्मघाती विचार को सुलगा दिया। कई बार अपनी स्थिति पर रोना आता। घर-परिवार और अपने लिए भी कुछ न कर पाने की पीड़ा से मन भर जाता। बार-बार आत्महत्या करने का विचार मन में आने लगा था। मन को समझाता, लेकिन फिर हार जाता। वहाँ की नयी विषम स्थितियों को झेल नहीं पा रहा था। बार-बार खुद को समझाता, लेकिन हर बार हार जाता। तब वहाँ ऐसे दोस्त भी नहीं बना पाया था कि उनसे अपने मन की व्यथा कहता। न तब आज की तरह फोन की सुविधा थी। चौबीस घंटे से अधिक की यात्रा जमशेदपुर होकर की जा सकती थी लेकिन फिर रात-भर वहाँ रुकना पड़ता था। अत: घर भी जाना सम्भव नहीं था।

लेकिन मुझे अपने काम के सिलसिले में अम्बिकापुर जाना पड़ता था। एक दिन वहाँ के एक पुस्तक दूकान में 'रामशरण जोशी' की किताब 'आदमी बैल और सपने' का पेपरबैक संस्करण मिला। इस किताब के बारे में कभी 'जनसत्ता' में पढ़ चुका था। लेकिन किताब को पढ़ नहीं पाया था। अत: खरीद लिया। बँधुआ मजदूरों के लिए कभी पलामू में प्रसिद्ध बँगला लेखिका 'महाश्वेता देवी' के साथ कार्य कर चुका था। अत: स्वाभाविक था कि मैं यह किताब पढ़ूँ। दूसरे दिन विश्रामपुर स्टेशन से अनूपपुर होते शहडोल तक की ट्रेन यात्रा करनी थी। किसी कारणवश ट्रेन अपने निर्धारित समय से बहुत देर में चली और इस तरह पुस्तक पढ़ने के लिए मुझे दो-तीन घंटे का अतिरिक्त समय मिल गया। कहना न होगा कि जब शहडोल पहुँचा तो किताब के कुछ पन्ने ही पढ़ने के लिए शेष रह गये थे।

पुस्तक पढ़ने के बाद मन तरो-ताजा हो गया। मन में नयी ऊर्जा एवं आत्मविश्वास का अनुभव किया। पुस्तक में बिहार के पलामू, आन्ध्र प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के बँधुआ मजदूरों के दारुण घटना की कथायें थीं। एक घटना से मैं बेहद प्रभावित हुआ जिसमें वर्णन था कि आन्ध्र प्रदेश के एक गाँव में बँधुआ मजदूर, एक शिविर में प्रशिक्षित होकर अपने अधिकार की लड़ाई छेड़ता है। उसे विरोध का सामना करना पड़ता है। अन्तत: बड़े किसानों एवं सामन्तों द्वारा नक्सली होने का आरोप लगाकर वह मारा जाता है।

तो बताया गया– ध्रुवस्वामिनी का। मैं सोच में पड़ गया– ये फादर वनफल क्या हैं? कभी लड़कों को फुटबॉल सिखाते हैं, कभी दौड़ना, कभी जेवलिन थ्रो कराना, कभी हाई जम्प करना। कभी किसी उभरते खिलाड़ी को लम्बी दौड़ के लिए ले जाते हैं। स्टॉप वॉच में समय देखते मोटरसाइकिल पर सवार हैं। नृत्य एवं गायन के अलावा छात्रों को कलाकारी करने के लिए भी प्रेरित करते हैं। तो कभी किसी दूर गाँव से किसी सम्भावनाशील खिलाड़ी को मोटर साइकिल पर बिठाकर गुमला ला रहे हैं। कभी उभरते धावक को समझा रहे हैं– 'बेटे! तुम्हारे इस राष्ट्रीय रेकॉर्ड से कम समय में यूरोप की लड़कियाँ दौड़ती हैं।' अब नाटक सिखा रह हैं फादर! और ऐसा-वैसा कोई आसान नाटक नहीं– जयशंकर की ध्रुवस्वामिनी! वह भी किसी बड़े शहर या महानगर में नहीं, गुमला में! हमलोग कभी-कभी बात करते, एक-दूसरे से पूछा करते थे। ये फादर लोग अपने नाम के बाद एस.जे. क्यों लिखते हैं? हालाँकि इसका अर्थ हमें बताया गया था। लेकिन हम एस.जे. का पूरा अर्थ– 'सब जानता है' के सन्दर्भ में लेते थे। उसके साक्षात उदाहरण फादर वनफल लग रहे थे।

स्कूल के फुटबॉल कोच सुशील कुमार वर्मा ने फुटबॉल खिलाड़ियों से मिलवाया। उनसे भी ढेर सारी बातचीत हुई। अन्त में उन्होंने कहा कि आप लड़कों को जरा समझाइयेगा। कहा– ठीक है, सबेरे बात करूँगा। दरअसल, समस्या यह थी कि लड़के सुब्रत कप फुटबॉल खेलने के लिए दिल्ली जाते और वहाँ किसी अर्द्ध-सैनिक बल के द्वारा छोटी-मोटी नौकरी का प्रस्ताव, स्वीकार कर मैट्रिक की परीक्षा नहीं लिखते। जिससे उन्हें अपने विभाग में राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अच्छा खेलने पर भी प्रमोशन पाकर ऊँचे पदों तक पहुँचने में काफी अड़चनें आती थीं। फादर वनफल एवं कोच सुशील कुमार वर्मा के सपने, खिलाड़ियों के भविष्य को लेकर भी बड़े थे। क्योंकि वे जानते थे कि लड़कों पर उन्होंने कितनी मेहनत की है और उनका स्तर और कीमत क्या हो सकती है। अतः एकदम-सी छोटी नौकरी या कुछ सौ रुपये की नौकरी के लिए उभरते किशोरवय लड़कों का पढ़ाई छोड़कर चले जाना उन्हें कई बार निराश एवं दुःखी कर देता था। लड़कों को यही समझाना था कि चाहे कुछ भी हो कम-से-कम मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद ही वे नौकरी का कोई प्रस्ताव स्वीकारें। मेरी बातों का उन पर कितना असर हुआ यह कहना मुश्किल है, लेकिन आज उस स्कूल के कुछ छात्र भारत के श्रेष्ठ कल्ब टीमों तथा विभिन्न प्रतिष्ठानों के महत्त्वपूर्ण खिलाड़ी हैं। इसी तरह इस क्षेत्र से तब हॉकी का कोई खिलाड़ी इंडियन एयरलाइन्स की टीम में नहीं था। लेकिन अब कई हैं।

सत्तर के दशक में भारतीय टीम के महत्त्वपूर्ण सदस्य रह चुके माइकेल किंडो के बारे में उनके शिक्षकों ने बताया था कि स्कूल की टीम में उनका कोई स्थान नहीं था। इसी तरह पूर्व हॉकी कप्तान दिलीप तिर्की ने एक मुलाकात में बताया कि वे अपने गाँव की टीम के सदस्य नहीं थे। कहने का आशय है कि प्रतिभाएँ अनेक हैं, लेकिन उन्हें तराशने वाले एव प्रोत्साहित करने वाले कम हैं। हालाँकि पहले की तुलना में अब अवसर कुछ बढ़े जरूर हैं। प्रीमियर हॉकी लीग जैसी प्रतियोगिता आरम्भ होने से निश्चय ही हॉकी को

बार मन में अजीब-सा विश्वास जगा। मुझमें भी जोश आ गया। शायद इसलिए कि प्रतियोगिताओं में भाषण देना और बात थी और छात्रों को प्रेरित करने के लिए सम्बोधित करना अलग बात थी। खुले मैदान में पंक्तिबद्ध छात्रों को सम्बोधित करने के लिए अब खुद को मानसिक रूप से तैयार कर लिया था। अपने संक्षिप्त भाषण में छात्रों को पढ़ने के साथ हॉकी के साथ अन्य खेलों को भी अपनाने के लिए कुछ कहा। पूर्वजों, बुजुर्गों के हॉकी खेलने की परम्परा को जीवित रखते हुए नये तरीकों को भी जानते रहने की सलाह दी। निरन्तर अच्छा खेलते रहने की इच्छा पर बल दिया। और पता नहीं क्या कहा, अब पूरी तरह याद नहीं। लेकिन बाद में कुछ छात्र मुझसे मेरा पता माँग ले गये, जिसमें से एक ने मुझे कुछ महीनों बाद पत्र में लिखा कि वह पढ़ाई एवं हॉकी में साथ-साथ कैसे आगे बढ़ सकता है? मैंने उसे जवाब दिया।

महुआडाँड़ के बाद राँची आया। चूँकि साल-भर में कई सम्पर्क सूत्र तथा ऐसे व्यक्तियों का भी पता लगा लिया था जो मुझे जानकारी दे सकते थे। तब वाल्टर भेंगरा 'तरुण' पटना से प्रकाशित 'कृतसंकल्प' के बन्द होने से राँची आ चुके थे और एक साप्ताहिक 'जगज्योति' का सम्पादन कर रहे थे। वे एक अच्छे फोटोग्राफर भी हैं। अत: उनसे आग्रह किया कि वे एक-दो दिन में किसी दिन बरियातू महिला हॉकी केन्द्र और सिमडेगा या खूँटी चलें। वाल्टर दा ने यह सहर्ष स्वीकार कर लिया। और हम दोनों अगले दिन सिमडेगा गये। सन्त मेरीज स्कूल के शिक्षक रामजीत सेनापति एवं सुशील कुमार टेटे से मुलाकात हुई। ये दोनों सिमडेगा में हॉकी गतिविधियों को बढ़ाने में सक्रिय रहते थे। लेकिन तत्कालीन प्राचार्य से जो हॉकी में गहरी रुचि रखते थे, मुलाकात नहीं हो सकी। हम वहाँ के छात्रों से भी मिले। मैं उस दिन सिमडेगा में रुक गया, क्योंकि अगले दिन राउरकेला में माइकेल किंडो से मिलना चाहता था। वाल्टर दा राँची लौट आये। मैं अगले दिन राउरकेला के लिए निकल गया, वहाँ पता चला कि माइकेल किंडो किसी हॉकी कैम्प के लिए बाहर गये हैं, फलत: उनसे मुलाकात नहीं हो सकी और राँची लौट आया। कोच सरदार कुलवन्त जी से मुलाकात की और हॉकी पर बातचीत की। तब उन्होंने अलमा गुड़िया, सावित्री पुरती, विश्वासी पुरती, हन्ना धान तथा फुलमणि हेरेंज के नामों का उल्लेख किया था। अलमा गुड़िया तब सबसे प्रतिभाशाली खिलाड़ियों में गिनी जा रही थी क्योंकि वह लेफ्ट एवं राइटइन दोनों पोजीशन पर बराबर दक्षता के साथ खेल सकती थीं। महिला खिलाड़ियों के बारे 'वासवी' ने अपनी किताब 'ताबेन जोम' में काफी विस्तार से लिखा है। इतना ही नहीं हाल में कविता से कहानी लिखना आरम्भ करने वाले कहानीकार रणेन्द्र की कहानी 'वह बस धूल थी' 'हंस' के मार्च 2007 में छपी है जिसकी कथा नायिका सोमा कुजूर एक हॉकी खिलाड़ी है।

अब मुझे गुमला जाना था। गुमला के स्पोर्ट्स सेंटर के अलावा सन्त इग्नासियुस स्कूल भी जाना था। इस बार गुमला की यात्रा अकेले की। सबसे पहले सन्त इग्नासियुस स्कूल पहुँचा और फादर वनफल से मुलाकात करना चाहा तो जानकारी मिली कि फादर लड़कों को नाटक का रिहर्सल करा रहे हैं। मैंने जानना चाहा, किस नाटक का।

लेकिन अब हॉकी को सरकार ने विशिष्ट खेल की सूची से हटा दिया है। अब उसे पहले की तुलना में सरकारी सहायता कम मिलेगी। यानी जहाँ क्रिकेट गुर्राने लगा है वहीं हॉकी को मिमियाने की स्थिति में ला खड़ा कर दिया गया है। क्रिकेट जहाँ हर तरह से शक्तिशाली हो रहा है, वहीं हॉकी विपन्न होता जा रहा है। लेकिन लोगों का हॉकी प्रेम अब भी बना हुआ है और यह दूर गाँवों एवं कस्बों में अब भी दिखाई देता है। सबसे आश्चर्यजनक कि यह अब फिल्मी पर्दे पर भी दिखाई दे रहा है। शायद हिन्दी फिल्म जगत में 'चक दे इंडिया' हॉकी पर बनी पहली फिल्म है। कुछ दिनों से इसके विज्ञापन टीवी पर देख रहा था। 10 अगस्त को फिल्म रिलीज हुई। दूसरे दिन राँची से फोन आया कि मैं 'चक दे इंडिया' जरूर देखूँ। फिल्म देखने के पूर्व किसी प्रसिद्ध खिलाडी की राय जानना जरूरी लगा तो सावित्री पुरती को फोन किया और पूछा फिल्म कैसी लगी? वह फिल्म देखकर बहुत उत्साहित थी। बताया कि फिल्म बहुत अच्छी लगी। साथ ही उसने बताया– हमारे बरियातू हॉकी सेंटर का नाम भी फिल्म में आया है। फिल्म में सबसे अच्छी बात क्या लगी? पूछने पर बताया कि शाहरुख का यह कहना कि– 'सत्तर मिनट आपसे कोई छीन नहीं सकता। इसमें करो या मरो।' जाहिर है एक प्रसिद्ध हॉकी खिलाड़ी की टिप्पणी सुनने के बाद फिल्म देखने की इच्छा हुई। पिछले दस सालों में हॉल में सिर्फ एक फिल्म 'ब्लैक' देखी थी और अब 'चक दे इंडिया'। हॉल में हमारी उम्र के इक्का-दुक्का लोग थे। बाकी 15 से 30 साल की उम्र के लड़के-लड़कियाँ ही चारों दिख रहे थे। हमारी उम्र के अंकल-आंटी वहाँ इक्का-दुक्का ही दिखे। हॉकी पर बनी फिल्म के लिए टिकट ब्लैक में बिकते देखा। डेढ़ साल में भुवनेश्वर में पहली बार फिल्म देख रहा था। साथ में पत्नी को लाना फायदेमन्द रहा। भारी भीड़ के बीच महिला काउंटर से टिकट आसानी से मिल गयी। टिकट हॉल पूरा भरा था। क्रिकेट, टेनिस की दीवानी युवा पीढ़ी का यह हॉकी प्रेम था या शाहरुख का जादू? फिल्म देखते वह भी पता लग गया। फिल्म बम्बईया मसाले से कुछ मुक्त लगी और शुरू से अन्त तक दर्शकों को बाँधे रखने में सफल रही है। सारा कुछ सहज एवं स्वाभाविक लग रहा था। हॉल में लोग फिल्मी हॉकी का पूरा लुत्फ उठा रहे थे सीटी बजाते, शोर करते, ताली बजाते मानो वे हॉल में फिल्म नहीं सचमुच मैदान में खेल देख रहे हों। क्रिकेट के पीछे पागल होती नयी पीढ़ी का हॉकी के लिए ऐसा उत्साह सिनेमा हॉल में देखना मेरे लिए विस्मयकारी था। पूरी फिल्म देखकर लगा बॉलीवुड अब परिपक्व हो रहा है। हॉकी पर साफ-सुथरी उद्देश्यपूर्ण फिल्म बनाना कोई आसान काम न था। लेकिन उन्होंने कर दिखाया। 'चक दे इंडिया' की पूरी टीम इसके लिए प्रशंसा एवं बधाई की पात्र है। बताया जा रहा है कि यह मीर चन्द नेगी के वास्तविक जीवन घटना से प्रेरित है। नेगी 1982 एशियाड के गोलकीपर थे और भारत, पाकिस्तान से 7-1 से फाइनल मैच हार गया था। नेगी पर तरह-तरह के आरोप लगे। वे वर्षों गुमनामी की जिन्दगी जीते रहे और सत्रह साल बाद ही हॉकी से जुड़ सके। और जब उन्हें कोच बनाया गया भारतीय महिला एवं पुरुष टीम दोनों अपने महत्त्वपूर्ण मैच में जीत दर्ज की। अब याद आया राँची में मेघनाथ एवं बीजू पिछले दो-ढाई सालों से हॉकी पर डॉक्यूमेन्ट्री तैयार करने

कुछ लाभ होता दिख रहा है और झारखंड, उड़ीसा के कई प्रतिभावान खिलाड़ी उभरकर आ रहे हैं जो लगातार राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी प्रतिभा का परिचय दे रहे हैं। भविष्य में हर वर्ष 15 से 20 हॉकी खिलाड़ियों को यूरोप के कुछ देशों के क्लबों से खेलने की अनुमति देने की प्रक्रिया चल रही है। निश्चय ही इससे झारखंड, उड़ीसा एवं छत्तीसगढ़ के प्रतिभाशाली खिलाड़ियों को भी भविष्य में लाभ मिल सकता है।

1980 में जब भारत अन्तिम बार ओलम्पिक विजेता बना या उसके पहले 1975 में हॉकी वर्ल्ड कप जीता था तब टेलीविजन गिने-चुने लोगों के पास था। यदि टेलीविजन पर भारत का विजय अभियान हमारा देश तब देखता तो शायद हॉकी की यह लोकप्रियता नहीं घटती। वैसे हॉकी नियमों को लगातार यूरोपीय शैली के अनुकूल परिवर्तित किया गया। कृत्रिम घास के मैदान में खेलने की अनिवार्यता ने मानो भारतीय शैली की ताबूत पर कील ठोंक दिया। भारत में अब भी जितनी संख्या में कृत्रिम घास वाले हॉकी मैदान चाहिए, नहीं हैं। इसलिए यह गरीब खेल अमीर खेल क्रिकेट से भी ज्यादा महँगा हो गया है। देश में प्रतिभाओं की कोई कमी नहीं है। वे विपरीत परिस्थितियों एवं विदेशों जैसी सुविधा न होने के बावजूद हॉकी खेल रहे हैं। शुरुआत से उन्हें यह सुविधा मिले तो पुराना गौरव हासिल किया जा सकता है। 1982 के पहले तक हम रेडियो के माध्यम से जसदेव सिंह की कमेंट्री सुनते रहते थे। हारते रहने के बावजूद जसदेव सिंह कहते थे देश में हॉकी परम्परा जीवित है। आज भी उनके शब्दों को दुहराते कहना पड़ता है कि देश में हॉकी परम्परा जीवित है। और यह हॉकी परम्परा झारखंड, पंजाब, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, मणिपुर आदि राज्यों में अपने हिसाब से फल-फूल रही है। लेकिन कुछ महानगरीय या औद्योगिक प्रतिष्ठानों वाले नगरों में ही हॉकी की आधुनिक सुविधा उपलब्ध हैं। भारत में टेलीविजन पर खेल प्रसारण की शुरुआत में हमने हॉकी में भारत की अब तक सबसे शर्मनाक हार देखी। जब 1982 में दिल्ली एशियाड में भारत 7-1 से पाकिस्तान से हार गया। लेकिन इसके अगले साल ही भारत को क्रिकेट में कपिल के नेतृत्व में वर्ल्ड कप जीतते लोग टेलीविजन में देखते हैं। खेल प्रेमी हॉकी के सदमे से उबरते लगते हैं। छह बार लगातार ओलम्पिक में हॉकी के स्वर्ण पदक विजेता भारत को कांस्य पदक जीतने के लाले पड़ने लगते हैं। लेकिन क्रिकेट के रूप में भारत के खेल-प्रेमियों को अब नये हीरो मिल जाते हैं। 1980 में आखिरी बार ओलम्पिक स्वर्ण पदक जीतने के बाद हॉकी पतन के गर्त पर पहुँचता नजर आता है, वहीं दूसरी ओर क्रिकेट जगत में भारत एक नयी शक्ति के रूप में उभरता है। तब भारत ही एक मात्र देश था जहाँ के खिलाड़ी कैरी पैकर के सर्कस में शामिल नहीं हुए थे। भारत 1983 में क्रिकेट का विश्व कप तथा 1986 में आस्ट्रेलिया में बेन्सन हेजेज कप जीतता है। रवि शास्त्री चैम्पियन ऑफ चैम्पियन्स बनते हैं। सत्तर के बाद सुनील गावस्कर, अस्सी के आसपास कपिल देव, नब्बे के आस-पास सचिन के तथा 2000 के आस-पास सौरभ की कप्तानी और अब जहीर, युवराज, धोनी, श्रीसन्त, कार्त्तिक, रॉबिन आदि के खेल ने भारतीय क्रिकेट के नखदन्तविहीन कहे जाने वाले अहिंसक आक्रामकता को गुर्राने की शक्ल देते नजर आते हैं।

शायद वह मार्च–अप्रैल का महीना रहा होगा। वर्ष शायद 1980 था। प्रात: आठ–साढ़े आठ का समय हो रहा होगा। डालटनगंज के छोटे से स्टेशन पर हम कुछ मित्रों के साथ खड़े थे। ट्रेन आने की सूचना मिली। हम बेचैनी से एड़ियाँ ऊँची कर, गर्दन शरीर से कुछ आगे निकालकर उचककर बार–बार ट्रेन आने की दिशा में देखते। यह जानते हुए भी कि ट्रेन स्टेशन पर रुकेगी ही, अशान्त था। ट्रेन जैसे ही रुकी। जिन मित्रों को उनका बोगी नम्बर पता था वे वहाँ चले गये। मैं भी उनके पीछे–पीछे गया। बोगी के दरवाजे पर कुछ लोग खड़े हो गये और वहाँ से कौन उतर रहा है या किसे माला पहनाया जा रहा है यह दृश्य मैं देख न सका। भीड़ छँटने के बाद देखा एक बेहद गोरा आदमी जीन्स का पैंट और छींटदार रंगीन कपड़े का खलीता पहने कुछ लोगों के साथ आगे बढ़ रहा है। उनके कई फोटो देख चुका था, अत: पहचान गया कि यही भीष्म साहनी जी हैं। चूँकि प्रगतिशील लेखक संघ की बिहार राज्य का त्रिदिवसीय सम्मेलन था और भीष्म साहनी जी उसमें भाग लेने आ रहे थे। अत: कई लोग स्टेशन पर थे। फूल–मालाओं से उनका स्वागत किया जा रहा था। कुछ लोग उसके करीब गये। यह दृश्य कुछ दूर से देख रहा था। फिर तेजी से वे कुछ और लोगों के साथ बढ़ गये। उनके गाड़ी पर बैठकर चले जाने के बाद देखा एक परिचित के हाथों में एक छोटा–सा पैकेट है। जिसके बारे में पता चला कि उसे साहनी जी ने दिया है। वह परिचित उस पैकेट को खासतौर से दिखा रहा था और यह कुछ लोगों के बीच चर्चा का विषय बन गया था। यह बड़ा अजीब लगा कि इतना बड़ा लेखक उसे एक पैकेट दे गया!

सम्मेलन के दो दिनों के बीच तीन–चार बार भीष्म साहनी जी से होटल में मिला। उनके अन्दर एक अजीब–सा भोलापन देखा। जो प्राय: उससे कम उपलब्धियों के कद–काठी के लेखकों में नहीं देखा था। सामने वाले की बात सुनने की उत्सुकता उनके मन में देखी। अत: किसी और से मिलने की बात करने के बदले उनसे बार–बार मिलना अच्छा लगता था। बातों के क्रम में मैंने पूछा कि क्या कभी पत्र दूँ तो वे उत्तर देंगे? उन्होंने कहा कि– हाँ। अत: उनके डालटनगंज से चले जाने के कुछ दिनों बाद पत्र लिखा तो उनका उत्तर भी मिला। इस तरह उनसे पत्राचार का सिलसिला जारी रहा। मेरी रुचि 'लोटस' पत्रिका के अन्तरराष्ट्रीय संस्करण को देखने की थी, जो कई प्रयासों के बाद भी मुझे प्राप्त हो नहीं रही थी। अत: इसके बारे में साहनी जी को लिखा। उन्होंने पत्र दिया कि ठीक है पत्रिका भिजवा दूँगा। इस बीच कुछ महीने बीत गये और हमें यानी रामेश्वरम जी के साथ बँधुआ मजदूरों की एक बैठक में भाग लेने दिल्ली जाना पड़ा। यह दिसम्बर का महीना था। सम्मेलन के कार्यों से मुक्त होकर एक दिन शाम को हम 'हसरत मोहानी' से सम्बन्धित किसी कार्यक्रम में पहुँच गये। कार्यक्रम समाप्ति के बाद जब बाहर निकलने लगे तो साहनी जी कुछ दूरी पर दिखाई पड़ गये और हम किसी तरह धक्का–मुक्की करते उनके करीब पहुँच गये। वे हम सभी को पहचान गये और इन्होंने हम सभी का परिचय अपनी पत्नी शीला जी से कराया। मुझे खासतौर से कहा कि 'तुम्हारी पैकेट तैयार है।' उनका यह कहना मेरे लिए विशेष अर्थ रखता था। फिर उन्होंने हम

पर लगे हैं लेकिन एक अच्छे मैच के अभाव में उनकी फिल्म पूरी नहीं हो रही है। लेकिन लगता है अब किसी हॉकी के मैच में वे उस जुनून या उत्तेजना को अवश्य शूट कर पायेंगे, जैसा वे चाहते हैं। (अगर कोई पाठक इस मामले में उनकी सहायता कर सकता है तो जरूर करे।) कुछ लोग इस फिल्म से भारतीय हॉकी में बदलाव एवं बेहतरी के लिए काफी आशाएँ लगाये बैठे हैं तो यह गलत भी नहीं है। क्योंकि गुलाम भारत में छुआछूत, दहेज, देशभक्ति, विधवा विवाह, हिन्दू-मुस्लिम एकता जैसी सामाजिक समस्या को प्रभावित करने में हिन्दी फिल्मों की भूमिका अविस्मरणीय तथा अग्रणी रही है। इसलिए हो सकता है इस फिल्म के बाद खिलाड़ी स्वयं को ज्यादा आत्मविश्वास एवं उत्साह से भरा महसूस करें। और यही भावना उन्हें मानसिक रूप से और अधिक दृढ़ बनाकर खेल की चरम तक ले जाने में सक्षम हो सकती है। तब सम्भव है खेल-प्रेमियों को, देश को ओलम्पिक या वर्ल्ड का तोहफा मिल जाय! आप क्या सोचते हैं? अगर आपका उत्तर हाँ है तो कृपया, न केवल हॉकी बल्कि हर प्रकार के खेल के लिए आप से जो कुछ भी बन सकता है वह करें। एक दर्शक, एक प्रशंसक, एक खिलाड़ी, एक प्रायोजक, एक अभिभावक, एक डॉक्टर, एक मनोवैज्ञानिक, एक पत्रकार, एक खेल समीक्षक, एक कोच, एक आयोजक, एक विज्ञापनदाता, एक फिल्मकार, एक प्रशासक, एक सम्पादक, एक शिक्षक, एक विधायक, एक सांसद, एक मन्त्री, एक प्राचार्य या आप जो कुछ भी हों खेल के लिए जरूर कुछ करें। और दिल पर हाथ रखकर ईमानदारी से बतायें क्या आपको खेलना या खेल देखना अच्छा नहीं लगता?

सितम्बर 2007

संस्मरण—भीष्म साहनी

राँची में रहते अपने मित्र राजीव रंजन सिंह से कई लेखकों की रचनाओं से परिचित हुआ, उनमें से भीष्म साहनी भी एक थे। किन्तु, छात्र जीवन के समय सारिका, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी रचनाएँ ही पढ़ पाता था, क्योंकि अन्य पत्रिकाएँ आसानी से उपलब्ध हो नहीं पाती थीं।

इन्हीं दिनों साहनी जी की कहानी वाङ्‌चू, ओ हरामजादे, साग मीट, मेड इन इटली आदि कहानियों पढ़ीं। अमृतसर आ गया है बाद में ही पढ़ सका। वाङ्‌चू, ओ हरामजादे, साग-मीट आदि कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी कहानियाँ लगती थीं। बसन्ती, तमस उपन्यास भी पढ़ा। एक बड़े रचनाकार के नाते मन में हमेशा उनके प्रति श्रद्धा रही। यही कारण है कि जब अविभाजित बिहार एवं वर्तमान झारखंड के एक बेहद छोटे-से शहर डालटनगंज में उनके आने की सूचना मित्र रामेश्वरम जी ने दी तो मन उत्तेजित हो उठा। दिल्ली से आ रहे किसी बड़े एवं प्रिय लेखक को करीब से देख सकूँगा यह मेरे लिए एक उपलब्धि की तरह थी।

एकमात्र पत्रिका सुमन सौरभ ही दिखती है। 1967-70 के आस-पास टाइम्स ऑफ इंडिया की बाल पत्रिका पराग को अचानक किशोरों की पत्रिका बना दिया गया था। फलत: तब मुझ जैसे किशोर जिन्हें अँग्रेजी में कहें तो टीनएजर को, पराग पत्रिका खूब रास आयी थी। अँग्रेजी में टीनएजर नाम से एक पत्रिका आज भी प्रकाशित होती है। लेकिन जब किशोरों की पत्रिका पराग पढ़कर कुछ वर्षों तक खुश हो रहा था तो अचानक एक दिन पाया कि पराग फिर से बाल पत्रिका बन गयी है। यह बेहद निराशाजनक स्थिति थी। अचानक लगा कि बूढ़ों ने फिर किशोरों के खिलाफ साजिश रच दी है।

इस निराशाजनक स्थिति में सन्त जेवियर कॉलेज में एक मित्र ने एक दिन 'कृतसंकल्प' पत्रिका दी। पत्रिका पटना से प्रकाशित हो रही थी। पत्रिका अच्छी लगी। यह पत्रिका 'युवा द्वारा, युवा के लिए' थी। अत: 'पराग' के किशोर मानसिकता से मुक्त होकर कृतसंकल्प पढ़ना अच्छा लगने लगा। यह मिली-जुली रचनाओं की पत्रिका थी। कहानी, लेख, कविताओं के अलावा पत्रिका में प्रकाशित परिचर्चाएँ पढ़ने में ज्यादा आनन्द आता था। हर बार कुछ ऐसे रोचक एवं ज्वलन्त विषयों, परिचर्चाएँ प्रकाशित होती थीं। जिसमें नवयुवकों के विचार आदि पढ़कर एक विषय को अलग-अलग ढंग से समझने का तरीका भी सीखा जा सकता था। पत्र-मित्र स्तम्भ में पता छप जाने के कारण देश के कोने-कोने से पत्र आते थे। मुझ जैसे अनेक लोग थे जो इस तरह एक-दूसरे से जुड़कर वैचारिक आदान-प्रदान कर रहे थे। इसके अलावा किसी विषय पर लेख भी आमन्त्रित किये जाते थे। माह के श्रेष्ठ पत्र को पुरस्कृत किया जाता था। इसके सम्पादक वाल्टर भेंगरा 'तरुण' थे। यह देखकर अच्छा लगा। एकाध-दो बार पत्र भी लिखा। कुछ पत्र छपे, कुछ नहीं, लेकिन एक पत्र पर तो प्रतिक्रियाओं का सिलसिला ही कुछ लम्बा चल गया था। उस समय 'कृतसंकल्प' में प्रकाशित हो रहे अधिकांश लोग किशोरवय की छाया से निकलते युवा थे। उनमें आज कई लोग हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध नाम हैं जिनमें सुमन सरीन, अनामिका, जितेन्द्र कुमार, पद्मसम्भव, निवासचन्द्र ठाकुर आदि के नाम सहज ही लिये जा सकते हैं। इसके अलावा और भी कई लेखक, कवि, पत्रकार, प्राध्यापक आदि अपने लेखन के आरम्भिक दिनों में कृतसंकल्प से जुड़े थे, वहाँ प्रकाशित हो रहे थे।

आज भी अधिकांश पत्रिकाएँ नवोदितों को नहीं छापती हैं। ऐसे में नवोदितों को 'कृतसंकल्प' पत्रिका के माध्यम से वाल्टर दा ने उन्हें न केवल छापा बल्कि जिनमें थोड़ी भी सम्भावना देखी उन्हें व्यक्तिगत पत्र लिखकर प्रेरित, प्रोत्साहित करते रहे। देश-भर के युवाओं के कविताएँ, कहानियाँ, लेख आदि तब कृतसंकल्प में छपते थे। 1972 से 1980 तक लगातार प्रकाशित 'कृतसंकल्प' ने अविभाजित बिहार के नवोदितों को छपने का मौका दिया और उनका मनोबल बढ़ाया।

'कृतसंकल्प' प्रबन्धन द्वारा इसे बन्द करने के निर्णय के बाद वाल्टर दा राँची से 'जगज्योति' प्रकाशित करते रहे। तब तक उनके एक उपन्यास एवं दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। बेरोजगारों के लिए लिखी किताब 'रोजगार के अवसर' युवाओं

जहाँ ठहरे थे वहाँ का पता लिया और कहा कि कल तुम लोगों से दस बजे के आस-पास मिलता हूँ। हम विदा हुए। दूसरे दिन सबेरे से उनका इन्तजार कर रहा था। कभी सोचता था इतने बड़े लेखक क्या पता उन्हें फुर्सत मिले न मिले। और फिर एक पत्रिका पहुँचाने के लिए वे आयेंगे क्यों? कई तरह की शंकाएँ मन में रह-रह कर उठ रही थीं।

दूसरे दिन करीब साढ़े दस बजे के आस-पास किसी ने सूचना दी कि कोई डालटनगंज से आये लोगों को ढूँढ़ रहा है। रामेश्वरम् जी पहले बाहर गये फिर एक मित्र ने बताया कि साहनी जी आये हैं तुम्हें पूछ रहे हैं। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। बाहर आया देखा एक फिएट कार के सामने मित्र खड़े हैं। वहाँ गया– देखा साहनी जी और मित्रों से बात कर रहे थे। साथ में शीला जी भी थीं। करीब पहुँचा उन्हें प्रणाम किया। साहनी जी ने कहा कि 'तुम्हारी पत्रिका लेता आया हूँ' और कार की पिछली सीट की ओर से एक पैकेट निकालकर मुझे थमा दिया। यह पैकेट खाकी रंग के मोटे कागज से लिपटा था जिसे चारों ओर से पतले प्लास्टिक के धागे से मजबूती से बाँधा गया था। देखा कि लिफाफे पर मेरा नाम एवं पता लिखा है। सहसा मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि भीष्म साहनी जी ने ही मुझे पत्रिका का पैकेट दिया है। फिर वे देर तक बेहद आत्मीयता एवं सहजता से वहाँ बातचीत करते रहे।

लोटस का वह अंक मित्रों की कृपा से आज मेरे पास नहीं है। किन्तु, उस पत्रिका से तब मुझे कई प्रकार की जानकारियाँ मिली थीं। मेरी जिज्ञासा एवं कई प्रश्नों के उत्तर भी मिले थे जो कि तब डालटनगंज जैसे छोटे शहर में रहकर पाना सम्भव नहीं था। वह मेरे लिए किसी दुर्लभ एवं अप्राप्य ग्रन्थ से कम नहीं था।

इस मुलाकात के बाद भी रुक-रुककर पत्राचार होता रहा। दु:ख है कि इन पत्रों को सँजोकर रख नहीं पाया। आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं तो उनके होने का महत्त्व समझ में आता है। डालटनगंज में मित्र को दिये गये पैकेट और दिल्ली में मुझे दिये गये पैकेट के आधार पर अनुमान लगा सकता हूँ कि जब तक वे जीवित थे तो मुझ जैसे अनेक लोगों को किताबें, पत्रिकाएँ या अन्य प्रकार की जानकारियाँ व्यस्त रहने के बावजूद देते थे। लेकिन, ऐसा क्यों है कि जीवन को, मनुष्य को जोड़े एवं बचाये रखने के लिए महान लोगों द्वारा सृजित ये कड़ियाँ चुपचाप एक महत्त्वपूर्ण काम कर जातीं हैं, जिसका ज्ञान हमें उनके गुजर जाने के बाद होता है!

सन् 2004

वाल्टर दा एवं कृतसंकल्प मासिक और युवा होते लोग

हिन्दी में साहित्यिक पत्रिकाओं की भरमार है। इसी तरह महिलाओं के लिए और कुछ हद तक बच्चों के लिए भी पत्रिकाएँ बाजार में उपलब्ध हैं। लेकिन वय:सन्धि की समस्याओं के समाधान या किशोरों के मार्गदर्शन के लिए आज दिल्ली प्रकाशन की

डॉ. फ्रांसिस एक्का– जैसा मैं जान सका

जब मैं डालटनगंज में कार्यरत था। एक दिन एक परिचित ने मुझे एक पत्रिका दी जिसका नाम था 'घरैया गुईठ'। पत्रिका उलट-पुलटकर देखा। पत्रिका अच्छी लगी। अतः पत्रिका मँगवाने लगा। एक दिन किसी अंक में देखा कि वहाँ डॉ. फ्रांसिस एक्का का पत्र छपा है। पत्र में जिस तरह के विचार व्यक्त किये गये थे वे मेरे लिए बेहद उत्साहवर्द्धक थे। आदिवासी समाज की प्रतिभाओं के सृजनात्मक पक्ष को विकसित करने के बारे में बहुत कम लोग सोच पाते हैं। अतः डॉ. फ्रांसिस एक्का का पत्र घरैया गुईठ में इस तरह के विचार पढ़कर मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने उन्हें बेहद संकोच के साथ पत्र लिखा। पता नहीं पत्र का उत्तर देंगे या नहीं मन में सन्देह था। किसी आदिवासी विद्वान को पत्र लिखने का यह पहला अवसर था। मन शंकाओं से भरा था। वे तब सेंट्रल इंस्टीच्यूट ऑफ इंडियन लैंग्वेजेज, मानसगंगोत्री, मैसूर में डिप्टी डायरेक्टर के पद पर कार्यरत थे। उन्होंने मेरे पत्र का जवाब कुड़ुख में दिया और कुड़ुख में एक खास ध्वनि के लिए इन्होंने अपने आविष्कार के बारे में बताया, जिसे वे अपने पत्रों में प्रयोग करते थे। उनकी लिखावट में विद्वता एवं परिपक्वता दोनों झलकती थी। खैर अब मुझे एक ऐसा आदमी मिल गया था जिसे मैं खुले दिल से पत्र लिख सकता था, प्रश्न पूछ सकता था। अब मैं बीच-बीच में शंका समाधान के लिए कभी पत्र लिखा करता था। लेकिन ये पत्र मैं लगातार नहीं लिखता था। तीन-चार महीनों पर या कभी साल-भर के अन्तराल में। वे प्रायः हर बार मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करते या प्रश्न का उत्तर देते। अगस्त 1981 में मेरा स्थानान्तरण राँची हो चुका था और मैंने डॉ. फ्रांसिस को इसकी सूचना दी। उन्होंने लिखा कि ठीक है कभी राँची आने पर मिलेंगे। और कुछ महीनों बाद वे राँची आये तो बिना मुझे सूचित किये घर आये। तब फोन की इतनी सुविधा नहीं थी। अतः मैं घर पर नहीं था इसलिए उनसे मुलाकात नहीं हो सकी। परन्तु घर पर रविवार को शायद आ सकता हूँ, कह चले गये। और वे सचमुच रविवार को दोपहर में आये। पत्र के माध्यम से हम एक-दूसरे को जानते ही थे, लेकिन आमने-सामने बैठकर बातें करना का आनन्द कुछ और ही था। हम देर तक बात करते रहे आदिवासी भाषा-संस्कृति से लेकर इतिहास तक। फिर वे वापस मैसूर चले गये। लेकिन बीच-बीच में पत्र से विचारों, जानकारियों का आदान-प्रदान होता रहा। वे कुड़ुख भाषा के अलावा अन्य आदिवासी भाषाओं के विकास की भी बात करते थे और ऐसे युवाओं की तलाश में थे जो आदिवासी भाषाओं के विकास में गम्भीरतापूर्वक कार्य कर सकें। कुछ कार्यों के लिए छुट्टी लेकर भारतीय भाषा संस्थान में आने के बारे में भी उन्होंने मुझे प्रस्ताव दिया था। लेकिन मेरे लिए ऐसा सम्भव नहीं था। अतः मैं उनके लिए ऐसा कोई सहयोग कर नहीं सका। इसका दुःख है। बाद में उन्हें डॉ. नारायण उराँव सैन्दा जैसे प्रतिभाशाली लोग मिल गये, जिन्होंने कुड़ुख के विकास के लिए नवोन्मेष (इन्नोवेटिव) कार्य किया और कुड़ुख भाषा के लिए तोलोंग लिपि का आविष्कार किया।

के बीच काफी लोकप्रिय हुई। इसके अलावा चार अनूदित किताबें प्रकाशित थीं। बाइबल की कथाओं पर आधारित चित्रकथा के लिए भी उन्होंने कार्य किया। फिर दूरदर्शन द्वारा संवाददाताओं के पहले बैच में वे चुने गये। इस बैच में चुने गये वे अकेले ऐसे संवाददाता थे, जो आदिवासी समुदाय से थे। दूरदर्शन संवाददाता के रूप में वे राँची एवं जयपुर केन्द्रों में कार्यरत रहे। राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा के साथ विदेश यात्रा पर गये और यूनान, यूक्रेन, बहरीन, इंग्लैंड, हंगरी, तुर्की आदि देशों से दूरदर्शन के लिए रिपोर्टिंग की। इस बीच उन्होंने अपना लेखन कार्य जारी रखा। दूरदर्शन से सेवानिवृत्ति के बाद वाल्टर दा आज 'सन्त जेवियर कॉलेज, राँची' के 'मास कम्युनिकेशन विभाग' के 'अध्यक्ष' के रूप में कार्यरत हैं। उनकी अब तक लगभग दर्जन-भर किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। आजकल क्या लिख रहे हैं पूछने पर उन्होंने बताया कि– 'डॉ. रामदयाल मुंडा से जब भी मुलाकात होती थी वे मुझे हमेशा पूछते थे कि मुंडारी में कहानी किताब कब प्रकाशित हो रही है?' इसलिए आजकल वे अपनी कुछ कहानियों के मुंडारी अनुवाद करने में जुटे हैं। इसके अलावा वे एक उपन्यास पूरा करने की तैयारी में हैं। भविष्य में क्या करना है? पूछने पर उन्होंने कहा– 'अपने घर खूँटी जाकर कुछ और लिखना है।' जब वाल्टर दा ने पत्रकारिता को पेशे के रूप में अपनाने का फैसला लिया था तो निश्चय ही तब यह दुस्साहस था। लेकिन उन्होंने यह साहस किया और आदिवासी पृष्ठभूमि से निकले सम्भवतः वे पहले ऐसे लेखक, पत्रकार हैं जिन्होंने अनेक विपरीत परिस्थितियों को झेलने के बावजूद जीविका के लिए आजीवन अपनी इसी योग्यता पर भरोसा किया।

2013 प्रभात खबर में प्रकाशित

तो एक मित्र के द्वारा पता चला कि वे नहीं रहे। यह खबर सुन लगा मैं एक मार्गदर्शक अभिभावक खो दिया हूँ। उनका असमय हमसे बिछड़ना न केवल मुझे बल्कि पूरे समाज के लिए एक बड़े सामाजिक एवं बौद्धिक सदमे से कम नहीं।

सन् 2007

प्रभाष जोशी और जनसत्ता का तेरहवां पाठक

जहाँ तक मुझे याद पड़ता है वह 17 अकतूबर 1983 का दिन था। शाम को दफ्तर से घर लौट रहा था और अपने मित्र के दूकान से पत्रिका ले रहा था। अखबार पलटते देखा कि वहाँ एक अखबार है जनसत्ता। अखबार उठाकर देखने लगा। मित्र ने कहा– आज ही आया है, नया है। मेरे लिए इतना जानना काफी था। अखबार लेकर घर आया और अखबार पढ़ने लगा। इंडियन एक्सप्रेस समूह से हिन्दी अखबार प्रकाशित हो रहा था– एक आकर्षण यह था दूसरा– अखबार में समाचारों की प्रस्तुति। अखबार की विशिष्टता यह लगी कि– सम्पादक का पाठकों को संबोधन, चौपाल (पाठकों के पत्र) के अन्तर्गत था। जहाँ प्रभाष जोशी का हस्ताक्षर भी था। प्राय: देखा जाता है कि सम्पादक किसी अखबार के नये संस्करण पर पहले पृष्ठ पर अपनी बात कह रहे होते हैं। मैंने पहली और शायद अन्तिम बार यह प्रयोग देखा। यूँ तो कई अखबारों के पहले संस्करण में पाठकों को सम्पादक का सम्बोधन सम्बन्धी सामग्री मैं सँजोकर रखता हूँ। इसलिए चौपाल के अन्तर्गत पाठकों को सम्बोधित प्रभाष जोशी का पत्र मेरे पास अब भी सुरक्षित है। वह पत्र पढ़कर पहली बार लगा कि हाँ, यह सम्पादक कुछ नया करने के लिए अखबार को उचित तरीके से पेश कर रहा है। एक दो अंक देखने के बाद सम्पादक को पत्र लिखा। पत्र छपा भी। इसके बाद आज तक अपने शहर रांची छोड़े चौबीस वर्ष से अधिक हो गए और नौकरी करते छत्तीसगढ़ (अविभाजित म.प्र.), बंगाल, उड़ीसा और अब नॉर्थ-ईस्ट में गुवाहाटी में हूँ– जनसत्ता पढ़ता रहा हूँ। हाँ, नये शहर में अखबार पाने में तकलीफ जरूर हुई। लेकिन महीने दो महीने के बाद खोज निकालता रहा कि जनसत्ता कहाँ मिलेगा। पिछले वर्ष दिसंबर महीने में, गुवाहाटी में जब जनसत्ता देने के लिए पेपरवाला राजी हुआ तो पहले दिन अखबार देते उसने बताया कि मैं गुवाहाटी में जनसत्ता लेनेवाला तेरहवां आदमी हूँ। यह तेरह अंक मेरे लिए फलदायी नहीं रहा है। लेकिन, मन को समझाया इतना अंधविश्वास ठीक नहीं। अब छह नवंबर 2009 को जबसे मित्र मेघनाथ ने खबर दी कि प्रभाष जोशी नहीं रहे तब से लगता है सचमुच तेरह का अंक मेरे लिए शुभ नहीं है।

स्वयं को न लेखक मानता हूँ न पत्रकार। हालाँकि कुछ लेख, कविताएँ जरूर प्रकाशित हुईं हैं और होती रहतीं हैं। इस तरह लेखक या कवि कहलाया जा सकता है लेकिन मैं खुद को लेखक या कवि कम और हिन्दी का थोड़ा जागरूक पाठक ज्यादा

एक बार वे राँची किसी सम्मेलन में आये जिसमें अनेकता में एकता पर विचार-विमर्श करना था। उन्होंने बताया कि अनेकता में एकता का व्यावहारिक पक्ष उनके घर से ही शुरू होता है। और वे घर के परिवार के सदस्यों से हिन्दी, अँग्रेजी, कुड़ुख, तेलुगु एवं कन्नड़ में बातें करते हैं। वे सही अर्थों में भाषाविद् थे। जब राँची विश्वविद्यालय में क्षेत्रीय एवं जनजातीय भाषा विभाग खुल रहा था तो वे भी प्रस्तावित उम्मीदवारों में एक में थे। लेकिन, शायद वे इस पद के लिए ज्यादा उत्सुक नहीं थे।

वे उन आत्मकेन्द्रित एवं अन्तर्मुखी ईसाई बुद्धिजीवियों से बहुत अलग किस्म के विद्वान थे। यही कारण है कि वे समाज के हर तबके से जुड़े रहे। मिशनरियों से अलग रहकर भी बहुत कुछ करने को है, यह वे बहुत अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने एक बार मुझसे कहा भी था– 'आदिवासियों की एक बड़ी कमजोरी यह कि हम कुछ पाने के लिए या तो ईसाई मिशनरियों की ओर देखते हैं या सरकार की ओर। हम जब तक इससे अलग रास्ता नहीं अपनायेंगे हमारी समग्र उन्नति सम्भव नहीं।' यह काफी हद तक सच है। अलावा इसके प्राय: देखा जाता है कि ऊँचे ओहदे में पहुँचा आदिवासी अधिकारी अपनी जमीनी सच्चाइयों एवं समाज से दूर होता चला जाता है और अपने समकक्ष या ऊँचे लोगों से ही मतलब रखता है। लेकिन ये डॉ. एक्का साहब अपने आदिवासी समाज से हमेशा जुड़े रहे, ऐसा मुझे लगता है। उनकी भाषिक, सामाजिक, आर्थिक एवं संवैधानिक समस्याओं पर चर्चा करने से नहीं हिचकते थे। उन्हें आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के जड़ी-बूटियों की भी जानकारी थी। वे आदिवासियों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले बहुत सारे औषधियों के गुणों के बारे में बताते थे जिन्हें कि आयुर्वेदिक दवाओं के लिए प्रयोग किया जाता है। वे अपनी गँवई एवं आदिवासी कही जाने वाली कई परम्पराओं पर गर्व करते थे, चाहे वह आदिवासियों की खाने की आदत हो या नाच-गान या अभिवादन आदि की परम्परा। वे सभी में पुरखों की वैज्ञानिकता को तलाश लेते थे। आज जबकि हममें से अधिकांश अपनी परम्पराओं को पिछड़ा एवं अप्रासंगिक मानते हैं, ऐसे में हमें डॉ. फ्रांसिस एक्का के व्याख्याओं की सख्त जरूरत थी। वे अनेक विषयों, मामलों में खुद को अपडेट रखते थे और मैसूर में रहकर भी राँची, जयपुर, रायपुर, भोपाल, कोलकाता, दिल्ली, सिलीगुड़ी के अलावा विश्व-भर के आदिवासी समाज के बारे में भी जानकारी रखने का प्रयास करते थे। उनकी विभिन्न सामाजिक समस्याओं के बारे में जानने का प्रयास करते और तत्सम्बन्धी विवरण या जानकारी भी एकत्रित करते थे।

ऐसा लगता है वे भाषाविज्ञान को लेकर काफी महत्त्वाकांक्षी थे और उन्होंने इसे अपने जीवन में भी उतार लिया था। सम्भवत: भाषाविज्ञानी होने का यह तीव्र आग्रह ही रहा होगा जिसने उन्हें दक्षिण भारतीय से विवाह करने के लिए प्रेरित किया।

शहडोल में रहने तक उनसे पत्राचार हुआ। फिर कोलकाता आया तो उन्हें पत्र लिखा कि अब मैं कोलकाता में हूँ। पत्र का इन्तजार करता रहा। फिर पत्र लिखा तब भी पत्र नहीं आया। मुझे लगा वे अध्ययन हेतु कहीं बाहर गये हैं। कुछ दिनों बाद राँची गया

रामशरण जोशी की किताब 'आदमी बैल और सपने' के बारे पढ़ा था। पूरे एक पृष्ठ की सामग्री। पुस्तक पढ़ने की इच्छा रहने के बावजूद इसे जुगाड़ नहीं पाया था। चूँकि मैं महाश्वेता देवी के साथ पलामू में बंधुआ मजदूरों के बीच कुछ कार्य कर चुका था इसलिए देश के अन्य भागों के बंधुआ मजदूरों के बारे जानने की इच्छा होती रहती थी। करीब दस बारह साल बाद उस पुस्तक को अंबिकापुर में खरीद सका। जिस समय यह किताब खरीदा था मैं मानसिक रूप से त्रस्त था और कुछ परेशानियों एवं अपमानों को सहन नहीं कर पा रहा था। कुछ इस हालत में पहुँच चुका था कि आत्महत्या के बारे सोचने लगा था। उस दिन मुझे अम्बिकापुर से शहडोल जाना था। अम्बिकापुर के निकटतम रेलवे स्टेशन विश्रामपूर से अनुपपुर तक के लिए टिकट लिया और ट्रेन में किताब पढ़ना शुरू किया। ट्रेन के कुछ घंटे लेट होने के कारण 'आदमी बैल और सपने' को पढ़ने का अतिरिक्त समय मिल गया और शहडोल पहुँचने तक कुछ पन्ने ही शेष रह गये थे। लेकिन इन दस बारह घंटों ने तब मानसिक रूप से मेरा कायाकल्प कर दिया। क्योंकि उस किताब को पढ़ने के बाद मुझमें एक ऐसी शक्ति आ चुकी थी कि मैं उन अपमानों एवं परेशानियों से लड़ सकता था, जूझ सकता था। बंधुआ मजदूरों की संघर्ष–गाथाओं ने मुझे सम्बल दिया। लगा वे निरक्षर होकर अपनी लड़ाई लड़ सकते हैं तो मैं साक्षर होकर क्यों नहीं? इसकी चर्चा पिछले वर्ष भुवनेश्वर में एक गोष्ठी में करने का अवसर मिला जहाँ चमनलाल, शंभुनाथ, बजरंग सिंह तिवारी, श्रीधरम मंच पर उपस्थित थे। इस कार्यक्रम के करीब दस पंद्रह दिनों बाद एक दिन श्रीधरम जी का फोन आया, हाल चाल पूछने के बाद उन्होंने कहा– लीजिये बाते कीजिये। दूसरी तरफ रामशरण जोशी जी थे। उन्होंने कहा–'आपने ने तो मेरा किताब लिखना सार्थक कर दिया'। मैं क्या कहता? मैं तो उस किताब से जीने का बेहतर तरीका सीख लिया था। किताबों के अपने आदिवासी अनुभवों के बारे उन्हें बता रहा था। निश्चय ही तब के दैनिक अखबार बंधुआ मजदूरों या इस तरह आदिवासी क्षेत्रों की समस्याओं के बारे बहुत कम कहा जाता था और सच तो यह है कि इसमें आज भी बहुत अन्तर नहीं आया है। हाँ, अब हमारे कुछ सम्पादक एवं कुछ बुद्धिजीवी इस तरह के विषयों पर कुछ लिखने एवं प्रकाशित करने के लिए थोड़ा उदार और संवेदनशील जरूर हो गए हैं। यह बात मैं पहले भी कह चुका हूँ और आज पुनः दुहरा रहा हूँ। लेकिन आदिवासियों को देखने की सभ्य समाज के दृष्टिकोण में बहुत ज्यादा फर्क नहीं आया है यह काम महाश्वेता देवी, मेधा पाटकर, वीर भारत तलवार, रामशरण जोशी, बी.डी. शर्मा, (स्व.) कुमार सुरेश सिंह, रमणिका गुप्ता, रामचन्द्र गुहा, अरुधन्ती राय आदि जैसे कुछ गिने चुने लोगों के लिए ही छोड़ दिया गया है। हालाँकि उक्त सभी लेखकों विद्वानों के लेखन कार्यों से सहमत नहीं हूँ। वैसे अधिकांश लोग आदिवासियों की छोटी सी छोटी चीख और कराह को भी उग्रवाद और नक्सली आन्दोलन का विस्फोट मानते हैं या ऐसा मानने का उपक्रम करते हैं। मुख्यधारा का मीडिया तो कम से कम यही स्थापित करता है।

ऐसे भी स्वयं प्रभाष जोशी ने आदिवासियों पर बहुत लिखा हो याद नहीं पड़ता

मानता हूँ। लेकिन जबसे हिन्दी में पत्र पत्रिकाओं की संख्या में भारी वृद्धि हुई है और मुझे लगातार अहिन्दी प्रदेशों में रहना पड़ा है, यह कह पाने में संकोच करने लगा हूँ। फिलहाल प्रभाष जोशी एवं हिन्दी पत्रकारिता की बात करते हैं। यह निर्विवाद माना जा सकता है कि जनसत्ता के माध्यम से प्रभाष जोशी ने हिन्दी पत्रकारिता को जो ऊँचाई दी वह अद्‌भुत है। उस समय जनसत्ता का प्रथम पृष्ठ से खेल के पृष्ठ पढ़ने तक में अच्छी जानकारी एवं विवरण मिल जाया करते थे। क्रिकेट के अलावा हॉकी, फुटबॉल, टेनिस के बारे में राष्ट्रीय अन्तर्राष्टीय प्रतियोगिताओं के विवरण उपलब्ध होते थे। लगभग हर दिन एक पृष्ठ किसी विशेष विषय पर आधारित होता था और सम्पादकीय पृष्ठ के सामने का पन्ना इसके लिए निर्धारित रहता था। जिसमें नियमित विषयों के अलावा कला, संगीत, सिनेमा आदि पर भी लेख आदि प्रकाशित होते थे। शास्त्रीय संगीत पर अब भी सामग्री प्रकाशित होती है लेकिन तब की बात ही और थी। विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित रिपोर्टों में अखबार का सबसे बड़ा आकर्षण यह था कि– वहाँ प्राय: छोटानागपुर संथालपरगना, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल के आदिवासी क्षेत्रों की समस्याओं के अलावा आंध्र प्रदेश तमिलनाडु या महाराष्ट्र, गुजरात के अलावा नॉर्थ ईस्ट के बारे भी बारे ऐसे लेख या रिपोर्ट या अन्य प्रकार की सामग्री मिल जाती थी जो किसी अन्य अखबारों में नहीं मिलतीं थीं। इस तरह हिन्दी के माध्यम से भारत को कुछ हद तक देखने समझने की सकने की जानकारी मिल जाया करती थी। मराठी आदिवासी कवि (स्व.) भुजंग मेश्राम की कविता पहली बार जनसत्ता में पढ़ा था और बाद में साहित्य अकादमी और रमणिका फाइउण्डेशन द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में उनसे मुलाकात हुई। हमारे यहाँ साहित्य को समाज का दर्पण कहने की परम्परा है। साहित्य और पत्रकारिता के अपने तकनीकी अन्तर हो सकते हैं। लेकिन पत्रकारिता इस साहित्य का एक हिस्सा है इसलिए उस दर्पण में अपनी तस्वीर न देख पाने का दुख मुझे सालता रहता था। मैं हमेशा सोचता था– यह कैसा दर्पण है जहाँ हमारे चेहरे कालिख पुते और धुँधले, क्यों हैं? सोचता था इस प्रजातांत्रिक कहे जानेवाले देश में हमारी बात कोई कहता और सुनता भी है! निश्चय ही कहा जा सकता है कि जनसत्ता के माध्यम से ऐसे उपेक्षित, वंचित, उत्पीड़ित समुदायों और क्षेत्रों की खबरें कुछ संवेदनशीलता लिए, प्रकाशित होती रहीं जबकि अन्य हिन्दी अखबारों में कामचलाऊ तरीके से प्रकाशित होती थीं और अब भी यही रिवाज कायम है। अधिकांश मामलों में ऐसी खबरे जनसत्ता के रिपोर्टर लिख रहे होते थे। अँग्रेजी में या और अन्य भाषाओं में ऐसी बड़ी बड़ी खबरे प्रकाशित होती थी। लेकिन हिन्दी अखबारों में उसके बारे बहुत कम प्रकाशित होता था। जनसत्ता में प्राय: ऐसे दुर्गम क्षेत्रों या अनछुये समस्याओं पर विस्तृत रिपोर्टें प्रकाशित होती रहती थी। विभिन्न पुस्तकों की विस्तृत जानकारी एवं विवरण तब के जनसत्ता में नियमित रूप से प्रकाशित होते थे और अब भी होते हैं। विशेषत: रविवार के अंक में। कई बार ऐसी किताबों की चर्चा की जाती थी जिसके बारे दूसरे दैनिक अखबारों को हिचकिचाहट होती थी और लगता है अब भी होती है। जैसे यहीं बंधुआ मजदूरों पर

उसका पथप्रदर्शक जैसा कुछ बनकर उसे राह दिखाता जाता है। ऐसा लगता है कि जनसत्ता के माध्यम से विशेषत: सम्पादकीय पृष्ठ एवं रविवारी अंक ने कुछ सोचने समझने लायक ऊर्जा निरंतर देता रहा। फिर भी मैं अन्य पत्र पत्रिकाएँ पढ़ता रहता था क्योंकि ऐसा लगता है कई विशेषताओं के बावजूद जनसत्ता से ही हर कुछ पाने की इच्छा रखना जनसत्ता पर ज्यादती होती। हाँ, यह कुछ आधुनिक विषयों के समावेश के बारे संजीदा होता तो यह अखबार पूर्ण होने की दिशा में बेहतर पहल कर सकता था। जैसे जनसत्ता कृषि से सम्बन्धित समाचार तो प्रकाशित किया लेकिन फसल की बेहतरी के लिए बीज या तकनीक के बारे बहुत कम जानकारी दी है। प्राचीन भारत में कृषि से सम्बन्धित तकनीक की जानकारी देनेवाले लेख छापे लेकिन आधुनिक सन्दर्भ में कृषि तकनीक की उपलब्धियों की जानकारी देने में अन्य हिन्दी अखबारो की तरह ही यह कंजूस रवैया बनाये रखा। किसानों की फसल को बेहतरी सम्बन्धी कार्य को सरकारी प्रचारतन्त्र के लिए ही रख छोड़ा। इस तरह ग्रामीण कृषक-मध्यवर्ग को जनसत्ता अपना अभिन्न, आत्मीय और अन्तरंग बना नहीं सका इसका एहसास तब और अधिक तीव्रता से हुआ जब ओड़िया अखबारों में और अब असमिया अखबारों में ऐसी सामग्री देखी। जनसत्ता के बहाने हिन्दी अखबारों से एक ही प्रश्न था और अब भी है कि जब 'दि हिन्दू' जैसा अँग्रेजी अखबार अपने पाठकों को कृषि की जानकारी हर हफ्ते दे सकता है तो कृषि प्रधान कहे जानेवाले इलाके के पाठकों के लिए ऐसी जानकारी कॉलम क्यों नहीं? यह तब यानी 15-20 साल पहले यह सवाल कचोटता था और अब भी कचोटता है। जब देखता हूँ कि यह अखबार बंधुआ मजदूरों की संघर्ष गाथाओं के बारे कहता तो है लेकिन, किसानों के तकनीकी-ज्ञान को बढ़ाने में कोई गम्भीर योगदान देना नहीं चाहता तो दुख होता है। इसी तरह हिन्दी अखबारों में दलित, आदिवासी या अन्य कमजोर वर्गों से सम्बन्धित संवैधानिक सुधारों या कानूनों आदि के बारे विवरण अँग्रेजी की तुलना में हिन्दी में कम प्रकाशित किये जाते हैं। इस मामले में जनसत्ता ने थोड़ा-सा बेहतर कार्य जरूर किया है। वैसे यह माना जाता है कि हिन्दी के साक्षर मध्यवर्ग को किसान या कमजोर वर्गों के बारे पढ़ने में रुचि या उत्साह नहीं है। लेकिन प्रभाष जोशी के समय में जनसत्ता में 'खास खबर' एवं 'खोज खबर' लोकप्रिय स्तम्भ थे जो जनपक्षधरता पत्रकारिता के बेहतर नमूने थे। माना जाता है कि कमजोर वर्ग अखबार पढ़ता ही नहीं है। यह कुछ साल पहले तक ठीक हो सकता था। लेकिन आज निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह स्थिति नहीं है। हिन्दी अखबारों के कई-कई स्थानीय संस्करण इसके गवाह हैं। आर्थिक जगत की खबरों एवं विश्लेषणों को भी हिन्दी अखबारों में कामचलाऊ ढंग से प्रकाशित किया जाता रहा है। कभी कभी ऐसा लगता है अधिकांश हिन्दी अखबार बड़े भाई होने के अहंकार से ग्रसित हैं। कभी कभी जनसत्ता भी इससे ग्रसित लगता है। इसलिए समयानुकूल स्वयं को परिवर्त्तित करने में उसे कठिनाई होती है। वैसे अखबार अच्छे कार्य भी करते हैं जैसे मैं प्रभात खबर, रांची द्वारा प्रति माह प्रकाशित कम्प्यूटर सम्बन्धी आरम्भिक दिनों में इसके कम्प्यूटर सम्बन्धी अंक

और यदि लिखा भी हो तो शायद मैं देख नहीं पाया हूँ, क्योंकि जनसत्ता पढ़ते हुए भी शत प्रतिशत पढ़ने का दावा नहीं कर सकता। वैसे उन्होंने रामदयाल मुण्डा लिखित किताब 'आदि धरम' के लोकार्पण समारोह के बारे 'कागद कारे' में 'शाल के फूल कानों पर' (जनसत्ता 05.04.2009) पूरे दिल से लिखा था। इस लेख को पढ़कर इतना खुश हुआ कि मैंने जौशी से स्वयं बात करने का निश्चय किया और मित्रों की सहायता से उनके घर का नम्बर पाकर उन्हें फोन किया। कुछ मिनट तक उनसे बातचीत की और शाल के फूल कानों पर लिखने के लिए बधाई दी। आभार भी व्यक्त किया और कहा इस तरह के कुछ और लेख वह और लिखे। वैसे इसके पूर्व वे पी. साईनाथ द्वारा, दयामनी बारला को अल्टरनेटिव मीडिया पुरस्कार समारोह के बारे लिख चुके थे। भले जोशी जी ने वंचित, उपेक्षित दलितों आदिवासी लोगों के बारे ज्यादा न लिखा हो लेकिन उन्होंने ऐसे लोगों को या ऐसी समस्याओं के बारे लिखने के लिए जनसत्ता में अवसर जरूर दिया यह बड़ी बात थी। उनमें कई लेखकों, विद्वानों को मैंने पत्र लिखा और उनमें कुछ लोगों से समय-समय पर अब भी बात करता हूँ। प्रसंगवश प्रोफेसर श्यामाचरण दुबे की याद आ रहीं है। उनके द्वारा लिखित 'परम्परा संस्कृति और इतिहासबोध' के बारे सबसे पहले जनसत्ता मे ही पढ़ा। फिर उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'ट्रेडीशन एँड डेवलपमेन्ट' के बारे जानकारी मिली। इस पुस्तक की कीमत तब तीन सौ पचास रुपये थी। मैंने दुबे जी को पत्र लिखा। साथ ही परम्परा संस्कृति और इतिहासबोध में संकलित एक लेख की विशेष रूप से चर्चा करते उन्हे पत्र लिखा। आश्चर्य कि उनके सेक्रेटरी का पत्र मिला कि प्रोफेसर साहब ने अपने प्रकाशक को 'ट्रेडीशन एण्ड डेवलपमेन्ट' पुस्तक की एक कम्पलीमेन्टरी कॉपी मुझे भेजने की हिदायत दी है। उस पत्र के मिलने के तीसरे दिन ही वह पुस्तक मुझे मिल गई। उस दिन लगा था, मुझमें पंख लग गये है और मैं आसमान में उड़ रहा हूँ। फिर कुछ दिनों बाद दुबे जी के हस्ताक्षर का पत्र मिला जिसमें उन्होंने मेरे पत्र के लिए धन्यवाद देते मेरे द्वारा व्यक्त विचारों एवं भावनाओं को जीवन का श्रेष्ठ पुरस्कार बताया था। मैं अब कह नहीं सकता कि मैंने ऐसा क्या लिखा था। फिर मैने कुछ योजनाएँ उनकी पुस्तकों के बारे बनाकर भेजी। जिसके बारे उनके सकारात्मक उत्तर आये। मैं उस पर काम करना आरम्भ किया ही था कि कुछ महीनों बाद दुबे जी के निधन का समाचार जनसत्ता में ही पढ़ा और मेरी वे सारी योजनाएँ धरी की धरी रह गईं। मैं फिर इस बारे फिर किसी से चर्चा तक नहीं कर सका। इस तरह जनसत्ता मेरे जीवन के कुछ सपनों, महत्वकांक्षाओं का साक्षी भी रहा है। मैं यह लिखते हुए इसे अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी कई खुशियों एवं आकांक्षाओं, सपनों का काफी हद तक जनक और पूरक जनसत्ता भी रहा है। किसी अखबार का ऐसा जुड़ाव किसी के जीवन के साथ हो सकता है? खासकर तब, जब वह पाठक ऐसे समुदाय से हो, जहाँ पढ़ाई-लिखाई बेकार मानी जाती हो और यदि गलती से वह कोई ऐसा करना चाहता भी है तो उसे दोनों तरह समाज के इतने अपमान एवं कष्ट झेलने होते हैं कि वह लिखने, पढ़ने, सोचने के बारे कुछ करना ही बन्द कर देता है, तब जनसत्ता

डॉ. कामिल बुल्के बेलजियम से रांची *वाया* कार्सियांग एवं इलाहाबाद

हर महान व्यक्तियों के बनने की एक अलग कहानी होती है। कौन कहाँ से कहाँ जायगा और कब क्या कर लेगा कहना मुश्किल है। फादर कामिल बुल्के के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ था। एक फ्लेमिश भाषी बेलजियन– हिन्दी सेवी ऐसा एक विद्वान बन जाता है कि उनकी तुलना किसी से करना कठिन हो जाता है। सच कहा जाय तो यह कि महान लोग सचमुच अतुलनीय ही होते हैं। महानता की शायद यही परिभाषा है। वरना ऐसे कैसे सम्भव है कि महान लोगों की तुलना हम किसी और महान व्यक्ति से करें। एक फ्लेमिश भाषी, बेलजियम निवासी संन्यासी भारत आता है ईसाई धर्म का प्रचार करने किन्तु परिस्थितियाँ उसे तुलसी भक्त एवं हिन्दी का विद्वान बना देती है।

डॉ. कामिल बुल्के के जीवन के बारे हम जानना चाहेंगे तो पता चलता है कि कामिल बुल्के ने आरम्भ में इंजीनियरिंग की तथा चिकित्सा शास्त्र की भी विधिवत पढ़ाई की थी। साथ ही वे लूवेन विश्वविद्यालय से इंजीनियरिंग की पढ़ाई करते हुए फ्लेमिश भाषा आन्दोलन के अग्रणी छात्र नेताओं में से एक थे। उन्होंने तीव्रता से अनुभव किया था कि किस तरह फ्रेंच भाषी, फ्लेमिश भाषियों से घृणा करते थे। शायद यही वह अनुभव था कि जब वे भारत आए तो इन्होंने देश के सर्वाधिक लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा हिन्दी को सीखने का प्रण किया। आरम्भ में वे कुछ दिनों के लिए रांची रहे। फिर वहाँ से उन्हें जेसुइट अधिकारियों ने दार्जिलिंग के संत जौसेफ कॉलेज में भौतिकी एवं रसायन विज्ञान पढ़ाने के लिए भेज दिया। किन्तु, कामिल बुल्के को वहाँ का मौसम सम्भवत: रास नहीं आया और वे बीमार हो गए। फलत: उन्हें वापस रांची भेज दिया गया।

यह देखकर उन्हें भारी दुख हुआ कि भारत के अधिकांश लोग एक विदेशी भाषा के मोह में फँसे हैं और जनभाषाओं की घोर उपेक्षा की जा रही है। उन्हें अपनी मातृभूमि की दशा याद आई। उन्हें यह स्थिति बेहद पीड़ाजनक लगी। उन्होंने हिन्दी सीखने का संकल्प ले लिया था इसी कारण जब वे गुमला के स्कूल में गणित पढ़ाने के लिए नियुक्त किए गए तो उन्होंने वहाँ के हिन्दी कक्षाओं में छात्रों के साथ बैठकर हिन्दी सीखी। फिर वे हजारीबाग गए जहाँ वे पंडित बदरीदत्त शास्त्री से हिन्दी सीखी। कुछ ही महीनों बाद उनकी मेहनत रंग लाई और उन्हें हिन्दी का चलता फिरता शब्दकोष कहा जाने लगा। किन्तु, कामिल बुल्के को अभी काफी कुछ सीखना, पढ़ना था। अत: उन्हें धर्मशिक्षा का अध्ययन करने के लिए तब के एकमात्र जेसुइट अध्ययन केन्द्र कार्सियांग भेज दिया गया। यहाँ कामिल बुल्के चार वर्षों तक अध्ययनरत रहे। यहाँ अध्ययन करते कामिल बुल्के ने कुछ किताबें लिखीं। कामिल बुल्के द्वारा लिखित एक किताब मुक्तिदाता के कई संस्करण प्रकाशित हुए। उन्होंने हिन्दी का काफी ज्ञान अर्जित कर लिया था और अब बचे समय में वे संस्कृत का भी अध्ययन करने लगे। कार्सियांग में रहते हुए ही उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। इसी बीच

पढ़कर अंक पढ़कर कई लोग कम्प्यूटर के बारे अपने काम लायक जानकारी प्राप्त कर सके। इसी तरह इस अखबार ने गुडन्यूज स्तम्भ के अन्तर्गत समाज में निजी प्रयास अच्छे कार्य करनेवालों के योगदान के बारे कई आलेख छापकर उन्हें प्रोत्साहित किया। दक्षिण के कुछ अखबारों ने कृषि एवं लघु उद्योग एवं अन्य कारोबार आदि से सम्बन्धित जानकारी प्रकाशित कर अपने राज्य के विकास हेतु वातावरण एवं जागरूकता पैदा करने में भूमिका निभाने की कोशिश जरूर की है– विशेषत: आंध्र प्रदेश। लेकिन, सबसे दुखद स्थिति यह कि हम हिन्दी प्रदेशों में सफाई, स्वच्छता एवं अच्छी पढ़ाई–लिखाई के लिए भी कोई जागरूकता एवं वातावरण बना नहीं सके। यह काम आपसी सहयोग से संचालित स्वयं सेवी संस्थाओं, समूहों के अनुकूल माहौल तैयार करने में ज्यादा सफल नहीं हो पाये हैं जबकि हम ऐसा कर सकते थे और अब भी कर सकते हैं। प्रभाष जोशी को याद करते पत्रकारिता के क्षेत्र में सामाजिक सरोकारों से जुड़े मुद्दों पर बात करना एवं कार्य करना प्रासंगिक लगता है। हिन्दी इलाके में इसके लिए सम्भावनाओं का असीम आसमान अब भी अनछुआ और अनंत है। अन्याय के खिलाफ प्रतिरोध तो होना चाहिए लेकिन इस मामले में दलित, आदिवासी या अन्य कमजोर पक्षों से जुड़ी खबरों को खानापूर्ति के लिए भर छापना या कई बार नहीं छापना अखबार की जनपक्षधरता पर सवाल खड़े करते हैं। इसे ध्यान में रखना होगा कि जनपक्षधरता जैसे शब्द की पवित्रता देश के हर तबके लिए बनी रहे।

प्रभाष जोशी को तभी सच्ची श्रद्धांजलि दे सकते हैं जब हम, प्रभाष जोशी द्वारा स्थापित मूल्यों से आगे की पत्रकारिता को अंजाम दें। हिन्दी पत्रकारिता अपनी कमियों, कमजोरियों को दूर करने का सार्थक, सजग ईमानदार प्रयास करे, साथ ही सभी प्रकार के उपेक्षितों, वंचितों एवं कमजोर लोगों, आदिवासियों, दलितों, महिलाओं आदि की सार्थक आवाज बने। ऐसा इसलिए कहना पड़ रहा है क्योंकि हाल ही में अश्विनी कुमार पंकज ने अपने एक लेख में प्रश्न खड़ा किया है कि– प्रेमचन्द की परम्परा में आदिवासी कहाँ हैं? आदिवासी बुद्धिजीवी हमेशा पूछता रहा है हिन्दी या भारतीय पत्रकारिता में वह कहाँ हैं? यह सवाल इसलिए भी पूछना जरूरी है क्योंकि प्राय: हर अखबार अपने पहले दिन यानी प्रवेशांक के सम्पादकीय में यह लिखना या बताना नहीं भूलता कि वह कमजोरों को आवाज देगा, प्रजातन्त्र का पहरेदार बनेगा। लेकिन बाद में इसे भूलते या इसके विपरीत ही कार्य करते नजर आते हैं। प्रभाष जोशी के सम्पादकत्व में प्रकाशित जनसत्ता ने वंचितों, उपेक्षितों की नियमित खबर दी थी। यदि हम प्रभाष जोशी को हिन्दी पत्रकारिता का शिखर पुरुष, अपना आदर्श या गुरू मानते हैं तो आगे भी इस परम्परा को पुख्ता और ऊर्जावान बनाए रखने और इसमें निरंतर नया आयाम जोड़ने के लिए प्रयत्नशील रहना, हम सबका कर्त्तव्य है।

2012

वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद और बेलजियन रॉयल अकादमी के सम्मानित सदस्य भी रहे। उनकी हिन्दी सेवाओं के लिए उन्हें 26 जनवरी 1974 को महामहिम राष्ट्रपति जी पद्मभूषण से अलंकृत किया। तब मैं रांची संत जेवियर कॉलेज का छात्र था और हमलोगों ने उनके सम्मान में मोहन राकेश का नाटक आधे-अधूरे खेला था। कामिल बुल्के ने हम सभी के प्रयास की सराहना की थी और कहा था— यह नाटक मैंने कई जगह देखे हैं किन्तु तुमलोगों ने जिस तरह नाटक की आत्मा को जीवित कर दिखाया वह अद्‌भुत है। मुझे यह पता नहीं कि हमने नाटक की आत्मा को किस हद तक जीवित किया था लेकिन आज मैं कह सकता हूँ कि हमलोगों ने यह नाटक कॉलेज में मंचित कर एक नया इतिहास रचा था— वह यह कि इस नाटक के पहले कॉलेज में छात्र छात्राएँ एक साथ नाटक नहीं खेलते थे और हमारी टीम ने यह परम्परा तोड़ दी थी। आज यह जानकर और यादकर अच्छा लगता है कि कई बार परम्पराओं को तोड़ना जीवन, दुनिया, राष्ट्र, समाज के विकास के आवश्यक होते हैं। कामिल बुल्के ने भी एक परम्परा तोड़ी थी और हमने भी।

कुछ वर्ष पहले मैं अपने एक बंगाली मित्र के अनुरोध पर जिसने कभी कोलकाता संत जेवियर में अध्ययन किया था उनके गुरू रह चुके एक फादर डेकर से मिलने गया। वहाँ मैंने देखा डॉ. कामिल बुल्के का काफी बड़ा फोटो उनके कमरे में टंगा है। मैंने उनसे बुल्के के बारे में जानना चाहा तो उन्होंने बताया कि बुल्के उनके मित्र थे।

डॉ. कामिल बुल्के आज हमारे बीच नहीं हैं किन्तु रांची में उनके विशाल निजी पुस्तकालय को डॉ. कामिल बुल्के शोध संस्थान के रूप में परिवर्त्तित कर दिया गया है जिसका लाभ कोई भी उठा सकता है। डॉ. कामिल बुल्के आज भी हर भारतीय के लिए, हर हिन्दी प्रेमी के लिए एक प्रेरणा-स्रोत हैं। मार्गदर्शक हैं।

किताब जिसने जीने के लिए नयी दिशा दी

जब मुझे नौकरी के सिलसिले में राँची छोड़कर शहडोल, म.प्र. जाना पड़ा तो कुछ निराश था। इसलिए कि बच्चों की पढ़ाई को बाधा पहुँच रही थी। सेवानिवृत्ति के बाद पिताजी के साथ कुछ सीखने का मिला मौका तो उनसे फिर दूर हो रहा था। दरअसल, पिताजी के भाषा ज्ञान का लाभ लेना चाहता था, क्योंकि झारखंड में बोली जाने वाली हर आदिवासी भाषाओं के अलावा वे बँगला, उड़िया, नेपाली भी अच्छी तरह जानते थे। जब पढ़ाई कर रहा था तो पिताजी बाहर थे, वे रिटायर्ड होकर घर आये तो अब मैं बाहर था। घर, परिवार को लेकर बनायी गयी योजनाएँ, सपने फिर एक बार टूट रहे थे। राँची में युवा दोस्तों के संग शुरू किये गये, सांस्कृतिक गतिविधियों से अलग होना, मन को कचोट रहा था। साढ़े सात साल बाहर रहकर और मात्र ढाई साल राँची रहने का मौका मिला और फिर राँची छोड़ना पड़ रहा था। लेकिन जाना तो था। अनजान लोग, अनजान राहें, अलग प्रदेश। मैं

एक घटना घटी। काका कालेलकर कार्सियांग आए हुए थे जहाँ कामिल बुल्के की अध्यक्षता में एक बड़ी सभा आयोजित हुई। वहाँ काका कालेलकर ने बुल्के का भाषण सुना और बेहद प्रभावित हुए। काका कालेलकर ने कहा कि बुल्के अब हमलोगों में से एक हैं। इस बात ने कामिल बुल्के को हिन्दी सीखने के लिए और बेहद उत्साहित किया और वे हिन्दी का उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित हुए। इसी उद्देश्य से उन्होंने 1940 में उत्तर भारत स्थित विभिन्न विश्वविद्यालयों का दौरा किया।

उन्होंने बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. धीरेन्द्र वर्मा को पत्र लिखा कि वे हिन्दी में एम. ए. करना चाहते हैं। किन्तु, उधर से कोई उत्तर न पाने पर कामिल बुल्के ने कोलकाता विश्वद्यालय से स्वतन्त्र छात्र के रूप में संस्कृत विषय के साथ बी.ए. की परीक्षा पास की और उसके बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम. ए. में दाखिला के लिए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के पास पहुँचे। डॉ. वर्मा को विश्वास था कि कोई विदेशी हिन्दी में एम.ए. नहीं कर सकता। डॉ. वर्मा ने विनय पत्रिका के दो पद कामिल बुल्के को अनुवाद के लिए दिये और फिर इन पदों का अनुवाद देख वे दंग रह गए। कहना न होगा कि उन्हें एम. ए. में प्रवेश की अनुमति मिल गई थी।

डॉ. बुल्के शोध कार्य के सम्बन्ध में एक घटना का चर्चा करना उपयुक्त होगा। तब हिन्दी में किये जानेवाले शोधकार्य भी अँग्रेजी में लिखे जाते थे। किन्तु, उनके विशेष आग्रह पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ. अमरनाथ झा ने विश्वविद्यालय नियमावली में संशोधन कराया और उन्हें हिन्दी में शोध कार्य करने की अनुमति दी। इस तरह रामकथा– उत्पत्ति एवं विकास हिन्दी विषय का हिन्दी माध्यम से लिखा गया पहला शोध-प्रबन्ध बन गया और साथ ही उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में हिन्दी और आधुनिक भारतीय भाषाओं में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने की अनुमति दी जाने लगी अर्थात् भारतीय भाषाओं के स्वाभिमान की एक नई परम्परा का आरम्भ हो चुका था जिसका श्रेय पादर कामिल बुल्के को जाता था।

इसके बाद 1950 में वे संत जेवियर कॉलेज, रांची के हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष नियुक्त किये गये। जहाँ वे आजीवन रहे। बस मृत्यु के कुछ महीने पूर्व वे दिल्ली इलाज के लिए गये थे। प्रेमचंद-युग के प्रसिद्ध व्यंग्यकार एवं कथाकार राधाकृष्ण उनके अभिन्न मित्र थे। दोनों हर शुक्रवार को मिला करते थे। एक बार वे उनके घर गये। उन्होंने उनकी बेटी से उनका नाम पूछा। बिटिया ने अपना नाम रीता बताया। तब बुल्के ने बताया कि रीता का अर्थ तो खाली यानी रिक्त होता है तुम अपना नाम ऋता लिखो तब से रीता ने अपना नाम ऋता लिखना आरम्भ किया। इसी तरह वे बहुत ही छोटी-छोटी बातों का ध्यान रखते थे और वातावरण में हिन्दी और भारतीयता की भीनी महक चुपके से बिखेर देते थे।

डॉ. कामिल बुल्के द्वारा लिखित अँग्रेजी हिन्दी कोश आज भी मील का पत्थर है और कई कोशों के मुकाबले आज तक आधुनिक एवं प्रासंगिक बना हुआ है। इसके अलावा उन्होने ढेर सारे अनुवाद कार्य भी किये।

लेकिन उसकी शहादत बेकार नहीं जाती। उसके समुदाय के लोगों में नयी चेतना जगती है और उसकी मृत्यु के दो-तीन साल बाद उस गाँव के बँधुआ मजदूरों का आन्दोलन तेज हो जाता है। बड़े किसानों, सामन्तों, जमींदारों को उनकी माँग माननी पड़ती है। साधारण-सी लगने वाली इस घटना कथा ने मेरे मन में गहरा असर छोड़ा। मुझ में नया विश्वास पैदा किया। मैंने सोचा, एक अनपढ़ आदमी 'कुछ कर सकता है तो मैं पढ़-लिखकर क्यों नहीं?' अगले दिन से मैं हताशा, निराशा, आत्महत्या के विचार त्याग कर नये सिरे से जीवन को समेटने में लग गया। तब नये दोस्त बने, नये लोग जुड़े, नयी जीवन-दृष्टि मिली और मैं भी खुद को अनेक लोगों से जोड़ सका। अनेक बाधाओं एवं विपरीत स्थितियों के बाद बहुत कुछ कर सका। परिणामतः कुछ-कुछ सफलताएँ मिलती चली गयीं, जिसमें पदोन्नति भी एक है।

सन् 2008 में भुवनेश्वर में एक आयोजन में पुस्तकों के सम्बन्ध में, इन जीवनदायी अनुभवों के बारे में कहते मैंने उक्त घटना की भी चर्चा की। बताया कि कैसे एक किताब ने मुझे जीने की नयी दिशा दी। मंच पर तब डॉ. शम्भुनाथ, बजरंग बिहारी तिवारी, श्रीधरम एवं जेएनयू के प्रोफेसर चमनलाल थे। भाषणों के बाद उनसे फोन नम्बर आदि का आदान-प्रदान हुआ। करीब दस-बारह दिन बाद श्रीधरम जी का फोन आया। औपचारिक हाल-चाल पूछने के बाद उन्होंने कहा– 'लीजिये, बात कीजिये।' दूसरी तरफ से आवाज आयी– 'अरे! आपने तो मेरा पुस्तक लिखना सार्थक कर दिया।' यह 'रामशरण जोशी जी' थे 'आदमी बैल और सपने' के लेखक। मैं क्या कहता? यह तो उनकी किताब थी कि जिसने मुझे जीने का नया ढंग सिखा दिया था। जीने का नया मकसद दे दिया था। यही कारण है कि 1997 से छत्तीसगढ़ छोड़ने के बाद बंगाल, उड़ीसा और आज आसाम, गुवाहाटी में हूँ। आसाम के बाहर के मित्र, मेरे गुवाहाटी में होने को दया की दृष्टि से देखते हैं, सहानुभूति जताते हैं। तब मैं बस मुस्कराकर रह जाता हूँ। मुझे 'आदमी बैल और सपने' के बँधुआ मजदूरों का संघर्ष याद आता है और विपरीत परिस्थितियों के बावजूद निराशा से जूझने की शक्ति मिल जाती है, ऊर्जा मिल जाती है। जीने का एक सकारात्मक उद्देश्य भी। कौन-सी किताब किसको, कितना, कैसे और किस सीमा तक प्रेरित करेगी यह कहना मुश्किल है, लेकिन यह सच है किताबें आदमी को काफी हद तक बदल देती हैं।

अभिनव कदम-19 में प्रकाशित

डॉ. बासुदेव बेसरा, जिससे कमलेश्वर भी प्रभावित थे

'गंगा' जुलाई-1987 के अंक में में प्रकाशित 'बासुदेव बेसरा' के एक लेख 'संताली भाषा और साहित्य की त्रासदी' को पढ़कर उन्हें पत्र लिखा। उधर से जबाव आया कि –'उनके लेखों की सराहना करनेवाला मैं पहला व्यक्ति हूँ। साथ ही उन्होंने यह भी

बताया कि आठ साल से वे लगातार लिख रहे हैं लेकिन कोई उनके लेखन की तारीफ पहली बार कर रहा है, इसलिए वह पत्र दे रहा है, आगे वह किसी पत्र का उत्तर नहीं दे सकेगा। हाँ, उन्होंने ये जरूर लिखा कि– कभी दुमका आएँ तो जरूर मिलें।'

हिन्दी के प्रसिद्ध सम्पादक, साहित्यकार कमलेश्वर ने सारिका सम्पादन छोड़ने के बाद कुछ और पत्रिकाओं का सम्पादन किया था जिनमें '*गंगा*' नामक मासिक भी एक थी। इसी '*गंगा*' में बासुदेव बेसरा के कुछ लेख प्रकाशित हुए थे जिसके माध्यम से हम दोनों एकदूसरे से परिचित हो सके। बासुदेव बेसरा के कुछ लेख पटना से प्रकाशित जनशक्ति में भी मैंने 1986 में पढ़ा था। लेकिन वे लगातार आठ साल से जनशक्ति में ही लिख रहे हैं। यह जानना मेरे लिए आश्चर्यजनक था। अब ऐसा लगता है बासुदेव बेसरा किसी अखबार के लिए लगातार आठ साल लिखनेवाले पहले आदिवासी लेखक, पत्रकार हैं। वे जनशक्ति में लगातार संथाल परगना, संथाली भाषा, साहित्य, संस्कृति, इतिहास के बारे लिखते रहे। लेकिन वे हिन्दी के अलावा मातृभाषा संथाली में भी लगातार लिखते थे। वे संथाली भाषा, संस्कृति के गहन अध्येता थे। चूँकि पेशे से वे वकील थे अत: स्वाभाविक था कि वे आदिवासी और संथाल समाज से सम्बन्धित नियम कानूनों के वे अच्छे जानकारभी थे। इसीलिए उन्होंने जनहित में संथाल परगना काश्तकारी अधिनियम का संताली में अनुवाद किया था।

युवाओं से उन्हें खास लगाव था। दुमका कोर्ट में प्राय: वे छात्रों से घिरे मिलते थे। जब पहली बार उनसे दुमका मिलने गया तो कचहरी में बासुदेव बेसरा के बारे एक आदमी से पूछा कि– बासुदेव बेसरा जी किधर मिलेंगे? तो उस व्यक्ति ने बताया कि इधर चले जाइए और जो आदमी छात्र, नवजवानों से घिरा मिलेगा वही बेसरा जी होंगे। मैं इस व्यक्ति द्वारा बताए दिशा की ओर चल पड़ा और जैसाकि उस व्यक्ति ने बताया था मैं छात्र, नवजवानों से घिरे व्यक्ति के पास खड़ा हो गया और बेझिझक अपना परिचय दिया। बेसरा जी परिचय पाते ही खड़े हो गए और छात्र। नवजवानों से कहा – 'अरे, मेरा दोस्त आ गया, अब कल मिलेंगे।' कहते वे मुझे अपने घर ले गए। वहाँ ढेर सारी बाते हुयीं। तभी पता चला वे पीएच.डी के लिए शोध कार्य भी कर रहे हैं। उनसे संथाली साहित्य के बारे काफी जानकारी मिली। यह भी जानकारी मिली कि उनका कोई मित्र सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की प्रसिद्ध कविता 'कुआनो नदी' का संथाली में अनुवाद कर चुका है। किसी आदिवासी भाषा में इस तरह का अनुवाद कार्य हो रहा है, यह जानना मेरे लिए उत्साहवर्द्धक था।

जैसा कि बासुदेव जी ने पहली बार कहा था उन्होंने फिर कभी पत्र नहीं लिखा। लेकिन 'आदिवासी साहित्य का विकास कैसे हो' इस परिचर्चा के लिए उन्होंने अपने विचार जरूर भेजें। तब उक्त परिचर्चा में कर्मेन्दु शिशिर एवं कथाकार संजीव के साथ उनके विचार प्रभात खबर में दिसंबर 1991 मे प्रकाशित हुए थे। बासुदेव जी हिन्दी, संथाली के अलावा अँग्रेजी में भी लिखते थे। झारखंड आन्दोलन के बारे उनके कुछ लेख 'हिन्दुस्तान टाइम्स' एवं 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में अँग्रेजी में भी प्रकाशित हुए।

'जादोपेटिया पेटिंग' के बारे 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित उनका लेख इस बात का प्रमाण है कि संथाल समाज के बारे उनकी समझ कितनी गहरी है। जादोपेटिया पेंटिंग के बारे पढ़कर संथाल समुदाय की आध्यात्मिकता, सौन्दर्य बोध एवं नैतिक शिक्षा को समझने में सहायता मिलती है। इससे संथाल समाज के मिथक कथाओं के बारे भी जानकारी मिलती है। कमलेश्वर ने जब विश्व साहित्य के इतिहास पर काम किया था तो उन्होंने संताली साहित्य के बारे बासुदेव बेसरा जी से पत्राचार किया था। कमलेश्वर के सम्पादकीय दृष्टि ने बासुदेव जी में छिपी सम्भावनाओं को परख लिया था जिसका परिणाम था कि उन्होंने संताली लिपि व साहित्य पर तथा झारखंड आन्दोलन के बारे 'गंगा' में लिखने का मौका दिया। द्वितीय महायुद्ध के आस पास संताली में यूरोप यात्रा के एक संस्मरण का उन्होंने 'दुमका दर्पण' के लिए हिन्दी अनुवाद किया था, जिसे उन्होने संताली भाषा में लिखा पहला रिपोर्ताज बताया। संताली भाषा साहित्य के विकास हेतु कविताएँ, निबन्ध तो लिखे ही, साथ ही उन्होंने संताली में बाल-गीत के महत्व की भी चर्चा की।

उनसे जब भी मुलाकात होती वे अपनी पुस्तक, पैम्पलेट, या बुकलेट आदि जरूर देते। दूरी के बावजूद बीच बीच में उनसे फोन पर बातें होती रहती थी। एक दिन फोन लगाया, जवाब नहीं मिला। फिर दो दिन बाद फोन किया। उनके किसी मित्र ने पूछा – 'आप कौन?' मैंने परिचय दिया और कहा–'बासुदेव जी से बात कराइए।' उन्होंने कहा –'उनसे बात नहीं हो सकती'। 'क्यों?' पूछा मैंने। उत्तर मिला 'वे नहीं रहे, दो दिन पहले ही....।'

हैरॉल्ड तोपनो के बाद एक और रचनाकार मित्र मुझे अकेला छोड़कर चला गया...

परिचर्चा

आदिवासी साहित्य का विकास कैसे हो?

संकट तीन स्तरों पर है – संजीव

आदिवासी साहित्य के विकास के साथ, मुझे लगता है संकट तीन स्तरों पर है। पहला उच्चमान के आदिवासी साहित्य का सृजन एवं पुराने साहित्य या लोक-साहित्य का आकलन। दूसरा सरकार एवं समाजसेवी तथा राजनीतिक संगठनों द्वारा ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन, उनका प्रकाशन एवं प्रचार, तीसरा समाज में इतर श्रेष्ठ साहित्य के साथ-साथ इस साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न कराना, जिनमें सर्वप्रथम तो सबको साक्षर बनाना भी शामिल है।

मामला सिर्फ उपेक्षा का ही नहीं, दृष्टिकोण और मंशा का भी है और एकांगी दृष्टिकोण या भ्रष्ट मंशा उपेक्षा से कम खतरनाक नहीं।

सृजन और संरक्षण के स्तर पर कुछ लोग ऐसे हैं कि उन्हें आदिवासी साहित्य के नाम पर कुछ भी श्रेष्ठ और प्रगतिशील लगता है। अब जबकि भूमि संघर्ष, नक्सलवादी श्रमिक आन्दोलन एवं आदिवासी क्षेत्र साहित्य के नये शिकारगाह के रूप में देखे जाने लगे हैं। कल तक प्रेम के त्रिकूट के कुछ आरोही भी अब आदिवासी के मसीहा-लेखक, नक्सलवाद के हिरावल-लेखक और भूमि संघर्ष तथा श्रमिक आन्दोलन के प्रवक्ता बने फिरते हैं। एक तो बिना उस जीवन में घुसे, सतह से मोती नहीं, बल्कि घोंघे ही चुने जा सकते हैं, दूसरे बिना इस सच्चाई को आन्दोलन व संवेदनशून्यता, समृद्धि के कंगूरे और निपीड़न के आँसू व अँधेरों और उजालों की तमाम जीवन स्थितियाँ, अलग-अलग नहीं, बल्कि अन्त:सम्बन्ध है, रचना में सम्पूर्णता नहीं आ सकती, इसीलिए जहाँ तक सृजन और संरक्षण का प्रश्न है, उसके लिए गहरा जुड़ाव और विश्लेषणवादी दृष्टि अपेक्षित है, यह तो आवश्यक है कि स्वयं आदिवासी समाज से ज्यादा-से-ज्यादा रचनाकार आयें, पर इसके साथ-साथ समर्थ और संवेदनशील रचनाकारों की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इसका सबसे ताजा उदाहरण अँग्रेजों का है, जिनका शोध आज भी महत्त्वपूर्ण है। खुद की मुकम्मिल पहचान के लिए अपनी नजर के साथ-साथ दूसरे की नजर भी चाहिए।

अगर सरकार सचमुच आदिवासियों के उत्थान के लिए कुछ करना चाहती है, तो उनके आर्थिक आधार के साथ-साथ उनके सांस्कृतिक आधार को भी पुख्ता करने के लिए उसे आगे आना चाहिए। कारण, बिना सांस्कृतिक आधार के, न आर्थिक आधार सुरक्षित रह पाता है, न शोषकों और अपने अन्दर के अँधेरों से उन्हें मुक्ति मिल सकती है। संस्कृति का मतलब सिर्फ नाच-गान और परम्पराएँ ही नहीं होतीं। संस्कृति वृहत्तर अर्थ में जीवन के संस्कार से सम्बन्धित है और संस्कार बोध से। बोध का सीधा सम्बन्ध

साहित्य से होता है। उनके नि:शुल्क या सस्ती कीमतों पर वितरण, उनके पाठ, मंचन, वीडियो फिल्म को सुलभ कराने के उपाय करना चाहिए। इसके लिए जरूरत हो तो अलग से बोर्ड गठित किया जाये, जिसकी समय-समय पर स्वयं आदिवासी समाज समीक्षा करे। आदिवासी जीवन सभ्यता के विकास के लुप्त हुए चिह्नों को खुद में समेटे हुए हैं।

साहित्य का विकास, समाज के विकास से जुड़ा है – कर्मेन्दु शिशिर

किसी भाषा का साहित्य उसके बोलने वालों का जातीय साहित्य होता है। उसका विकास उसके बोलने वाले लोगों के विकास से जुड़ा होता है। आदिवासी साहित्य विकास कर जाये और उसका समाज पिछड़ा रहे, ऐसा मुमकिन नहीं। जिन तरीकों से आदिवाासियों का एक तबका विकसित हुआ, उन तरीकों से उसके साहित्य का विकास होना सम्भव नहीं। वह तबका, जो आदिवासियों में विकसित हुआ, उसका रिश्ता अपनी भाषा और अपने समाज से कैसे रहा, यह जानना जरूरी है।

सवाल सिर्फ आदिवासी भाषा का है भी नहीं। संपूर्ण भारतीय भाषाओं में, जिसमें किंचित कई विश्व की अन्य विकसित और प्रतिष्ठित भाषाओं के समकक्ष हैं, वे भी अपेक्षित विकास को सम्भव नहीं कर पा रही हैं। सवाल यह है कि भारत की तमाम भाषाओं का विकास क्यों दबा हुआ है, रुका हुआ है, विचारणीय यह है। अँगरेजी के वर्चस्व ने यह विकट स्थिति पैदा कर दी है। अँगरेजी, शासकों की केन्द्रीय भाषा बन गयी है। उसके बोलने वाले दो प्रतिशत अभिजन समाज का तमाम निर्णायक ताकतों पर कब्जा है। सारी सहूलियतें उसी वर्ग और उसी भाषा को है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि तमाम भारतीय भाषाएँ अँगरेजी की जूठन के लिए आपस में लड़ती हैं। तब ये विकसित भाषाएँ भी हिंसक एकाधिकार को विवश होती है। ऐसे में किसी लोकभाषा, अविकसित भाषा या आदिवासी भाषाओं के विकास की गुंजाइश ही नहीं बचती। जब ये भाषाएँ ही विकास नहीं पा सकतीं, तो इनके साहित्य के विकसित होने की गुंजाइश तो कल्पना में भी सम्भव नहीं। सवाल मुख्य भाषायी साम्राज्यवाद के दबाव का है।

मेरा ख्याल है इसके लिए आदिवासी भाषाओं को दोहरी चुनौती निभानी पड़ेगी। पहली तो यह, आदिवासी साहित्य इन भाषाओं को बोलने के स्वप्न, संघर्ष और सोच की सच्ची अभिव्यक्ति करे। दूसरी बात यह कि अँगरेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध ताकतवर विरोध करे। स्वयं तो विरोध करे ही, तमाम दूसरी भारतीय भाषाओं के विरोध की सामूहिकता कायम करने में भी लगे।

आदिवासी साहित्य के विकास के लिए यह भी जरूरी है कि वह अपनी समझ और संवेदना को सही परिप्रेक्ष्य में विकसित करे। एक ओर प्रगति विरोधी परम्पराएँ हैं, तो दूसरी ओर अति आधुनिकता का विकृत प्रभाव। इन दोनों घातक प्रवृत्तियों से बचाकर वह जातीय संवेदना और समझ का विकास करे। यह तभी सम्भव होगा जब आदिवासी जीवन की गहरी समझ हो। जब उसके प्रति निर्दोष संवेदना हो और समय

के सच की परख हो। अगर आदिवासी साहित्य अपना विकास दूसरी भाषाओं के प्रभाव और अनुकरण में करना चाहता है, तो यह घातक होगा। हर भाषा का साहित्य अपनी ही परम्परा के बीच अपनी आधुनिकता को पाता है। यह बात दीगर है कि उसे रचने के लिए अन्य भाषाओं के साहित्य का ज्ञान बेहतर ही होगा। वह अँगरेजी, हिन्दी, बँगला, तमिल, मराठी या फ्रेंच भी जाने, उसका साहित्य भी पढ़े, मगर यह याद रखना होगा कि उसे रचना अपनी ही भाषा में गढ़नी है। अपनी भाषा पाती उसे बोलने वाला अपना समाज। उसे साहित्य लिखना है, उसी समाज का। उस लिखे पर अपना हक उसी की भाषा का हो, यह बिल्कुल केन्द्रीय बात है।

आदिवासी साहित्य विपरीत परिस्थितियों में लिखा जा रहा है – बासुदेव बेसरा

आदिवासी साहित्य के बारे में विचार करते समय हमें दो–तीन बातों पर विशेष रूप से विचार करना चाहिए। प्रथम, आदिवासी भाषाओं में जो कुछ लिखा जा रहा है, वह बिलकुल ही विपरीत परिस्थितियों में लिखा जा रहा है, द्वितीय, इन भाषाओं की अपनी–अपनी कुछ विशिष्ट समस्याएँ हैं एवं तृतीय 'आदिवासी साहित्य' के रूप में एक 'समन्वित' आन्दोलन अथवा चेतना का अभाव और सर्वोपरि वर्तमान बाजार व्यवस्था के अनुकूल परिस्थिति का अभाव, आदिवासी साहित्य अभाव के धुन्ध में लिपटा है।

सन्थाली भाषा आदिवासी भाषा समूह का एक प्रमुख घटक है। सन्थाली साहित्य में जितने कथाकार, कवि, गद्य लेखक हैं—वे साहित्य को अवकाश के क्षणों का इस्तेमाल के रूप में देखते हैं, गम्भीर लेखन का साहस नहीं कर पाते, क्योंकि केवल लेखन के सहारे जीना अभी सम्भव नहीं दिखता। परिणामस्वरूप, जीवन के जद्दोजहद में वह साहित्य को दोयम दर्जे का काम मानकर चलता है, इससे साहित्य के स्तर में उल्लेखनीय उन्नति नहीं दिखती। यह सही है कि मात्रा में वृद्धि हो जाती है। वस्तुतः आज तक किसी ने साहित्य को पेशा के रूप में अपनाने का साहस नहीं किया है। हमारे लेखक जीवन से जूझते हुए जो भी रचना दे पाते हैं, वह सराहनीय है, स्तुत्य है।

इसके साथ ही आदिवासी भाषा समूह के प्रत्येक भाषा के साहित्यकारों की अपनी विशिष्ट समस्याएँ भी हैं। सन्थाली भाषा चार लिपियों में लिखी जाती है। रोमन, देवनागरी, बँगला एवं ओल चिकी। इनमें आपस में भी साहित्य चर्चा तो हो जाती है, परन्तु एक–दूसरे की कृति से अनभिज्ञ रहते हैं। रही बात दूसरे भाषा इकाइयों जैसे मुंडारी, कुड़ूख, हो आदि की। उनके साथ इनका सम्पर्क नहीं के बराबर रहता है। इनका परिचय केवल व्यक्तिगत स्तर पर होता है, साहित्य के स्तर पर नहीं होता। यह एक विडम्बना है कि आदिवासी साहित्यकार एक–दूसरे से अपनी भाषा के इतर भाषा द्वारा सम्पर्क बनाते एवं निभाते हैं। इसका सीधा परिणाम समान साहित्य चेतना के अभाव में दिखता है।

लिपि के अलावा छपाई, पत्रिकाओं के प्रकाशन में जो अड़चनें हैं, उन्हें अनदेखा

नहीं किया जाना चाहिए। इन समस्याओं के कारण भी समर्थ साहित्यकार भी प्रकाश में नहीं आ पाते। और हम रचनाकार की शक्ति को जन-जन तक पहुँचाने में असमर्थ रह जाते हैं, फलतः साहित्य के विकास में प्रकारान्तर से अवनति का द्योतक मान बैठते हैं।

इसलिए आदिवासी भाषा समूह के सभी साहित्यकारों को एक-दूसरे से जीवन्त सम्पर्क में जोड़ने वाले प्रयासों को प्रोत्साहन देना आज समय की माँग है। एक दशक पहले राँची से 'जोहार' नामक पत्रिका ने इस दिशा में अच्छा प्रयास शुरू किया था, परन्तु 'जोहार' की अकाल मृत्यु से यह सद्प्रयास भी खटाई में पड़ गया।

इस बिन्दु पर आकर हम सरकार की आलोचना किये बगैर रह नहीं सकते, राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार ने भाषा संस्कृति के विकास के लिए वस्तुनिष्ठ प्रयास से हमेशा हाथ खींचा है, यह तथ्य आज प्रमाण नहीं माँगता। अन्य भाषा के क्षेत्र में राज्य सरकारों, भाषा अकादमियों ने जो भी भूमिका निभायी है। उस क्षेत्र में आदिवासी भाषा समूह हमेशा 'एकलव्य' की नियत का शिकार हुई है। राज्य सरकार एक बहुत बड़ी खरीददार है, जो राज्यों के ग्रामीण पुस्तकालयों को पुस्तकें उपलब्ध कराती है। आज तक किसी भी आदिवासी साहित्यकार की रचना पुस्तकालयों को नहीं दी गयी है। यह एक ज्वलन्त तथ्य है। राज्य सरकार की नजर में आदिवासी भाषाएँ केवल लोककथाएँ ही उपलब्ध हैं। और ये लोककथाएँ भी तभी स्वीकार्य होती हैं जब हिन्दी अनुवाद के साथ हों। आदिवासी भाषाओं का साहित्य विशुद्ध आदिवासी भाषा में आदिवासी पाठकों तक, आदिवासी क्षेत्र के पुस्तकालयों को आज तक उपलब्ध नहीं कराया गया।

आधुनिक मुद्रण व्यवस्था के लिए सरकार को सचेष्ट रहना चाहिए। मुद्रण सामग्री को उपलब्ध कराने के सिवाय पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के बाजार को विस्तृत करने में भी राज्य सरकार की एक बड़ी भूमिका है, जिससे वह मुकर रही है। मैंने दो दर्जन से अधिक स्वतन्त्र प्रकाशकों की व्यथा-कथा सुनी है। उनका सार-तत्त्व एक ही है। हम चाहते हैं, परन्तु साधन के अभाव में नहीं कर पाते।

इस नियति को बदलना होगा। साहित्य के लिए जितना जरूरी लेखक है उतना जरूरी पाठक भी है और इन दोनों के आपसी सम्बन्ध को और घनिष्ठ, विस्तृत एवं स्थायी बनाने के लिए पूरे समाज को आगे आना होगा, तभी रचनाकार अपनी रचनाधर्मिता की पुष्पवृष्टि कर सकता है। अन्यथा वह कुंठित, हताश होकर कहीं दुबका रहेगा। अलेक्जेंडर पोप की कब्र की तरह।

प्रभात खबर, 29.12.1991

'सभ्यों के बीच आदिवासी' के विभिन्न लेखों को पढ़कर कुछ हद तक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक आदिवासी अपने बारे और आस-पास की दुनिया से संबंधित विभिन्न विषयों, मुद्दों, स्थितियों आदि के बारे क्या सोचता है, क्या महसूसता है, और उसे कैसे देखता है।

'सारिका' के एक स्तम्भ 'आस पास बिखरी कहानियाँ' में 'अटल बिहारी बाजपेयी' के प्रकाशित रचना 'सिस्टर टोपो' पर महादेव टोप्पो द्वारा प्रतिक्रिया स्वरूप लिखित एक पत्र को, तत्कालीन संपादक, 'कन्हैयालाल नंदन' ने 'आस पास बिखरी गलतियाँ' शीर्षक के अंतर्गत, पूरी रचना के रूप में नवंबर-1979 में प्रकाशित किया। लेकिन, पहला लेख 'धर्मयुग' में अगस्त-1981 में प्रकाशित। तब से छिटपुट लेखन जारी। बीच-बीच में लंबी चुप्पी भी।

अधिकांश लेखन– आदिवासी विषयों, मुद्दों, समस्याओं पर। भाषा, पत्रकारिता, खेल, तकनीक, कंप्यूटर, सिनेमा, साहित्य, कला, भोजन, इतिहास आदि जिस किसी विषय पर भी लिखा उसके केन्द्र में आदिवासी रहे। हालाँकि अधिकांश लेखों में वे आदिवासी आत्मसम्मान के बीज, फल और जड़ आदि खोजते दिखते हैं। लेकिन, उनके कई लेख जन-सरोकारों से सम्बन्धित हैं जो वृहत भारतीय समाज से सीधे जुड़े हैं। आदिवासी परिवेश के बारे सोचते हुए भी वे भारत या विश्व में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीक के क्षेत्र में हो रहे परिवर्तन पर बराबर नजर टिकाए रहते हैं और उनके प्रभाव, दुष्प्रभाव के प्रति सावधान भी करते हैं। बात चाहे साहित्य, पत्रकारिता, खेल, गृह-निर्माण, भोजन-परम्परा, कंप्यूटर, सिनेमा, कला की हो, वे इन विषयों पर भी अपनी निगाह जमाए रहते हैं और उसके सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव की ओर इशारा करते हैं और प्रश्न भी पूछते हैं। जैसे सन् 1991 में उन्होंने एक परिचर्चा में विद्वानों से पूछा– 'आदिवासी साहित्य का विकास कैसे हो ?' आज इस सवाल का उत्तर ढूँढ़ते अनेक लोग दिख रहे हैं। उन्होंने कुछ और सवाल भी पूछे जैसे– 'नैनो ट्रैक्टर कौन बनायेगा ?' आज कुछ वैज्ञानिक इस पर काम कर रहे हैं। 'आपका भोजन श्रेष्ठ! बाकी का.... ?' आज आदिवासी-भोजन पर सम्मान के साथ लोग बात करते हैं। आगे उन्होंने पूछा– 'अभी होर्डिंग में दिलीप तिर्की! भविष्य में... ?' आज खेल की दुनिया में उपेक्षित समुदायों और क्षेत्रों के लोग विभिन्न खेलों में शामिल हैं। उनके एक लेख 'बचेगा माँदर, बचेगी सुरीली आवाजें, बचेगी भाषा' ने आदिवासी बुद्धिजीवियों को भाषा, लोकगीत एवं लोकवाद्य-यंत्रों के बारे नये सिरे से विचार करने के लिए बाध्य कर दिया। ऐसे ही अनेक सवाल अपने छोटे, बड़े लेखों के माध्यम से पूछते हैं और पाठक के शांत मानसिक-पर्यावरण में हलचल मचाते हुए। एक संभावनाशील विचार, मुद्दा, समस्या या कार्य को नये दृष्टिकोण से सोचने और करने के लिए प्रेरित भी करते हैं।

₹ 250.00

अनुज्ञा बुक्स
दिल्ली-110032

9 789386 810311